आप इनको भी पढ़ें

पॉओलो फ्रेरे
उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र

मूनिस रज़ा
शिक्षा और विकास के सामाजिक आयाम

सिल्विया एश्टन-वॉरनर
अध्यापक

गैरेथ बी. मैथ्यूज़
बच्चों से बातचीत

बारबियाना स्कूल के बच्चे
अध्यापक के नाम पत्र

जॉर्ज डैनीसन
बच्चों का जीवन

नरिंदर सिंह
शिक्षा संस्कृति और लोकतंत्र

मरिया मांटेसरी
ग्रहणशील मन

बीट्रीस एवॉलास
गरीब बच्चों की शिक्षा

ग्रंथशिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड

शिक्षाशास्त्र के नए क्षितिज

आदिवासी समाज और शिक्षा

रामशरण जोशी

अनुवादक
अरुण प्रकाश

आदिवासी समाज और शिक्षा

रामशरण जोशी

अनुवादक
अरुण प्रकाश

ग्रंथ शिल्पी
नई दिल्ली 110002

ग्रंथ शिल्पी

© रामशरण जोशी

प्रथम हिंदी संस्करण : 1996

ISBN 81-86684-08-5

समर्पण

राम नारायण महाराज

को

जो उत्पीड़ितों एवं वंचितों के लिए

लड़े और मरे

श्यामबिहारी राय द्वारा ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, दरियागंज, नई दिल्ली 110002 के लिए प्रकाशित तथा डी.पी. ग्राफिक्स, उत्तम नगर, नई दिल्ली 110059 द्वारा लेजर सेट होकर विकास आफसेट, नवीन शाहदरा, दिल्ली 110032 में मुद्रित.

आभार

सम्मानीय मित्र डा. श्यामविहारी राय के प्रति जिनके सहयोग से पुस्तक के नए रूप का प्रकाशन संभव हो सका।

परममित्र श्री अरुण प्रकाश : जिन्होंने पुस्तक के प्रथम खंड का हिंदी में अनुवाद किया, प्रेमपूर्वक।

अनुक्रम

आमुख
xi

प्रस्तावना
xv

वंचितों की दुनिया का सफर
xxiii

खंड एक

एक : दूसरा भारत
3

दो : आदिवासियों की पीठ पर लदा उद्योग
12

तीन : कालाहांडी के अंधेरे खोखल में
35

चार : आंध्र के अंधेरे में जीता गाडू
55

पांच : हरिजनों की अंधेरी दुनिया
65

छह : कनाड़िया की त्रासदी
76

सात : तनाव से कसे भारत के गांव
83

आठ : काठ की राजनीति
89

x

नौ : गुलामी से गुलामी तक
94

खंड दो

दस : शिक्षा : मुक्ति की निरंतर प्रक्रिया
115

ग्यारह : दलित चेतना के लिए शिक्षा का प्रयोग
137

अनुक्रमणिका
177

हिंदी संस्करण का आमुख

दिल्ली से प्रकाशित एक प्रतिष्ठित हिंदी दैनिक के 26 जून, 1966 के अंक में एक आदिवासी बच्ची के शोषण से संबंधित एक समाचार था। समाचार के मुताबिक राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग ने एक आदिवासी बालिका के 'यौन शोषण' करने के मामले में गंभीर रुख अपनाया है। महाराष्ट्र की पुलिस इस मामले को दबाने में सक्रिय है। क्योंकि एक वरिष्ठ पुलिस अधिकारी के करीबी रिश्तेदार उक्त बालिका के यौन शोषण में लिप्त हैं। पहले उसे घरेलू नौकरानी के रूप में रखा, फिर उसका यौन शोषण भी किया गया।

आदिवासी शोषण से संबंधित समाचार प्रायः अखबारों में छपते रहते हैं। शोषण केवल यौन तक ही सीमित नहीं है, बल्कि आदिवासी समाज का 'बहु-आयामी शोषण' एक 'सहज-सुलभ समृद्ध वस्तु' के रूप में किया जा रहा है। उत्पीड़क एवं शोषक इस सचाई से भली-भांति परिचित हैं कि आदिवासी समाज में अभी तक आवश्यक 'प्रतिरोधात्मक क्षमता' का अभाव विद्यमान है। उत्तर-पूर्वांचल समाजों के आदिवासी अवश्य ही 'प्रतिरोधात्मक एवं आक्रामक शक्ति' से लैस हो चुके हैं। लेकिन, केंद्रीय, पश्चिम और दक्षिण भारत के आदिवासी समाज पर्याप्त मात्रा में इस शक्ति का विकास नहीं कर सके हैं। फलस्वरूप, स्वतंत्र भारत के आरंभिक वर्षों के शोषण के रूप आज भी बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र और दक्षिणी राज्यों में मौजूद हैं। इसकी पुष्टि समय-समय पर प्रकाशित खबरों के अलावा सरकारी दस्तावेजों से भी की जा सकती है।

1971 के आरंभ में आदिवासी समाज से मेरा पहला साक्षात्कार हुआ था। तब से लेकर अब तक इससे संपर्क बना हुआ है। निश्चित ही इन ढाई दशकों में काफी कुछ बदला है। आदिवासी क्षेत्रों में विकास के नाम पर ढेरों विकास योजनाएं पहुंची हैं, अरबों रुपया खर्च हुआ है, उद्योगीकरण हुआ है और सरकारी-गैर-सरकारी तंत्र का फैलाव हुआ है। यह सब इसलिए किया गया था कि आदिवासी समाज की 'कायाकल्प' हो जाएगी। उसका शोषण थमेगा। उसे 'वस्तु' के रूप में नहीं देखा जाएगा। उसकी भूमि, उसके वन, उसकी अस्मिता—सब कुछ सुरक्षित रहेंगे। उसके क्षेत्रों में स्थापित होने वाले उद्योगों में उसकी समान भागीदारी सुनिश्चित की जाएगी। पर ऐसा हुआ क्या ?

इसका स्पष्ट जवाब अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के आयुक्त की 29वीं रपट से मिल सकता है। तत्कालीन आयुक्त डा. ब्रह्मदेव शर्मा ने 1987-89 की अवधि की इस रपट में अपनी पीड़ा व्यक्त करते हुए लिखा है : "व्यवस्था को बनाए रखने की

चिंता और विकास की हड़बड़ी और उसकी चकाचौंध में गरीबों, खास तौर से अनुसूचित जातियों और जनजातियों के संरक्षण की जिम्मेदारी के अंधियारे गलियारे, अकसर भूला दिए जाते हैं। इतना ही नहीं, नीति, सिद्धांत और कानून के साए में पुरानी और नई दोनों ही व्यवस्थाओं के निहित स्वार्थों का साथ देने और उन पर घातक प्रहार करने तक में भी संकोच नहीं होता है। कहीं कहीं तो ऐसा लगता है, मानो कानून, संविधान, मानवीय अधिकार और राज्य के दायित्व का वजूद ही न हो।"

डा. शर्मा ने अपनी पीड़ा को केवल शब्दों में व्यक्त ही नहीं किया, बल्कि इसे कर्म में भी उतारा। आयुक्त पद से मुक्त होने के पश्चात डा. शर्मा आदिवासी क्षेत्रों में 'एक्टीविस्ट' बन गए। व्यवस्था के कारिंदों को उनका यह रोल असहनीय था। उन्होंने डा. शर्मा को 1992 में बस्तर मुख्यालय जगदलपुर की सड़कों पर 'नंगा' घुमाया। उनकी पिटाई की। उनका अपराध केवल इतना भर था कि वह आदिवासी समाज के हकों की लड़ाई लड़ रहे थे। वह उनकी जमीन की रक्षा कर रहे थे। वह आदिवासियों की प्राकृतिक संपदा के साथ शक्तिशाली समाज के निरंकुश प्रतिनिधियों द्वारा 'निरंतर बलात्कार' के खिलाफ संघर्ष कर रहे थे। वह शोषितों एवं उत्पीड़ितों को गोलबंद कर रहे थे। पर निहित स्वार्थी राजनीतिज्ञ, अफसर, ठेकेदार, उद्योगपति, दलाल और तमाम तरह के स्वार्थी तत्वों को डा. शर्मा का यह रूप मंजूर नहीं था। लिहाजा उन्हें इसका परिणाम भुगतना पड़ा।

वास्तव में आधुनिक समाज के नुमाइंदों को आदिवासी समाज की जागरूक अवस्था ही असहनीय है। जब जब जिस किसी व्यक्ति ने आदिवासियों को संगठित करने, उनमें जागरूकता पैदा करने और आक्रमण का जवाब आक्रमण से लौटाने के लिए उन्हें तैयार करने की कोशिश की, उसे कभी बर्दाश्त नहीं किया गया। छत्तीसगढ़ के श्रमिक नेता शंकर गुहा नियोगी की निर्मम हत्या इस बर्बर मानसिकता की ताजा मिसाल है। डा. शर्मा की घटना से एक बरस पहले 1991 में नियोगी की हत्या कर दी गई। उनका अपराध भी यही था कि उन्होंने छत्तीसगढ़ के आदिवासियों को 'बहु आयामी शोषण' के खिलाफ संगठित करने की कोशिश की थी। दूसरे शब्दों में नियोगी ने निहित स्वार्थी तत्वों की नारकीय व्यवस्था पर सीधा हमला किया था। ऐसे में उनके जीवन का अंत ही उनकी नियति हो सकती थी। दुर्ग, भिलाई और दल्लीराजहरा के कतिपय उद्योगपतियों और शराब-ठेकेदारों ने इस नियति को सच कर दिखाया। प्रस्तुत पुस्तक 1984 में अंग्रेजी में प्रकाशित हुई थी। तब यह उम्मीद थी कि आने वाले वर्षों में आदिवासी समाज के दारुण उत्पीड़न एवं शोषण की कथाएं नहीं दोहराई जाएंगी। अत्याचार, अतीत की कहानी बन जाएंगे। लेकिन, पिछले 12 वर्षों के अनुभवों ने इस 'सदिच्छा' को झुठला दिया। 1995 के वर्षांत में बस्तर जाने का अवसर मिला। जिले के औद्योगिक क्षेत्र बैलाडीला की भी यात्रा की। इस यात्रा का बहुत सुखद अनुभव नहीं रहा। 1976 की प्रदूषण की समस्या आज 1995 में भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। दंतेवाड़ा की नदी का पानी आज भी प्रदूषित है। भू-लूट और वन-कटाई आज भी जारी है। बाहरी ठेकेदारों की पकड़ उतनी ही मजबूत है।

एक परिवर्तन जरूर देखने को मिला। गीदम, दंतेवाड़ा, बचेली, किरंदूल जैसे कस्बाई स्थानों में टीवी एंटीना कुकुरमुत्ते की तरह उगे हुए थे। गैर-आदिवासी बाहरी दुकानदारों ने अपने यहां 'वीडियो शो' की व्यवस्था कर रखी थी। इसे एक तरह का चलता-फिरता लघु सिनेमाघर कहा जा सकता है। एक ओर साप्ताहिक हाटों में व्यापारी लोग वीडियो शो के आयोजन के माध्यम से आदिवासियों से जम कर कमाते हैं। दूसरी ओर उन्हें वस्तुओं के आदान-प्रदान से लूटते हैं। उपभोक्तावादी संस्कृति की फूहड़ नकल इन क्षेत्रों में तेजी से घुसपैठ करती दिखाई दी।

उदारीकरण की वजह से नई-नई आर्थिक गतिविधियों का विस्फोट दिखाई दिया। भीतरी क्षेत्रों में बाहरी लोगों की गहरी पकड़ मिली। बाहरी लोगों ने भीतरी क्षेत्रों में जिनी बसें चला कर आदिवासी समाज पर अपनी गिरफ्त और कड़ी कर दी है। यह भी सुनने को मिला कि बाहरी ठेकेदार आदिवासियों को सस्ते किस्म की बीयर पीने के लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं। उन्हें मजूरी की एवज में बीयर या अन्य कोई सस्ती देसी शराब की बोतल थमा दी जाती है। दूसरी ओर उन्हें इस बात के लिए मजबूर किया जाता है कि वे महुआ या चावल की शराब न बनाएं। यह सिलसिला कई सालों से चलता आ रहा है। संक्षेप में, बाहरी लोगों की हर चंद कोशिश रहती है कि आदिवासियों को 'शहरी उत्पादों के चक्रव्यूह' में हर प्रकार से फांस दिया जाए। यदि वे इसका विरोध करते हैं और चक्रव्यूह से निकलने का प्रयास करते हैं तो उन्हें कुचल दिया जाए। उनतीसवीं रपट से इसका साक्ष्य मिल सकता है।

पुस्तक में संकलित सामग्री आंकड़ों की दृष्टि से पुरानी हो सकती है। लेकिन, जहां तक 'वंचना की प्रक्रिया' का प्रश्न है, वह आज भी पुरानी नहीं हुई है (काश! ऐसा होता)। इसने पीड़ाजनक अनुभवों को हल्का करने के बजाए इन्हें और अधिक त्रासदीपूर्ण किया है। वजह साफ है, व्यवस्था के नियामकों ने उत्पीड़न एवं शोषण की आधुनिक प्रौद्योगिकी से लैस होकर अपना जाल फैलाना शुरू कर दिया है। इस जाल के घातक परिणामों के खिलाफ 29वीं रपट की चेतावनी सटीक व सामयिक है कि "आदिवासी इलाकों में सद्भावना का वातावरण तभी तैयार हो सकता है जब कि नई व्यवस्था और विकास की चपेट में आए जो लोग कराह रहे हैं, उनकी ओर पहले ध्यान दिया जाए। आगे बढ़ने की जल्दबाजी करने की बजाए पहले उनको अपनी व्यवस्था चलाने का जिम्मा दिया जाए और पूरे विकास में सहभागी बनाया जाए। हो सकता है कि इसमें बदलाव और विकास की गति थोड़ी मंद करनी पड़ जाए, कुछ समय के लिए हमें वहां रुक भी जाना पड़े। परंतु यह जरूरी है, वांछनीय भी है अन्यथा अगर सावधानी नहीं बरती गई तो आदिवासी इलाकों में उफनते असंतोष और भड़कते विद्रोह के सामने कहीं विकास का पहिया चरमरा कर पूरी तरह से बैठ ही न जाए।"

15 अगस्त, 1996

रामशरण जोशी

प्रस्तावना

रामशरण जोशी की पुस्तक की दुनिया बहुत बड़ी है। वे भारतीय समाज के दमित और पीड़ित हिस्से से हमारा साक्षात्कार करवाते हैं। कर्ज बहुत सारी पीड़ाओं का मूल है। देश के विभिन्न इलाकों में कर्ज की समस्या कितनी गंभीर है, उसके बारे में विभिन्न विद्वानों के हवाले से विस्तारपूर्वक बताया गया है। आंकड़ों की अपनी कहानी होती है। लेकिन, एक आदिवासी या हरिजन परिवार पर चढ़ा कर्ज कुछ रुपयों या हजारों का है, यह इस समस्या का सबसे महत्वपूर्ण पहलू है। वास्तव में शहरी स्तर से तुलना कर देखें तो आदिवासियों-हरिजनों पर चढ़ा कर्ज मामूली ही दिखेगा। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि मामूली कर्ज भी उनके जीवन को आतंक से भर देता है। जोशी के शब्दों में कहें तो आतंक का कारण वे हैं 'जो सत्ता के मद में धुत्त सूदखोर हैं और जिनके हितों की रक्षा और संवर्धन नकचढ़े नौकरशाह करते हैं।' कर्ज की भूमि पर ही शोषण के दूसरे कुकुरमुत्ते फूटते हैं। ऐसे दस मामलों में से नौ में कर्ज लेने वाले अपने जीवन के एकमात्र आधार जमीन से हाथ धो बैठते हैं। भूमिहीन होने का अर्थ अभावग्रस्त होना है। और आदिवासी समाज में इसका एक ही अर्थ होता है--मनुष्य को मनुष्यता के आधार से वंचित कर देना।

प्रस्तुत पुस्तक में यह दिखलाया गया है कि उद्योगीकरण ने कैसे भूमि से विस्थापित कर आदिवासी किसानों को भूमिहीन मजदूर या औद्योगिक सर्वहारा में बदल दिया था। आदिवासियों की भूमि कानूनी और गैरकानूनी दोनों तरीकों से हथियाई जाती है। आदिवासी समाज की स्वाभाविक लोक प्रवृत्ति बदल रही है। हाल तक जंगलों से घिरे इस क्षेत्र में प्रवासियों की बाढ़ ने गैर-पारंपरिक शहरी अपराधों जैसे, पूर्व-नियोजित हत्या, डकैती, जुआ, बलात्कार, मादक द्रव्यों की चोरबाजारी आदि की शुरुआत कर दी है। पहले यदि एक मुड़िया आदिवासी हत्या करता था तो स्वयं पुलिस के समक्ष आत्मसमर्पण कर हत्या की परिस्थिति से अवगत करा देता था। आज वह कानून का उल्लंघन कर अधिकारियों को चकमा देता है। ऐसे क्षेत्र में जहां महिलाओं के साथ छेड़छाड़ नहीं होती थी और स्त्रियां गरिमा से सिर उठाकर चलती थीं, आज प्रवासियों के कारण यौन उत्पीड़न, छेड़छाड़, बलात्कार, वेश्यावृत्ति आदि सर्वत्र दिखाई दे रहे हैं। समयसिद्ध मूल्यों भोलापन, ईमानदारी, स्पष्टता, उन्मुक्त हंसी और स्वस्थ मानवीय संबंधों को विकृत बनाकर और उसकी जगह आधुनिक दुर्गुणों और अश्लीलता को स्थापित कर एक समग्र, गौरव योग्य संस्कृति का अवमूल्यन कर दिया गया।

आदिवासी इलाकों में भूमि विस्थापन सबसे गंभीर समस्या है। पहले यह समस्या वहां घुस आए गैर-आदिवासियों के लालच और धोखाधड़ी के बल पर चलती थी। लेकिन,

आदिवासियों की भूमि को गैर-आदिवासियों को हस्तांतरण करने पर लगी कानूनी रोक (अपवादस्वरूप सक्षम पदाधिकारी की अनुमति से यह संभव है) से कुछ राहत मिली। लेकिन, हाल के वर्षों में अवैध हस्तांतरण का विकास परियोजना (यथा औद्योगिक खनन, सिंचाई आदि) के लिए भूमि अर्जन से देश के कुछ इलाकों में आदिवासी भूमि से वंचित होते गए। आखिर वे साधनहीन हो गए। प्रस्तुत पुस्तक में एक सर्वेक्षण उद्धृत किया गया है जिसके अनुसार गैर-आदिवासियों को अवैध तरीके से भूमि हस्तांतरित करने के चलते 80 से 90 प्रतिशत आदिवासी भूमिहीन बन गए। आदिवासी क्षेत्रों में सार्वजनिक उद्देश्यों के लिए भूमि अर्जित करने से पहले कुछ ज्वलंत सवालों से रूबरू होना चहिए। यह मान भी लें कि कोई परियोजना राष्ट्र के हित में है तब भी यह सवाल सामने होना चाहिए कि क्या उक्त इलाके के निवासियों के व्यापक हित में वह परियोजना है अथवा नहीं ? यह मुद्दा इसलिए प्रासंगिक है क्योंकि अकसर यह देखा गया है कि स्थानीय और सामुदायिक स्तर पर उक्त परियोजना की अच्छी या बुरी परिणतियों को अनदेखा कर दिया जाता है। दूसरा प्रमुख प्रश्न यह हमेशा होगा कि क्या नई परियोजना द्वारा विस्थापित लोगों के पुनर्वास की व्यावहारिकता के आर्थिक, सामाजिक, प्रशासनिक और राजनीतिक पहलुओं की जांच कर ली गई है ? हालांकि पुनर्वास नीति का कार्यान्वयन एक महत्वपूर्ण और संवेदनशील मुद्दा है। फिर भी इसकी ओर समुचित ध्यान नहीं दिया जाता। हर स्थिति में आदिवासी क्षेत्रों में भूमि अर्जन से पहले उपर्युक्त सभी मुद्दों पर सावधानी से विचार करना चाहिए। इसके बावजूद इन क्षेत्रों में भूमि अर्जन कम से कम हो तो सबसे अच्छा है।

हाल के वर्षों में बंधुआ मजदूरों पर काफी सामग्री प्रकाशित हुई है जबकि लेखकों-वक्ताओं की अपनी-अपनी पक्षधरता भी दीखती है। इतना ही नहीं, देश के बंधुआ मजदूरों की संख्या एक लाख से पचास लाख तक बताई जाती है। इस आंकड़े के विवाद में बिना फंसे भारतीय समाज का हर सचेतन सदस्य यह तो मानेगा ही कि बंधुआ मजदूरों का होना ही हमारे सामाजिक ढांचे पर एक दाग है। इसी दृष्टि से जोशी बंधुआ मजदूरों के बारे में सोचते हैं। उनका वृत्तांत मार्मिक और विश्लेषण तर्कसंगत है। वे कालाहांडी (उड़ीसा), मेडक (आंध्र प्रदेश), भोजपुर (बिहार) तथा रतलाम (मध्य प्रदेश) जिलों में आयोजित शिविरों में बंधुआ मजदूरों के चेहरों पर लिखे गरीबी, दमन, विस्थापन, लाचारी और व्यथा की इबारतों को पढ़ते हैं। लेकिन इसका चरम तो भवानीपटना में आयोजित शिविर में दीखता है जहां महिलाएं शिविर में भाग लेने अपनी झोपड़ियों से तभी बाहर आईं जब उनके नंगे तन को ढकने के लिए मोटे कपड़े की सस्ती साड़ियां बांटी गईं। उत्तर प्रदेश के पहाड़ी इलाके में कई पीढ़ियों से हरिजन दासों की तरह रहते आए हैं और बंधुआ होने की परिणति यह है कि उन्हें अपनी स्त्रियों को दिल्ली, मेरठ तथ अन्य शहरों के वेश्यालयों में भेजना पड़ता है। इस तरह की दमनकारी व्यवस्था का विस्तृत वृत्तांत अन्य पुस्तकों में भी उपलब्ध है। ऐसी दमनकारी सामाजिक व्यवस्था के शिकार मर्द तो होते ही हैं, लेकिन विशेषकर स्त्रियों को दमनकारी पुरुष की कामुकता का शिकार होना पड़ता है।

देश के बंधुआ मजदूरों में अधिकांश अनुसूचित जाति और जनजाति के हैं और इसके मूल में उनकी साधनहीनता है। बंधुआ मुक्ति कानून, जोत की सीमा का निर्धारण, जोत सीमा से अधिक जमीन का वितरण तथा अन्य प्रकार की जमीनों का कमजोर तबकों में वितरण एवं अन्य उपायों के बावजूद स्थिति में बहुत सुधार नहीं हुआ है। वास्तव में जहां भी कमजोर तबके के लोगों ने अपना अधिकार जताया है, भूस्वामियों ने हिंसक असहनशीलता का प्रदर्शन किया है। भोजपुर (बिहार) और रतलाम (मध्य प्रदेश) जिले में ऐसे कई उदाहरण देखे जा सकते हैं। इस तरह के कानून भंजकों के साथ 'उचित सलूक' करने के कई अनुकरणीय उदाहरण हैं जिसके चलते अच्छे असर की सूचनाएं मिली हैं। लेकिन स्पष्टतः हम ऐसे दौर में नहीं पहुंच पाए हैं जबकि संविधान प्रदत्त मौलिक अधिकारों को संवाद के तरीके से लागू किया जा सके। सामाजिक पर्यावरण पर गहरी नजर डालने से यह पता चलता है कि इसके घटकों में तीन कारक स्पष्टतः शामिल हैं। पहला है राजनीतिक रूप से निष्क्रिय ग्रामीण जनता जो उत्पादन की मशीन की धुरी है, लेकिन जो श्रम से ही जुड़ी है पर जिसमें कभी-कभार उभार के लक्षण दीख जाते हैं। दूसरा है आजादी के बाद उभरा गिद्ध दृष्टि वाला शहरी अभिजन जो नए अवसरों से सर्वाधिक लाभ उठाना जानता है। और तीसरा है कायरतापूर्ण ढंग से हाशिए पर बैठा विचारवान नपुंसक तबका जो बदलाव की अनैतिकता से डरा हुआ है। भविष्य की दिशा का अनुमान लगाना मुश्किल है। सोई ग्रामीण जनता में अचानक फूटा गुस्सा विनाशक हो सकता है। इसे संयमित और वैधानिक उद्देश्यों की प्राप्ति जैसे उपयोगी कार्यों में लगाने की जरूरत है। इसी तरह आत्मप्रशंसा में लिप्त शहरी अभिजन में आत्मविनाश का बीज मौजूद है। अगर यह कमजोर तीसरी शक्ति में भी अच्छे सुस्पष्ट भविष्य की आकांक्षा नहीं हो और वह कुछ अनुकरणीय सफलताएं अर्जित न कर सके तो परिणाम विनाशकारी होगा। हर हालत में मूलभूत अधिकारों को लागू करने के लिए कुछ उपाय करने की जरूरत है। उनमें से कुछ उपायों का सुझाव इस पुस्तक में दिया गया है। साथ ही समाज को अपने जीर्ण सामंती चरित्र छोड़ने तथा समय के उदार सामाजिक राजनीतिक सिद्धांतों को अपनाने के लिए तेजी से आगे बढ़ना होगा।

अनुसूचित जनजातियों और अनुसूचित जातियों के लिए नकली आंसू बहाने का फैशन भी चल पड़ा है। लेकिन, उपयुक्त अवसर आने पर अवधारणा और व्यवहार में भारी अंतर पाया जाता है। आश्चर्यजनक रूप से जोशी द्वारा चित्रित वर्तमान के दृश्यों में उनका सच्चा सरोकार दीखता है। सौभाग्यवश वे केवल सामाजिक विवरणों और अध्ययन तक अपने आपको सीमित नहीं करते। उनका खोजी मस्तिष्क बाहरी सहायता के साधन और तरीके नहीं ढूंढ़ता जिसकी बैसाखी पर कमजोर तबके के लोग लद जाएं। यह तो बहुत पहले से होता आया है। बल्कि वे उन्हें उनकी ऊंघती, दर्दनाक और मूक जिंदगी का एहसास कराना चाहते हैं जिस जड़ता के विरुद्ध वे उठ खड़े हो सकते हैं और उन्हें होना भी चाहिए। वे समस्या की तह तक पहुंच जाते हैं जब वे कहते हैं कि उत्पीड़ित जन वस्तुगत परिस्थितियों में बदलाव लाने के लिए अपनी आंतरिक शक्ति और श्रम के महत्व को समझने में विफल रहे हैं। कुछ

ही सही सोच के लोग इससे असहमत होंगे कि इसकी समग्र समझ उनमें क्रियाशीलता की क्षमता की संभावनाओं का द्वार खोल देगी।

लेखक का सबसे बड़ा योगदान है विवेचनात्मक चेतना जगाने के उद्देश्य से उनके द्वारा अभिकल्पित पद्धति जिसे उन्होंने नाम दिया है—'आओ शिकार करें, नया गांव बसाएं।' इस पुस्तक के द्वितीय खंड में शामिल इस अध्याय को पढ़कर उसे समझा जा सकता है। एक सुविचारित विवेचनात्मक अभ्यास एक शक्तिशाली औजार हो सकता है। यह असीम शक्ति को फूटने में सहायक हो सकता है। लेकिन, असंयमित शक्ति विनाशकारी साबित हो सकती है। यदि उसे उचित प्रकार से संयमित किया जाए तो वह अन्य सामाजिक प्रक्रियाओं में सहज ही घुल-मिल जा सकती है।

उत्पीड़ितों में विवेचनात्मक तथा विभेदात्मक चेतना उत्पन्न करना पहला कदम है। यह आवश्यक है कि अन्य कदमों के बारे में सहभागी स्वयं विचार करें। फिर भी जोशी जानबूझकर इस अभ्यास में शामिल सहभागियों पर ही यह सब छोड़ देते हैं। विवेचनात्मक चेतना के जागृत होते ही सहभागियों की सुप्त चेतना में नाटकीय ढंग से असर होता है। इससे शृंखलाबद्ध प्रक्रिया शुरू होती है। चेतना की अतल गहराइयों में विचार की हलचल शुरू हो जाती है। यह देखना आश्चर्यजनक है कि कैसे सुस्त, क्रियाहीन विचार प्रवाह संवेग मिलते ही गतिशील बन जाता है। तर्कों की शृंखला नई अवधारणाओं का वाहक बन जाती है। जैसे अधूरी नींद से जागा व्यक्ति आंखें मीचंता वास्तविक दुनिया को विस्फारित नेत्रों से देखता है, वैसे ही वे तर्क की नई रोशनी में नकली अंधकार को भेद डालते हैं। पुराने आंतरिक विश्वासों और रहस्यों, विशेषकर वे जो पीढ़ियों से चले आ रहे हैं, को फेंक देना पीड़ादायक है। एक बार एक पीड़ादायी मानसिक प्रक्रिया के जरिए इन विश्वासों की जंजीरों को तोड़ दिया जाए तो अटल कदम भी उठ पड़ते हैं। उजास ऐसे ही फैलता है। विचित्र बात है कि अलग-अलग स्थलों पर तर्कसंगत कदम अलग-अलग होते जाते हैं। पहला ज्ञानात्मक बोध है कि परिवेश के साथ सीधा और सहज संबंध स्थापित हो। यही बोध अपने आप में एक बड़ा मुक्ति बल बन जाता है। यह उन्हें अब तक सहज मानी जाने वाली भूमिका का पुनर्मूल्यांकन करने के योग्य बनाता है। संतुष्ट उदासीनता और आत्मसुधार के विचारों की जगह परिवेश में सुधार का विचार ले लेता है। सहभागियों का एक दल 'प्यार और स्नेह' के जरिए बदलाव लाने की सोचता है तो दूसरा दल 'वैज्ञानिक दृष्टि से युक्त जुझारू नेतृत्व' के जरिए बदलाव लाना चाहता है। एक शिविर में सहभागी इस नतीजे पर पहुंचे कि वर्ग सहयोग की नीति से काम नहीं चलेगा क्योंकि शोषक स्वेच्छा से उत्पादन के साधनों पर से अपना नियंत्रण नहीं हटाएंगे। उन्होंने साफ-साफ कहा कि उनके (शोषकों) के विरुद्ध बल का उपयोग किया जाना चाहिए। वहीं कुछ सहभागियों का विचार था कि अगर कोई जमींदार वंचितों के पक्ष में स्वेच्छा से उत्पादन के साधनों पर अपना हक छोड़ दे तो उसके विरुद्ध बल प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। यह उल्लेखनीय है कि बदलाव की प्रक्रिया में गरीबों का संगठन बने, इसका महत्व सहभागी समझते थे। अभ्यास के दूसरे चरण में सहभागी इस नतीजे पर पहुंचे

कि व्यक्तिगत स्वामित्व की जगह उत्पादन के साधनों का समाजीकरण होना चाहिए।

भले ही लेखक दो विकल्पों में किसी का पक्ष साफ-साफ नहीं लेता, लेकिन इसमें संदेह नहीं रहता कि उसकी सहानुभूति किसके साथ है। कई स्तरों से गुजरती हुई बात समाजीकरण तक आई लेकिन यहां तर्क अकाट्य है। फिर भी अन्य देशों के अनुभव यह बताते हैं कि समाजीकरण में भी सामंजस्य के बीज अंतर्निहित हैं। नियंत्रण के हटते ही उत्पादक शक्तियों और वितरण शक्तियों के बीच प्रतिक्रिया की शुरुआत हो सकती है जिसके फलस्वरूप एक दूसरे प्रकार का सामाजिक विभाजन, यानी उत्पादक नियंत्रक तथा उत्पादन वर्ग, हो सकता है। एक नियमन करने वाले अभिकरण की जरूरत तो है लेकिन, उसे आप में एक स्वायत्त शक्ति नहीं बन जाना चाहिए। इसके लिए सुरक्षात्मक उपाय यह सुझाया गया है कि बदलाव की प्रक्रिया में निरंतरता होनी चाहिए।

दो महत्वपूर्ण मुद्दे उठते हैं। एक तो उस भविष्य से जुड़ा है जो सहभागियों द्वारा संसाधनों के समाजीकरण को लक्ष्य चुने जाने और उसकी परिणति से संबद्ध है। दूसरा वर्तमान से संबंधित है जो समाजीकरण के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए रास्ते के चुनाव से जुड़ा है। भविष्य के बारे में अनुमान लगाना उतना त्रासद नहीं है जितना कि भयावह वर्तमान पर विचार करना। थोड़ा उस कारण से और कुछ इसलिए भी इसमें आकर्षक विचार-विमर्श के लिए असीमित संभावना है।

बावजूद इसके कि समाजीकरण या सामूहिकतावादी रास्ते पर चलने वाले कुछ समाजों में दो वर्ग हैं या कई वर्ग मौजूद हैं, सामाजिक आर्थिक व्यवस्था आमतौर पर स्तरीकृत नहीं की जा सकी है। उस व्यवस्था में और कमियां ढूंढ़ी जा सकती हैं और ऐसी आलोचनाओं में दम भी हो सकता है क्योंकि हर व्यवस्था में कमियां और सीमाएं होती हैं। फिर भी यदि भारतीय लोक प्रवृत्ति अपनी व्यापक दृष्टि में रखकर देखें तो लगेगा कि उत्पादन के साधनों के समाजीकरण से भारतीय समाज की अंतर्निहित शक्ति का जबरदस्त विस्फोट होगा जिससे सामाजिक आर्थिक मोर्चे पर जबरदस्त उछाल आएगा। वास्तव में इससे व्यक्तिगत और सामाजिक शक्तियों की ऊर्जा का उपयोग करते हुए जबरदस्त बदलाव का वाहक बन सकता है। व्यवस्था द्वारा शोषण को रोकने के लिए सुरक्षात्मक उपाय तैयार करते समय अन्य समाजों की मूल्यवान नसीहतों, भले ही वे अचूक न हों, को ध्यान में रखा जा सकता है। हमें उसे आकार देते हुए वर्ग और जाति दोनों को ध्यान में रखना होगा। चुनौती जटिल है लेकिन ऐसी उपलब्धि असंभव नहीं है। यदि लक्ष्य की आवश्यकता पर सहमति हो तो जरूरत सिर्फ इच्छा शक्ति की है। हमारे समय में ही इसकी संभावना और कठिनाइयां दोनों दीख रही हैं। आवश्यकता इस बात की है कि ज्ञानवान लोग भी इसे देखें।

हम वर्तमान की ओर लौटते हैं तो समस्या आती है सामाजिक बदलाव के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उपयुक्त राह को चुनने की। हमारे स्वाधीनता संग्राम का चरित्र, संविधान तथा उसके निदेशक सिद्धांतों, सब में यही है कि आम सहमति से ही संयमित बदलाव लाया जाए। इस मामले में संविधान की प्रस्तावना सबसे सुस्पष्ट है जिसमें कहा गया कि सभी

नागरिकों को न केवल सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक न्याय दिया जाएगा बल्कि उन्हें समान अवसर और महत्व भी प्रदान किया जाएगा। लेकिन संविधान बनाते समय भी कुछ लोगों ने यह चेतावनी दी थी कि सामाजिक-आर्थिक वास्तविकता को भूलकर राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को परवान न चढ़ाया जाए। इस बात पर विवाद हो सकता है कि इतिहास के किसी मोड़ पर कोई समाज खंडित मानसिकता का हो जाता है तो आदर्शवादी महत्वाकाक्षाएं कठोर वास्तविकताओं को अनदेखा कर आगे निकल जाती हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐतिहासिक परिवर्तनों के दौर में वास्तविकता और आदर्श के बीच उफान ज्यादा ही होता है। दरअसल यह उफान इतना होता है कि इसका बेसुरापन सामाजिक अर्थशास्त्र की गति को इतना तेज कर देता है कि तेज राजनीतिक महत्वाकांक्षा के संग चल सके। वैसे इसका स्वागत किया जाना चाहिए क्योंकि इसके जरिए हिंसक उथल-पुथल से बचा जा सकता है। हर स्थिति में सहन शक्ति की सीमा के बाहर जा रहे सामाजिक तनाव से बचा जाना चाहिए।

जोशी का अभिमत है कि ग्रामीण भारत के वर्ग जाति पर आधारित सत्ता के पारंपरिक ढांचे पर प्रगतिशील राजनीतिक दर्शन और आधुनिक प्रशानिक ढांचे को थोपने से विरूपण तो हुआ है लेकिन यथास्थितिवादी शक्तियों पर इसका मामूली असर हुआ है। परिणामस्वरूप, उनके ही अनुसार, वैमनस्यपूर्ण अंतर्विरोध उभरे हैं। कुछ लोग तो यहां तक कहते हैं कि इसके चलते असंगठित जनता संगठित अर्थव्यवस्था और राजनीति के हाशिए पर, शासक अभिजनों के निरंतर प्रयासों के चलते, चली गई है। लेकिन, आज के हिंसक प्रकरण उत्पीड़ितों तथा गुलामी झेलने वालों के मन में उठती आवाजों के ही परिणाम हैं। भारत के समग्र परिप्रेक्ष्य में ये टकराव के प्रकरण बहुत छोटे हैं। फिर भी गंभीर पर्यवेक्षकों को उनमें पीड़ा, गुस्सा और खून खराबा दिखलाई देता है। वर्ग और जाति सर्वहारा द्वारा विचारधारा के समावेशीकरण और आत्मसात करने से मौजूदा सामाजिक आर्थिक संरचना में तनाव रह सकता है।

आदर्श और यथार्थ में दुविधा की स्थिति और उनके बीच बढ़ता फासला एक भयानक उथल-पुथल को जन्म दे सकता है। विखंडन, बिखराव तथा पस्ती फैलाने वाली बड़ी शक्तियां जोर-शोर से अपने काम में लगी हुई हैं। वर्ग जाति के संपूर्ण लक्षणों के जुड़ जाने से यह प्रक्रिया और तेज हो सकती है। सौभाग्यवश इस पर चिंतन मनन करने के लिए हमारे पास काफी वक्त है। यह आशा करना संभव है कि इसके पहले अस्मिता और अधिकारों के लिए कोई बड़ा उभार उठे, परस्पर सामंजस्य और सहयोग का वातावरण बन सकता है। वास्तव में समाज के चेतन हिस्सों से अंधकार, पतनशीलता और यथास्थितिवाद की जकड़न से मुक्त भविष्य की ओर बढ़ने के लिए नेतृत्व देने की उम्मीद करना बेमानी नहीं है। दूसरे शब्दों में कहें तो आशावान होना संभव है। लेकिन, आशावादी बने रहने के लिए हमें कार्य भी करना होगा। सत्ता के ढांचे में बदलाव के लिए इसके घटकों की स्थिति में समायोजन जरूरी है। हमें समायोजन के महत्व को समझने और समायोजन की पीड़ा को सहने के लिए तैयार रहना चाहिए। यह समायोजन न केवल संबद्ध पक्षों, बल्कि पूरे राष्ट्र के लिए भी, पीड़ादायक होगा। इसके लिए गहरा आत्मनिरीक्षण आवश्यक होगा। साथ ही इसके लिए एक ऐतिहासिक

परिप्रेक्ष्य की भी जरूरत होगी।

सामान्य पाठकों और विशेषज्ञों, दोनों के लिए यह एक उत्तेजक पुस्तक है। यह नए क्षितिज खोलती है। उज्जवल भविष्य की कामना करने वालों द्वारा मनोनुकूल समाज बनाने के प्रयत्नों में यह पुस्तक भी योगदान कर सकती है। नया समाज बनाने की इस चुनौती का वरण किया ही जाना चाहिए।

डा. भूपिंदर सिंह
सलाहकार
योजना आयोग
नई दिल्ली

10 सितंबर, 1984

पारंपरिक मूल्य व्यवस्था बिखराव के कगार पर है। इसीलिए बस्तर के उस नारकीय इलाके की मेरी यात्रा अधनंगे पीड़ितों और वंचितों के दंडद्वीप की जीवन यात्रा हो गई।

आठवें दशक के आखिर में मैंने फिर राजस्थान, आंध्र प्रदेश, उड़ीसा, असम, बिहार, अरुणाचल और मध्य प्रदेश के आदिवासी इलाकों में गया। इन नए इलाकों में मुझे नए वंचित लोगों के इलाके दिखे। इन इलाकों में बंधुआ मजदूरों तथा गरीब ग्रामीणों के साथ शिविर आयोजित करने के दरम्यान इन द्वीपों के नए प्रकार भी मिले। हर द्वीप की अपनी अलग कहानी थी। इससे मेरे अनुभवों में एक नया आयाम जुड़ गया।

इन अनुभवों का निचोड़ यह है कि अनगिनत कहानियां अभी भी अनकही रह गई हैं और अनेक द्वीपों का संधान अभी होना है।

इस पुस्तक में संकलित लेख और शोधपत्र विभिन्न काल खंडों में, विशेषकर आपातकाल और जनता पार्टी के शासनकाल में लिखे गए थे। 1981-82 में इस पुस्तक का द्वितीय खंड लिखा गया था। इनमें से कुछ आलेख पहले ही इकानामिक एंड पालिटिकल वीकली, फ्रंटियर, लिंक, दिनमान, नेशनल लेबर बुलेटिन, प्वाइंट आफ व्यू, लोक प्रशासन, नवभारत टाइम्स तथा पैट्रियट जैसे अग्रणी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं।

मैं यह निस्संकोच स्वीकार करता हूं कि इस पुस्तक में दिए गए आंकड़े पुराने हैं जिसे अद्यतन किया जाना चाहिए था। आदिवासी समाज की समस्याओं के अध्ययन के लिए किसी क्रमिक या पारंपरिक पद्धति का सहारा नहीं लिया गया है। पेशे से एक खोजी पत्रकार और प्रतिबद्ध सामाजिक अनुसंधानकर्ता के रूप में मेरा विचार है कि मानवीय पीड़ा को महज आंकड़ों में नहीं बांधा जा सकता। इसलिए किसी शोधार्थी को सांख्यिकीय आंकड़े अपूर्ण लग सकते हैं, लेकिन पुस्तक में उठाए गए मुद्दे तब तक प्रासंगिक बने रहेंगे जब तक वंचना के ये दंडद्वीप मौजूद हैं और जब तक इनमें आमूल परिवर्तन नहीं आ जाता।

अंत में मैं डा. ब्रह्मदेव शर्मा के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूं जिन्होंने देश के आदिवासी इलाकों में जाने का अवसर प्रदान किया। मैं डा. भूपिंदर सिंह का भी आभारी हूं जो बेहिचक पुस्तक की प्रस्तावना लिखने को तैयार हो गए। प्रदीप बैजल, संजीव दुग्गल, डा. प्रयाग मेहता, किरीट दोषी, पी.एस. दूबे, विकास भट्ट, बनारसी देवी, चैन राम, देवी लाल, महावीर जैन, डा. नरेंद्र, पी. मजूमदार समेत उन आदिवासी और हरिजन मित्रों के प्रति आभार व्यक्त करता हूं जिन्होंने मेरे क्षेत्र-कार्य में योगदान दिया है।

22 सितंबर, 1984

रामशरण जोशी

खण्ड एक

'परिवर्तनकामी जन उस स्थिति को सह नहीं सकते जिसमें
कुछ के हाथों में अत्यधिक सत्ता
होने से बाकी लोगों का
अमानवीकरण हो जाता हो।'

--पाओलो फ्रेरे

एक

दूसरा भारत

'यह द्वीप मेरा था
सौगंध
मेरी मां साईकोरेक्स की
जिसे तुमने छीन लिया मुझसे।
जब पहली बार आये यहां
तुमने मुझे सहलाया
मन में जगह दी
दिया जल और सरस-फल।
तुमने सिखाया मुझे
महान प्रकाश-पुंज सूर्य को नाम देना
और बताया कैसे वह दिन-रात
डूबता-उगता है।

मैं तुम्हें प्यार कर बैठा
और मैंने बताईं तुम्हें द्वीप की खूबियां
नए-नए झरने, खारे पानी के गड्ढे
ऊसर और ऊपजाऊ भूमि,
हूं अभिशप्त आज मैं,
ऐसा करके।'
(शेक्सपीयर के नाटक 'टैंपेस्ट' में कैलिबन का कथन)

महान नाटककार शेक्सपीयर के पात्र कैलिबन ने अपने त्रासदीपूर्ण स्थिति का जो खाका खींचा है, वह इतना दूरदेश है कि आज भारत भर के आदिवासियों की विकट जिंदगी से हूबहू मेल खात है। आदिम समुदायों की स्थिति में कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं हुआ है। वे सदैव की तरह शोषित व वंचित हैं। आधुनिक सभ्यता तो इन सरल लोगों की लोक प्रवृत्तियों को महसूस करने में भी अक्षम रही है। इस मशीनी युग के नुमाइंदों ने आदिवासी क्षेत्रों में

घुसकर सब कुछ नष्ट कर दिया है। उनका संगीत, उनकी ध्वनियां, प्रकृति की लय और वह सब कुछ जो उनके जीवन के अनिवार्य हिस्से रहे हैं। लकदक कपड़ों में सजे लोगों के पहुंचने के बाद आदिवासियों में गरीबी, शोषण और मूल्यों का संघर्ष ही बढ़ा है। ये अधनंगे लोग परजीवियों के विरुद्ध संघर्ष तो करते रहे, लेकिन उन्हें कभी उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। देश के विभिन्न क्षेत्रों में आदिवासियों के शोषण के बारे में हुए अद्यतन सर्वेक्षणों से यही सच उभरता है।

कलकत्ता में भारतीय नृतत्व सर्वेक्षण संगठन द्वारा 'आदिवासी अर्थव्यवस्था' पर एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया था। वहां सर्वेक्षणों पर आधारित ऐसे अध्ययनों, जिसमें बहिरागतों द्वारा आदिवासियों के शोषण को उजागर किया गया था, ने संगोष्ठी में शामिल लोगों का ध्यान आकृष्ट किया था। इस संगोष्ठी में समाज विज्ञान के विभिन्न विषयों से जुड़े 70 सहभागियों ने हिस्सा लिया था। वहां आदिवासी की अर्थव्यवस्था पर करीब 90 परचे पढ़े गए थे। इन पंक्तियों के लेखक ने आदिवासी समाज पर उद्योगीकरण के प्रभाव पर एक परचा पढ़ा था। आदिवासियों की अर्थव्यवस्था इतनी विविधताओं से भरी है कि उन सबों को एक लेख में समोना मुश्किल है। लिहाजा आदिवासी जीवन में शोषण के प्रमुख रूपों कर्ज, बहिरागतों द्वारा उनकी भूमि को हड़पना, शोषण आदि पर ही विचार किया गया है।

प्रमुख नृतत्वशात्री वेरियर एल्विन के अनुसार कमजोर और बलिष्ठ समाजों के बीच का टकराव वस्तुतः उपनिवेशवादियों और आदिम मानव के बीच का संघर्ष होता है। उक्त संगोष्ठि में कुछ विद्वानों ने आदिवासियों और बहिरागतों के मौजूदा संबंध की तुलना उन संबंधों से की जो अंग्रेज शासकों के जमाने में हुआ करते थे।

उस जमाने की भारतीय अर्थव्यवस्था की तुलना ब्रिटिश पूंजी से नहीं की जा सकती क्योंकि तब ब्रिटिश पूंजी तो औद्योगिक पूंजीवाद के स्तर पर पहुंच चुकी थी और भारतीय अर्थव्यवस्था तो सुगठित तक नहीं थी। गैर-आदिवासियों की मजबूत अर्थव्यवस्था के मुकाबले आदिवासी अर्थव्यवस्था की स्थिति आज वैसी ही है। नतीजन ये दोनों बेमेल अर्थव्यवस्थाएं संगठित आर्थिक गतिविधियों के विस्तार व व्यापन जैसे मुद्राव्यवस्था, विपणन, बैंक प्रणाली, उद्योग स्थापन आदि के साथ कदम से कदम मिलाकर चल नहीं पातीं। इन आधुनिक आर्थिक गतिविधियों के कुछ ठीये आदिवासी क्षेत्रों में जरूर दीख जाते हैं। इन ठीयों से विकास की जगह आदिवासियों के पारंपरिक सामाजिक आर्थिक जीवन में असंतुलन ही पैदा हो रहा है।

सर्वेक्षणों से पता चलता है कि सूदखोरी और जमीन हथियाने का कौशल दोनों आदिवासियों के सबसे बड़े दुश्मन हैं। सूदखोर गैर-आदिवासी ही हैं। इन लोगों ने उनका ऐसा शोषण किया है कि आदिवासी अपनी कमर सीधी नहीं कर सकते। भारतीय रिजर्व बैंक के एक सर्वेक्षण पर आधारित एक परचे के अनुसार, कर्ज सबसे बड़ी समस्या है। इससे पता चलता है कि आदिवासी क्षेत्रों में सबसे गरीब परिवारों पर भी 500 रुपए का कर्ज तो है ही। इतना कर्ज ही उनकी कमर तोड़ने के लिए काफी है क्योंकि इनके पास संपत्ति इससे

भी कम है। ये तथ्य हमारा ध्यान इस ओर खींचते हैं कि औसत आदिवासी परिवार के पास जो संपत्ति है वह पूरे राज्य के प्रति परिवार औसत संपत्ति से कितना अधिक कम है। और यह भी कि आदिवासियों को कर्ज से मुक्ति दिलवाने के उपायों की सख्त जरूरत है। आदिवासी परिवारों की कमजोर आर्थिक स्थिति पर ऐसे परचे रोशनी डालते हैं। खेतिहर मजदूर, दस्तकार और गरीब किसान अपनी कमाई से पारिवारिक संपत्ति में कुछ भी नहीं जोड़ पाते। इसलिए यह जरूरी है कि विभिन्न वित्तीय एवं विकास संस्थाओं को अपनी सेवाओं का विस्तार इस तरह करना चाहिए ताकि उनकी आर्थिक स्थिति को ऊपर उठाया जा सके।

आदिवासियों में केरल राज्य के अट्टापाडी क्षेत्र में रहने वाले इरूला आदिवासियों के बीच कर्ज की समस्या बहुत गंभीर है। आदिवासियों के आर्थिक संगठन में मौजूद झोलों का लाभ उठाकर बहिरागतों ने उनका जमकर शोषण किया है। असहाय आदिवासी इन सूदखोरी से इतने आतंकित हैं कि वे सूदखोरों के नाम तक बताने को तैयार नहीं होते। 'इरूला आदिवासियों में कर्जखोरी' शीर्षक परचे में पी.आर.जी. माथुर चौंकाने वाले तथ्य सामने रखते हैं। इस परचे में आदिवासी परिवारों के कर्जों की हृदयद्रावक कहानियां थीं। एक शोधकर्ता परचा तैयार करने के क्रम में 50 परिवारों से मिले जिसमें 34 कर्ज के दुश्चक्र में फंसे थे। '1970-75 के बीच प्रति परिवार पर औसत कर्ज रु. 1015-88 था। 1970-74 में सकल बकाया कर्ज रु. 18,225 था जो 1975 में रु. 34,540 पर जा पहुंचा।'

लिए गए कर्जों के कारण अलग-अलग थे। 29.27 प्रतिशत कर्ज खेती के लिए, 42.41 प्रतिशत सामाजिक धार्मिक उत्सवों के तथा 28.32 प्रतिशत कर्ज घरेलू खपत के लिए लिया गया था। कर्ज लेने के कारणों पर ध्यान देने से स्पष्ट है कि आदिवासी अपनी आवश्यकता के अनुसार अर्जन नहीं कर पाते। कर्ज की रकम पर गौर करने से चौंकाने वाला तथ्य सामने आता है कि 50 प्रतिशत परिवारों द्वारा कर्ज में ली गई रकम रु. 15 से 500 तक ही थी। इससे यह स्पष्ट दीखता है कि मामूली घरेलू जरूरतों के लिए भी आदिवासी सूदखोरों और भूमि हड़पने वालों के चंगुल में फंस जाते हैं। गरीब किसान सबसे ज्यादा भुगतते हैं। जिन इरूला आदिवासियों के पास पांच एकड़ से अधिक जमीन है, वे भी कर्ज में बुरी तरह डूबे हैं। इस कर्ज के चलते काफी जमीन गैर-आदिवासियों के हाथों पहुंच गई। माथुर के परचे से ही जाहिर होता है कि आदिवासियों की जमीन कैसे गैर-आदिवासियों के हाथ में पहुंच जाती है। तरीका बहुत सीधा है। कर्ज में डूबा आदिवासी अपनी ज़मीन गैर-आदिवासी के हाथ रेहन रख देता है तथा इस प्रथा को स्थानीय लोक भाषा में 'कुताकपट्टम' कहा जाता है। इस प्रथा में जमीन को बहिरागत (बंडावासिकाल) के पास एक निश्चित अवधि के लिए, कर्ज के बदले, गिरवी रखना पड़ता है।

जमीन के किराए के रूप में यह कर्ज मिलता है। गिरवी रखने वाले आदिवासी को जमीन किराया एक वर्ष या जो भी अवधि तय हो, अग्रिम रूप में दिया जाता है। करार के मुताबिक उस अवधि के बाद आदिवासी को जमीन वापस मिल जाएगी। लेकिन व्यवहार में ऐसा होता नहीं। जमीन आदिवासी के पास कभी नहीं लौटती।

परचे में जमीन पूरी तौर पर हड़पने के कई दृष्टांत पेश किए गए हैं। एक घटना यह है : 'पुलिया ने अपने दो एकड़ धान के खेत को 50 रुपए प्रति वर्ष की दर से पुनेय्या गऊडन के यहां गिरवी रख दिया। उसके परिवार में पत्नी तथा 60 वर्षीय मां के अतिरिक्त दो सयानी बेटियां भी थीं। जमीन के हाथ से निकलते ही उसकी पत्नी और बेटियां गऊडन के यहां ही मजूरी करने पर मजबूर हो गईं। एक अन्य बूढ़े इरूला आदिवासी भूपन के अनुसार, पुलिया की पत्नी और बेटियों को बस दो रुपए रोज की दिहाड़ी मिलती है, वहीं पुलिया को तीन रुपया रोज। लेकिन अब पुलिया के पास जमीन पलटकर आएगी, इसकी कोई उम्मीद नहीं है।' जमीन हड़पने का दूसरा दृष्टांत देखिए : 'नानचन ने अपनी पांच एकड़ जमीन 1973 में 2,100 रुपए लेकर दो तमिल सूदखोरों के यहां गिरवी रख दी। एक दस्तावेज तैयार किया गया। इस दस्तावेज की शर्तों में से एक थी कि यदि पांच साल के बाद कर्ज लौटाया नहीं गया तो जमीन नानचन को वापस नहीं मिलेगी।' इस तरह सूदखोर ने हमेशा के लिए उस जमीन का उपयोग करने का अधिकार प्राप्त कर लिया।

केरल के आदिवासियों को खाने के लाले पड़े रहते हैं। जिंदा रहने या भूख के कारण मंडरा रही मौत से बचने के लिए नक्कूपती के ये इरूला आदिवासी मुख्यतः घरेलू जरूरतों और खेती के लिए आवश्यक चीजों को खरीदने के लिए कर्ज का उपयोग करते हैं। सहकारी समितियां इरूला आदिवासियों को सूदखोरों तथा जमीन हड़पने वालों के चंगुल से बचाने में असमर्थ रही हैं। माथुर के परचे में यह रहस्योद्घाटन भी हुआ कि 'कुछ इरूला तो सहकारी समितियों का कर्ज चुकाने के लिए अपनी जमीन सूदखोरों को सौंपने के लिए मजबूर हो गए।' इसका भी एक उदाहरण देखिए। 'मारूतन ने 1974 में एक सहकारी समिति से 300 रुपए का कर्ज लिया। उसे किसी ने समझा दिया कि यदि वह समय पर कर्ज नहीं चुका पाया तो उसका घर जब्त कर लिया जाएगा। उसने डर के मारे एक सूदखोर के पास अपनी तीन एकड़ जमीन तीन साल के लिए 300 रुपए में गिरवी रख दी। और इस तरह उसने सहकारी समिति का कर्ज चुका दिया।'

घर-घर में शोषण की कहानी वही है चाहे जगह, जिला या राज्य कोई भी हो। महाराष्ट्र के आदिवासियों का शोषण केरल के आदिवासियों से कम नहीं है। वहां भी शोषण का प्रमुख तरीका जमीन हड़पना ही है। एस.डी. कुलकर्णी ने इस समस्या के मूल को रेखांकित करते हुए कहा है : 'आदिवासियों के जमीन से बेदखल होने की शुरुआत तो सन् 1860 में शुरू हुई थी लेकिन आजादी के बाद इसमें तेजी आई।' उन्नीसवीं शताब्दी के छठे दशक में सड़क और रेलवे लाइन बनाने के लिए आदिवासी बहुल ठाणे, नासिक तथा धुले जिलों में जमीन से बेदखली की शुरुआत हुई। ठीक उसी तरह जैसे कैलिबन में शिक्षा और सभ्यता के नाम पर प्रोस्पेरो और मिरांडा कैलिबन द्वीप की शांति भंग कर देते हैं वैसे ही गैर-आदिवासी भूमि के स्वामी आदिम जनजातियों को चतुराई से बेदखल करते हुए इन जिलों में घुस गए। 'परिवहन सुविधाओं के विकास, शांति व्यवस्था के कायम होने और कृषि के वाणिज्यीकरण के बाद गैर-आदिवासी किसान आदिवासियों के रिहाइशी इलाकों में भी जम गए। ऐसा धुले जिले

की उपजाऊ तहसीलों शाहादा, तालोडा, नानदरबार, ठाणे जिले (मुंबई के निकट) के पालघर तथा दहानु तहसीलों में हुआ।'

जमीन की बेदखली की समस्या पर गठित एक समिति रिपोर्ट को उद्धृत करते हुए कुलकर्णी कहते हैं, 'सर्वोदय कार्यकर्ताओं द्वारा धुले जिले की शाहदा तहसील के 57 गांवों के सर्वेक्षण से पता चला कि लगभग 10,000 एकड़ जमीन गैर आदिवासियों को हस्तांतरित हुई थी। धुले जिला सहकारी बैंक ने गांवों का एक सर्वेक्षण किया और पाया कि लगभग 2,000 एकड़ जमीन से बेदखली हुई थी।' इस समिति का गठन महाराष्ट्र सर्वोदय मंडल ने 1972 में किया था। इस परचे से सिद्ध हो जाता है कि समाज के शक्तिशाली हितों ने राज्य सरकार द्वारा आदिवासियों की सुरक्षा के लिए समय-समय पर उठाए गए सुरक्षात्मक उपायों को बेकार कर दिया। शोषण की इस कथा के प्रमाण के रूप में वे आदिवासी क्षेत्र उप-योजना को उद्धृत करते हैं : 'अतीत में बनाई गई कानूनी बाधाओं के बावजूद सूदखोरों, व्यापारियों और अन्य शोषकों ने कानून के प्रावधानों को चकमा देने में सफलता प्राप्त कर ली। उन्होंने आदिवासियों के अज्ञान, कर्ज और सत्य एवं ईमानदारी में उनकी अकुंठ निष्ठा से लाभ उठाया। यह आश्चर्यजनक नहीं होगा यदि ऐसे निर्लज्ज शोषक तत्व फिर नए कानूनों के प्रशंसनीय उद्देश्यों का अपहरण करने में अपनी कुशलता का उपयोग न करें।

टी.बी. लाल ने अपने परचे में गुजरात के अधिकांश आदिवासियों के बीच फैली जबरदस्त गरीबी के बारे में बताया। गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद में अध्यापक लाल 'गरासिया आदिवासियों की अर्थव्यवस्था' शीर्षक वाले अपने परचे में गरासिया आदिवासियों के पिछड़ेपन, शोषण और धीमे विकास को चित्रित करते हैं। गरासिया आदिवासी अरावली पर्वतमाला के दक्षिणी पश्चिमी क्षेत्र में भी रहते हैं। गुजरात में साबरकांठा जिले के दांता, खेडब्रह्म और विजयनगर तालुका में वे रहते हैं। ये आदिवासी मूलतः किसान हैं और खेती से ही किसी तरह अपना निर्वाह करते हैं। जब भी किसी परिवार को पैसे की सख्त जरूरत पड़ती है, वे अपनी सख्त जरूरत के लिए एक या दो पशु बेच देते हैं। कहानी यहीं खत्म नहीं होती। बाज मौकों पर तो अपनी कुंवारी औरतों को भी बेच देते हैं। कभी इन्हें अवैध शराब बनाने के धंधे में भी घसीटा जाता है। वे गरीबी की ऐसी कठिन परिस्थितियों में जीते हैं और खेती की स्थिति इतनी खराब है कि वे रासायनिक खाद के उपयोग की बात सोच भी नहीं सकते। सच तो यही है कि उनकी अर्थव्यवस्था का स्तर जंगली लकड़ी और बांस पर आधारित कृषि तकनीक से अलग नहीं है। जीवन रसहीन है। प्रति व्यक्ति वार्षिक आय 153 रुपए से अधिक नहीं है।

खर्च करने की उनकी आदतों का अध्ययन करने से उनके बारे में बनाया गया आंकड़ों का महल एक झटके में ध्वस्त हो गया। एक परिवार औसत रूप से एक रुपया प्रति वर्ष शिक्षा पर खर्च करता है। उनका पिछड़ापन उनके ढहते घरों, फटे चिरे कपड़ों और इक्का-दुक्का घरेलू सामानों से झांकता रहता है। उनकी भयानक जीवन स्थितियों का वर्णन करते हुए लाल निष्कर्ष निकालते हैं कि उनके पिछड़ेपन का कारण निरक्षरता है जो पड़ोस में अंबाजी

जैसे शहर के होने के बावजूद घटी नहीं। एक विद्यालय 1954 में शुरू किया गया था जिसमें सिर्फ पांच मर्द पढ़ पाए। स्त्रियों के लिए लगी कक्षा में तो संख्या महज एक थी। बगैर स्कूल गए तीन लोग साक्षर पाए गए। महिलाओं में बस एक लड़की साक्षर निकली। अधिकांश परिवार कर्ज में आकंठ डूबे हैं। सर्वेक्षण में आए 51 परिवारों में 47 परिवारों पर 8,772 रुपए या प्रति परिवार 186.5 रुपए का कर्ज है। उसमें नकद कर्ज 60 रुपए तथा सामान के रूप में कर्ज 121.5 रुपए का है।' लेकिन कर्ज लेने का मूल कारण केरल के इरूला आदिवासियों से अलग नहीं है। 8,772 रुपए के कुल कर्ज में से सिर्फ 80 रुपए कर्ज उत्पादक कामों के लिए लिया गया था। बाकी पूरा कर्ज 'महज घरेलू जरूरतों को पूरा करने के लिए लिया गया था।' बहुप्रचारित समृद्धि की आहट भी इन आदिम जातियों तक नहीं पहुंची।

कौन उनकी ताजगी, मुसकानें और सुंदरता हर ले गए ? और वह सब कुछ भी ले गए जिनसे आदिवासी जीवन लयबद्ध रहता है। लाल ही इसका जवाब भी देते हैं : 'वैसे गरासिया अपने शोषण के बारे में चेतन हैं लेकिन प्रभावशाली सूदखोरों और नकचढ़े नौकरशाहों के विरुद्ध आवाज कौन उठाए ? सत्ता के मद में चूर सूदखोरों के हितों को स्थानीय नौकरशाही हमेशा संरक्षण देती है। और इसीलिए सूदखोर गरासिया लोगों की अर्थव्यवस्था पर अपना शिकंजा कसे रहते हैं।'

राजस्थान में भी स्थिति दयनीय है। भारतीय नृतत्व सर्वेक्षण संस्थान के उदयपुर केंद्र से जुड़े नृतत्वशास्त्री आर.एस. मान ने 'पश्चिम भारतीय आदिवासियों के आर्थिक जीवन' का गहन अध्ययन किया है। वे बताते हैं : वर्ली और सेहरिया आदिवासी आदिम तौर तरीकों से खेती किया करते हैं। दुबला, ढोल, कोली और काथोड़ी घरेलू गुलामों के रूप में काम करते हैं। उनका जीवन निर्वाह भी ठीक से नहीं हो पाता। सूदखारों और शराब के ठेकेदारों ने उनकी जमीनें हड़प ली हैं। एक प्रकार से दास प्रथा (या अर्ध दास प्रथा कह लें) ही विभिन्न रूपों में दीखती है। इस क्षेत्र के आदिवासी अपनी सारी जमीनें गंवा चुके हैं। और अब जमीनों के नए मालिक 'गैर-आदिवासी किसान ही दुबलाओं को दासों के रूप में रखते हैं। इस क्षेत्र में जैसे-जैसे गैर-आदिवासियों का सामाजिक जीवन उन्नत होता गया वैसे-वैसे आदिवासी की आर्थिक स्थिति गर्त में जाती गई।' इस इलाके में बंधुआ प्रथा को 'हाली' कहा जाता है। हालांकि हाल में 'कुछ हालियों को मुक्त किया गया है,' फिर भी यह घृणित प्रथा मौजूद है। यही हाल रबाड़ी, मरार और चारन आदिवासियों का है। मान ने यह भी निष्कर्ष निकाला है कि आदिवासियों को शोषण से बचाने के लिए बनाए गए कानूनों का उल्लंघन निहित स्वार्थों द्वारा मजे में होता रहता है। पुरानी आर्थिक तरीकों को जीवित रखने के हथकंडे ढूंढ़ लिए गए हैं। कुछ मामलों में लगता है कि परिवर्तन हुआ है लेकिन 'पुरानी प्रथा दूसरे रूपों में जीवित रहती है।' मान अधिकारियों और योजनाकारों को चेतावनी देते हुए कहते हैं : 'आदिवासी क्षेत्रों में फैली गरीबी और भुखमरी की समस्या का निदान किया जाना अभी बाकी है।'

शोषण सीर्फ मैदानी इलाकों तक ही सीमित नहीं है। यह असम के दुर्गम पहाड़ों में

भी पैठ गया है। भारतीय नृतत्व सर्वेक्षण संगठन के पूर्वोत्तर केंद्र शिलांग से संबद्ध आर. डी. पाठक ने असम के कार्बी आंगलोंग जिले में कर्ज के विभिन्न आयामों का अध्ययन किया है। भौगोलिक रूप से यह क्षेत्र पहाड़ और मैदानी इलाकों से युक्त है। यहां के आदिवासी घरेलू सामानों के लिए बाहरी व्यापारियों पर निर्भर करते हैं। ये बहिरागत व्यापार के अलावा सूदखोरी और ठेकेदारी में भी लिप्त हैं। सुदूर से सुदूर क्षेत्र भी इन बहिरागतों के चंगुल से बाहर नहीं हैं क्योंकि ये स्थानीय अर्थव्यवस्था के मर्म पर नियंत्रण रखते हैं। रोंगखोंग, सोचेविंग, हावड़ाघाट, बोकाजान, लुंबाजोंग, निलिप तथा आम्रिल सात आदिवासी विकास प्रखंडों में रहने वाले 273 आदिवासी परिवारों में 153 परिवार कर्ज में फंसे हैं और उन पर औसत कर्ज 275 रुपए है। इस क्षेत्र की विशेषता है कि यहां आदिवासी महाजन भी हैं। गैर-आदिवासी महाजन तो हैं ही। पाठक इस तरफ इशारा करते हैं, '63 प्रतिशत कर्ज आदिवासी महाजन, 31.60 प्रतिशत गैर आदिवासी तथा 5.4 प्रतिशत कर्ज सरकारी संस्थाओं द्वारा दिया गया है। इस तरह वहां के सबसे बड़े सूदखोर आदिवासी महाजन ही हैं।'

सूदखोरी और जमीन दखल के अलावा आदिवासी स्त्रियों का शोषण भी बढ़ा है। औद्योगिक गतिविधियों में वृद्धि के साथ औरत की खरीद बिक्री तथा वेश्यावृत्ति फूलने लगी है। चतुर बहिरागतों के जाल में भोली स्त्रियां आसानी से फंस जाती हैं। देहरादून स्थित ए.वी. कालेज में समाजशास्त्र विभाग के अध्यक्ष जी.एच. भट्ट ने 'बहुपति प्रथा वाले समाज में स्त्री की आर्थिक भूमिका' शीर्षक वाले अपने परचे में कहते हैं : 'नीची जातियां बाजगी तथा कोल्टा में स्त्रियों की खरीद बिक्री तथा वेश्यावृत्ति पिछले 50 वर्ष से बढ़ रही है। ऐसा जौनसार बावर के इलाके में है साथ ही पड़ोसी बहुपति वाले क्षेत्रों में भी ऐसा है। इस अनैतिक धंधे के दो पहलू हैं। पति या पिता स्त्री को भाई के यहां पहुंचाने के नाम पर वेश्याबाजार में पहुंचा देता है या सीधे अवैध वेश्यावृत्ति चलती रहती है।' लेकिन वेश्यावृत्ति के लिए गरीबी, आर्थिक कठिनाइयां, कर्ज, बेकारी, औरत की खराब जीवन स्थिति तथा ऊंची जातियों द्वारा दमन एवं शोषण ही मुख्य कारण हैं।

बस्तर जिले के बैलाडिला लौह अयस्क परियोजन क्षेत्र में भी स्त्रियों के शोषण की कहानी वही है। लौह अयस्क क्षेत्र में अपने अध्ययन के क्रम में बिताए एक वर्ष में मुझे इस तरह के ढेर मामलों को जानने का अवसर मिला। 1971 में तत्कालीन जिलाधीश डा. ब्रह्मदेव शर्मा (भारतीय प्रशासनिक सेवा के सेवानिवृत्त अधिकारी, शिक्षाविद और अब प्रख्यात सामाजिक कार्यकर्ता) ने आदिवासी स्त्रियों की अस्मिता और शालीनता को सामाजिक स्वीकृति दिलाने के लिए अभूतपूर्व क्रांतिकारी कदम उठाया था। परिणामस्वरूप सौ से भी अधिक आदिवासी लड़कियों की शादी गैर-आदिवासियों से हुई और इस संबंध को सामाजिक स्वीकृति मिली। आधुनिक जीवन शैली से आकृष्ट होकर घरों में नौकरानियों का काम करने लगती हैं। कुछ समय बाद वे गृहस्वामी की रखैल बन जाती हैं। कुछ महीनों या वर्षों के बाद जब उनकी गोद में एक या दो बच्चे होते हैं तब उन्हें निकाल बाहर किया जाता है।

अपने बस्तर प्रवास के दिनों में मैंने देखा कि कैसे बहिरागत आदिवासियों को लूटते

हैं। उनका शोषण हर संभव तरीके से किया गया है। आदिवासियों की ज़मीन का बड़ा हिस्सा मारवाड़ियों, राजपूतों, पंजाबियों तथा दूसरे प्रदेशों से आए शोषकों ने दखल कर लिया है। सभी राजनीतिक दलों में अच्छी घुसपैठ और अधिकारियों के साथ सांठ-गांठ के बल पर वे अपने कारगुजारियों को इतने वर्षों तक ढके रखने में कामयाब रहे हैं। जमीन दखल और सूदखोरी करने के अलावा लकड़ी के व्यापार के जरिए भी शोषण करने में वे माहिर हैं। हाल में ही इसका भांडा फूटा कि कैसे पिछले 25 वर्षों में लकड़ी के गैर-आदिवासी व्यावारियों ने आदिवासियों के लाखों रुपए प्रति वर्ष लूटने में कामयाबी हालिस की। इससे स्पष्ट दीखता है कि आदिवासी क्षेत्रों में शोषक तत्वों का कैसा स्तरीकरण हो चुका है। नई मद्य नीति बनने के पहले देसी भट्ठी के ठेकेदार अपने लठैतों के जरिए आदिवासियों को मजबूर करते थे कि वे इन भट्ठियों में बनी देसी शराब पीएं। अलबत्ता नई मद्य नीति में निजी उपयोग के देशी शराब चुलाने की छूट आदिवासियों को दे दी गई। लेकिन पुराने कानून के जमाने में उन्हें मुकदमों में फंसाकर गिरफ्तार कर लिया जाता था। शराब खरीदने या पुराने कर्ज चुकाने के लिए आदिवासियों को मजबूर किया जाता था कि वे जमीन रेहन रखे और घरेलू सामानों को ठेकेदारों के हाथों गिरवी रख दें। जब गैर-आदिवासी निजी ठेकेदारों को शराब चुलाने की अनुमति मिली हुई थी तब सूदखोरी और जमीन हड़पने का धंधा बड़े पैमाने पर फल-फूल रहा था। मजेदार बात यह है कि इस बहती गंगा में हाथ धोने से सरकारी कर्मचारी भी बाज नहीं आए। बस्तर जिले के दक्षिणी तहसील दंतेवाड़ा में कर्ज मुक्ति अभियान के दौरान पता चला कि जन सेवा के लिए बहाल किया गया एक सरकारी डाक्टर सूदखोरी में लिप्त पाया गया।

वास्तव में, आदिवासियों की अपनी सरलता और अज्ञानता ही उनके लिए अभिशाप सिद्ध हुई है। गैर-आदिवासियों के चलते अपनी चल-अचल संपत्ति खोने के साथ-साथ आदिवासियों ने अपना नैतिक बल, साहस, विरोध और प्रत्याक्रमण की क्षमता खो दी है। अपने ही क्षेत्र में उन्हें व्यपारी, ठेकेदार और सरकारी कर्मचारी ओछी नजरों से देखते और मनुष्य से नीचे के स्तर का समझते हैं। मैं यह देखकर भौंचक रह गया कि जब एक बूढ़ी आदिवासी स्त्री डरते-डरते सरकारी बस में सीट पर बैठ रही थी तो गैर-आदिवासी यात्रियों ने उसे फर्श पर बैठने पर मजबूर कर दिया। एक स्थानीय आदिवासी विधायक भी उसी बस में यात्रा कर रहे थे। उनके चेहरे पर भी असहाय भाव दिख रहा था। मेरे हस्तक्षेप के बाद ही उस बूढ़ी महिला को सीट पर बैठने दिया गया। आदिवासी ठेकेदार, पुलिस और गैर-आदिवासियों के सामने नाक रगड़ने के लिए बाध्य किए जाते हैं। बस्तर जिले के ठेकेदार ट्रकों पर रात में माल लादने और उतारने के लिए आदिवासी लड़कियों को रखते हैं। जिधर और जब ट्रक जाए तो लड़कियां ट्रक पर ही रहती हैं। सुबह से शाम तक वे ट्रक पर बैठी राहगीरों के गंदे और अश्लील मजाकों को झेलती रहती हैं।

मैंने आदिवासियों के अंदर गैर-आदिवासियों के प्रति उफनती घृणा देखी है। जब एक मुड़िया या हलबा आदिवासी पीकर मस्त हो जाता है तब दबी भावनाएं जबान पर आ जाती

हैं। आदिवासियों के गांव में रहते हुए मैंने उन्हें ठेकेदारों, जमीन हड़पने वालों, व्यापारियों, पटवारियों और अन्य छोटे सरकारी कर्मचारियों के विरुद्ध बदले की भावना, घृणा और क्रोध से थरथराते देखा है। पहाड़ों और जंगलों में गैर-आदिवासियों की आमद से पहले उनका साबका दुःख और आंसू से नहीं पड़ा था। उनमें शहरी जीवन के लिए कोई आकर्षण नहीं था। उनकी दुनिया घने-हरे जंगलों और घाटियों से घिरे गांव तक सीमित थी। अब उनके जीवन का संगीत और रंग आधुनिक सभ्यता की बाढ़ में डूब गए हैं।

दो

आदिवासियों की पीठ पर लदा उद्योग

बस्तर के औद्योगिक क्षेत्र बैलाडीला के अनुभव

परिस्थितिजन्य अलगाव का अपना एक गतिविज्ञान होता है। स्वीकृत मुख्य धारा से अलगाव में जी रहे समाज की जीवन प्रक्रिया पर इसका बहुमुखी प्रभाव पड़ता है। एक तरफ तो यह उस समाज की मूल विशिष्टताओं को बचाए रखने में सहायक होती है, दूसरी तरफ वह व्यक्ति और उत्पादन के साधनों के बीच संबंध निर्धारण में निर्णायक भूमिका निभाने वाले नए उत्पादक वर्ग के विकास को कुंद करती है। नतीजतन एक पूर्व औद्योगिक समाज के आंतरिक एवं बाह्य जीवन के बीच विद्यमान सेतु के समक्ष अस्तित्व का संकट उपस्थित हो जाता है। ऐसा तब होता है जब इस सेतु का साबका एक जटिल, शक्तिशाली और चतुर समाज से पड़ता है। ऐसी स्थिति में पूर्व औद्योगिक समाज अपनी अस्मिता के धीमे कटाव की नियति को स्वीकार कर ले। यह एक रास्ता है। क्योंकि, उसे शक्तिशाली चतुर समाज निगल जाएगा। दूसरा रास्ता यह हो सकता है कि यह निर्मल समाज शक्तिशाली औद्योगिक समाज के निरंतर व संगठित हमलों से लगातार अपने को बचाए। इस प्रक्रिया की पृष्ठभूमि में बस्तर जिले की दंतेवाड़ा तहसील में इन आधारभूत परस्पर विरोधी प्रभावों के दृश्य को देखा जा सकता है।

भौगोलिक रूप से इस जिले के दो हिस्से हैं : उत्तरी बस्तर एवं दक्षिणी बस्तर। इस भौगोलिक विभाजन के कारण दोनों भागों के आदिवासियों के जीवन में भारी अंतर दीखता है।

आधुनिक सभ्यता के संपर्क में बहुत पहले आने के कारण दक्षिणी हिस्से की तुलना में उत्तरी बस्तर अधिक विकसित है। वर्षों तक गैर-आदिवासी किसानों के लिए बस्तर का प्रवेश द्वार रायपुर रहा है। इसीलिए रायपुर से निकटता के चलते उत्तरी बस्तर के कांकेर, नारायणपुर एवं भानुप्रतापपुर आधुनिकता का दबाव अरसे से झेल रहे हैं। आधुनिकता के कुछ द्वीपों के उदय ने बस्तर का जीवन व्यंजनात्मक बना दिया है।

दक्षिणी बस्तर में चार तहसील—जगदलपुर, दंतेवाड़ा, बीजापुर एवं कोंटा हैं। सामंती व्यवस्था की समाप्ति के पहले दक्षिणी बस्तर चारों तरफ से घिरा आदिवासी क्षेत्र था। बाहरी लोगों के लिए यह एक रहस्यमय द्वीप जैसा था। आधुनिक आर्थिक गतिविधियां जिला मुख्यालय

जगदलपुर तक सीमित थीं। इस आदिम समाज के लिए मौद्रिक अर्थव्यवस्था व्यावहारिक रूप से बेकार थी। यह केवल व्यापारियों, ठेकेदारों तथा सरकारी कर्मचारियों के काम की थीं। सीमित क्षेत्र में मौद्रिक अर्थव्यवस्था के प्रचलन के चलते आदिवासी अर्थव्यवस्था मुद्रा पर आधारित नहीं हो पाई। इसका परिणाम यह हुआ कि आदिवासी समाज की पारंपरिक उत्पादक शक्तियां उस मुकाम तक नहीं पहुंच पाईं जहां वे एक सरल, गैर वैमनस्यवादी आर्थिक व्यवस्था से रूपांतरित होकर एक जटिल, बहुआयामी नियंत्रणों वाली आर्थिक व्यवस्था बन जातीं। ऐसी जटिल आर्थिक व्यवस्था के प्रचलन में आते ही मुख्य उत्पादक वर्ग उत्पादन की मौजूदा भौतिक परिस्थितियों का पिछलग्गू बन जाता है। उसकी स्वतंत्र अस्मिता समाप्त हो जाती है।

दंतेवाड़ा की सामाजिक-भौगोलिक स्थिति

दंतेवाड़ा तहसील प्राकृतिक संसाधनों से समृद्ध है। बैलाडिला लौह अयस्क परिसर दंतेवाड़ा से 30 किलोमीटर और जगदलपुर से 110 किलोमीटर दूर है। गीदम प्रखंड के ऐतिहासिक गांव बारसुर में 100 करोड़ रुपए की लागत वाले बोधघाट जल विद्युत जलाशय का निर्माण इंद्रावती नदी पर होने जा रहा है।* इस पिछड़े क्षेत्र में इतनी बड़ी रकम के आने से आदिवासियों के सामाजिक-आर्थिक संरचना पर दूरगामी प्रभाव पड़ेगा।

वन क्षेत्र को छोड़कर दंतेवाड़ा 2,203 वर्ग किलोमिटर क्षेत्र में फैला है। इसकी सीमा तीन तहसीलों जगदलपुर, बीजापुर और कोंटा को छूती हैं। दंतेवाड़ा के इतने बड़े रिहाइशी क्षेत्र में महज 44 वर्ग किलोमीटर का शहरी क्षेत्र है। इस तहसील में चार प्रखंड हैं : दंतेवाड़ा, गीदम, कुआकोंडा और कटेकल्याण।

कुल आबादी 1,72,174 है जिसमें 75.52 प्रतिशत आदिवासी और 2 प्रतिशत अनुसूचित जाति के लोग हैं। बाकी आबादी सवर्ण हिंदुओं तथा अन्य लोगों की है। आदिवासियों में गोंड (मुखिया एवं मरिया), हलबा, भतरा, कवर, लोखा तथा उनकी शाखाओं के लोगों की आबादी है। कुल आबादी में विभिन्न पेशों में लगे लोगों के आंकड़े पृ. 14 पद दी गई तालिका में दिए गए हैं।

बैलाडीला जंगलों और पहाड़ों के बीच स्थित है। किरंडूल और बचेली क्षेत्र, जहां पूरा बैलाडीला लौह अयस्क परिसर स्थित है, तेजी से औद्योगिक नगर के रूप में उभर रहा है। यह पूरा परिसर सघन जंगलों तथा बैलाडीला पर्वतमाला से घिरा है।

बिहार और अन्य पूर्वी क्षेत्रों की तुलना में बेलाडीला परिसर में स्थिति कुछ और तरह

---

* इस परियोजना को लेकर व्यापक स्तर पर आम लोगों में विरोध हुआ। पर्यावरणवादियों, जनप्रतिनिधियों और बुद्धिजीवियों के दबाव के कारण राज्य सरकार को झुकना पड़ा। राजीव-शासन के दौरान इसका निर्माण अनिश्चित काल के लिए रोक दिया गया।

की है। रांची तथा जमशेदपुर इलाके में भारी उद्योगों के लगाए जाने से वहां के आदिवासी पिछले एक चौथाई दशक से नई शक्तियों के प्रभाव का अनुभव कर रहे हैं। इसी तरह करीब डेढ़ सदी पहले चाय व्यापारियों तथा धर्म प्रचारकों के क्रिया कलापों के चलते आदिवासियों के बीच सांस्कृतिक संक्रमण की प्रक्रिया शुरू हुई थी। फलस्वरूप इन इलाकों में एक हद

	पुरुष	स्त्री
किसान	40,101	14,009
खेतिहर मजदूर	3,972	2,866
सनन, जंगलात आदि में लगे मजदूी	5,038	3,029
घरेलू उद्योग में कार्यरत मजदूर	745	259
अन्य कामों में लगे मजदूर	1,554	405

तक विभेधन और प्रतिरोध की क्षमता आ गई है। पिछले सौ वर्षों के इतिहास में इस क्षमता की पराकाष्ठा को आदिवासी विद्रोह के विस्फोटों की शृंखला से देखी जा सकती है। दंतेवाड़ा क्षेत्र के आदिवासी अभी विभेदन एवं प्रतिरोध के स्तर तक नहीं आ पाए हैं। यही गुणात्मक अंतर उन्हें बिहार, पश्चिमी बंगाल तथा पूर्वी भारत के अन्य क्षेत्रों के आदिवासियों से अलग करता भी है।

आदिवासी श्रमिकों की वर्गीय पृष्ठभूमि

मूलतः किसान रहे आदिवासी जब अपनी जमीन से बेदखल होते हैं तो उन्हें गांव छोड़कर काम की तलाश में निकलना पड़ता है। वे विस्थापन के शिकार हो जाते हैं। इसीलिए उन्हें विस्थापित मजदूर (माइग्रेंट लेबर) कहा जा सकता है।

बैलाडीला परिवार के विस्थापित आदिवासी श्रमिकों को उत्तरी तथा दक्षिणी, दो प्रमुख समूहों में विभाजित किया जा सकता है। साथ ही उन्हें दो क्षेत्रों, संगठित और असंगठित, में देखा जा सकता है। संगठित क्षेत्र के मजदूर नेशनल मिरल डेवेलपमेंट कारपोरेशन (एन. एम.डी.सी.) द्वारा नियोजित हैं जबकि असंगठित क्षेत्र ठेकामजदूर हैं एवं उनके नियोजक हैं। लौह अयस्क में काम कर रहे तीन बड़े ठेकेदार* (पंजाबी तथा जैन) एवं अन्य छोटे ठेकेदार (बिहारी, पंजाबी, बंगाली, मद्रास, मारवाड़ी, तथा अन्य) हैं। बाकी श्रमिक सहायक औद्योगिक इकाइयों में काम करते हैं या फिर घरेलू नौकरी के रूप में खटते हैं।

आदिवासियों के जीवन में आए खनन उद्योग के प्रारंभिक प्रभाव को उनमें बढ़ते भूमिहीनों की संख्या, विस्थापन, भूसंक्रमण तथा आदिवासी अर्थव्यवस्था में हो रहे क्रमिक मौद्रीकरण

* अब यहां बड़ी ठेकेदारी प्रथा समाप्त कर दी गई है। लोहे की ढुलाई एन.एम.डी.सी. द्वारा की जाती है।

में देखा जा सकता है। दंतेवाड़ा क्षेत्र में खेतिहर तथा खनन मजदूरों की संख्या में 60 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई है।[1] इस परिसर के 20 किलोमीटर के घेरे में आने वाले गांवों में आबादी में आए परिवर्तन से यह स्पष्ट हो जाता है।[2] इस घेरे के गांव बुरी तरह से प्रभावित हुए हैं।

ये विस्थापित मजदूर आम तौर पर कृषि की पृष्ठभूमि वाले ही होते हैं। इनमें दो प्रकार की श्रेणियां है; जमीन वाले आदिवासी एवं भूमिहीन आदिवासी। उनमें से अधिकांश तो भूमिहीन मजदूर तथा गरीब किसान हैं। (देखें तालिका 1) यह निर्विवाद है कि आदिवासियों के औद्योगिक दिहाड़ी मजदूर बनते जाने के पीछे गरीबी ही मुख्य कारण है। इस विस्थापन के कारण गांव में मजदूर की आर्थिक स्थिति के अनुसार अदल-बदल सकते हैं।

तालिका 1 : वर्गीय पृष्ठभूमि के अनुसार विस्थापित मजदूरों का वर्गीकरण

क्रमांक	विस्थापित मजदूर	संख्या
1.	भूमिहीन	8
2.	गरीब किसान	10
3.	मध्यम किसान	9
4.	उच्च किसान	3
5.	सर्वोच्च किसान (50 एकड़ से अधिक जोत वाले)	2
	सकल	32*

* इस सर्वेक्षण नमूने में लौह अयस्क परिसर के विभिन्न कामों में लगे 32 विस्थापित मजदूरों को चुना गया था।

भूमिहीन एवं गरीब आदिवासियों तथा अन्य स्थानीय कुशल लोगों के मामले में विस्थापन के निम्न कारण हो सकते हैं :

(क) भूमिहीनता;
(ख) खेती के लिए अपर्याप्त जमीन;
(ग) खेती एवं परिवार की आवश्यकता पूर्ति के लिए धन की कमी;
(घ) गांव में नियमित काम का अभाव;
(च) गरीबी।

लेकिन गांवों में पर्याप्त भूमि रखने वाले विस्थापितों के मजदूर बनने के कारण ये हो सकते हैं :

(क) आधुनिक जीवन में रुचि;
(ख) मौद्रिक अर्थव्यवस्था के प्रति निरंतर बढ़ती समझ;
(ग) लौह अयस्क परिसर में काम कर गांव में महत्वपूर्ण और प्रतिष्ठित बनने तथा अर्ध नागर जीवन जीने की लालसा;
(घ) खेती के बजाए स्थाई नौकरी की इच्छा;
(च) आर्थिक समृद्धि के लिए मित्रों के बीच प्रतियोगिता;
(छ) खेती की जरूरत पूरी करने तथा उन्नत कृषि पैसे का अभाव।

आदिवासी जीवन शैली त्याग कर किरंडूल, बचेली और अन्य जगहों पर सड़क के किनारे बस जाने वाली औरतों के लिए आर्थिक स्थिति प्राथमिक कारण नहीं है। इनमें से अधिकांश तो खाते-पीते किसान परिवार से आई हैं। सिर्फ लौह अयस्क परिसर में बने रहने के लिए काम पकड़ लेती हैं। चतुर बहिरागत इन्हें इनकी आबरू के बदले में ही छोटे-मोटे काम देते हैं।

आदिवासी समाज के पारंपरिक नेतृत्व की संरचना में इन विस्थापित परिवारों को महत्वपूर्ण स्थान मिला हुआ है। सर्वेक्षण नमूने में शामिल 32 लोगों में 18 के परिवार (56 प्रतिशत) गांव के मुखिया हैं। उनके पिता, भाई या निकट के रिश्तेदार पटेल, सरपंच, पारा मुखिया या कोटवार हैं। इनमें से कुछ तो गांवों के गुनिया (वैद्यों) के परिवारों से हैं। (तालिका 2)

तालिका 2 : सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि के अनुसार विस्थापित मजदूरों का वर्गीकरण

क्र.	आर्थिक स्थिति	सर्वेक्षण में शामिल लोग	पारंपरिक नेतृत्व ढांचे में उनके परिवार की स्थिति					
			पटेल	सरपंच	मुखिया	वैद्य	कोटवार	अन्य
1.	भूमिहीन	8	1	1	-	-	1	5
2.	गरीब किसान	10	1	3	1	1	-	4
3.	मध्यम किसान	9	1	2	-	2	1	3
4.	उच्च किसान	3	1	1	1	-	-	-
5.	सर्वोच्च किसान	2	1	-	-	-	-	1
	सकल	32	5	7	2	3	2	13

उत्तरी तथा दक्षिणी समूह के मजदूर

उद्योगीकरण के प्रभाव के स्तर में अंतर के कारण दोनों समूहों के जीवन के विभिन्न पहलुओं में विरोधाभास नजर आता है। दोनों समूहों के अलग-अलग हित हैं। अपने-अपने हितों की

रक्षा के लिए उनकी अलग-अलग सामाजिक-राजनीतिक और व्यावसायिक संस्थाएं बन गई हैं। उत्तरी समूह के विस्थापित मजदूरों ने कुछ बहिरागतों के साथ घनिष्ठ संबंध विकसित कर लिया है जबकि दक्षिणी समूह के विस्थापित मजदूरों के साथ ऐसा नहीं हो पाया है।

उनमें से कुछ ने तो तकनीक और अन्य कुशलताएं भी प्राप्त कर ली हैं। अब वे भी औद्योगिक समाज के सक्रिय सदस्य बन चुके हैं। ऐसे लोगों में अधिकांश साक्षर तो हैं ही साथ ही किसी न किसी तकनीकी काम प्रशिक्षित भी हैं। तकनीकी कुशलता तथा एन.एम.डी.सी. के प्रशासनिक ढांचे में पैठ हो जाने के कारण उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ गई है। वे बहिरागतों के बीच भी प्रतिष्ठित स्थान लेने का दावा करने योग्य हो गए हैं। लेकिन, इस तरक्की से बुरा असर भी पड़ा है। वे दक्षिणी समूह के विस्थापित मजदूरों को ओछा समझते हैं। एक ही आदिम समाज के हिस्से होने, एवं सामाजिक तथा व्यावसायिक संबंध रहने के बावजूद उनके परिवारों में अंतरंगता विकसित नहीं हो पाती। उत्तरी समूह तो बैलाडीला परिसर की चहारदीवारी में घिरा रहता है। पास के गांव से उनका कोई संबंध नहीं होता। दक्षिणी समूह की तुलना में उत्तरी समूह के असंगठित मजदूरों की संख्या भी कम है। उत्तर क्षेत्र से आई श्रम शक्ति मुख्यतः संगठित क्षेत्र में है। सांस्कृतिक, बौद्धिक एवं आर्थिक विकास का स्वर ही यहां के आदिवासियों के दो समूहों में विभाजन के प्रमुख कारक हैं। दक्षिणी क्षेत्र के आदिवासियों की अपेक्षा उत्तरी क्षेत्र के गोंड आदिवासी शहरी चीजों का इस्तेमाल अधिक करते हैं। उनके जीवन में नफासत साफ झलकती है। उनके व्यवहार की चतुराई उन्हें दक्षिण वालों से अलग करती है। वे अब जी हजूरी करने वाले नहीं रहे। इससे बहिरागतों और प्रबंधक वर्ग का उनके प्रति रुख का पता भी चलता है। उत्तर वालों की मजदूर संघों में दिलचस्पी अपेक्षाकृत कम है। वे तो बस प्रशासनिक एवं अर्ध राजनीतिक मोर्चों पर ताकतवर बनना, सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करना तथा प्रतियोगितात्मक क्षमता अर्जित करना चाहते हैं। जो अधिक शिक्षित-प्रशिक्षित हैं वे अन्य क्षेत्रों में जाना चाहते हैं ताकि वे अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ा सकें। उनकी महत्वाकांक्षाएं शहरी मध्य वर्ग के लोगों की तरह ही हैं।

दक्षिण वालों की स्थिति गुणात्मक रूप से अलग है। उनमें तकनीकी कुशलता, नफासत और चतुराई की कमी है। भौगोलिक स्थिति के चलते दक्षिणी क्षेत्र से उत्तर क्षेत्र की तुलना में मजदूर अधिक आते हैं। लेकिन, उनके काम के स्तर में अंतर है। दक्षिण वाले मेहनत मशक्कत वाले अकुशल कामों में असंगठित क्षेत्र में काम करते पाए जाते हैं। वहीं उत्तर वाले मुख्यतः अर्धकुशल कामों में संगठित क्षेत्र में काम करते हैं। असंगठित क्षेत्र के नियोजक मुख्यतः ठेकेदार, दुकानदार, ढाबे वाले, समृद्ध गृहस्थ आदि हैं। उन्हें स्थायी रूप से काम भी नहीं मिलता।

गोंड, इस समूह के प्रमुख आदिवासी हैं। इन्हें तहसील में मुड़िया या 'बाइसॅन होर्न माड़िया' भी कहा जाता है। सबसे पहले मुड़िया परिवारों ने ही विस्थापन को स्वीकार किया। छठे दशक में एन.एम.डी.सी. का पहला कार्यालय भानसी में खुला तो सड़क किनारे बसे भानसी. कमेली. नेरली आदि गांवों के मुड़िया ही पहले पहल औद्योगिक मजदूरों की पांत

में आए। शुरुआत में उन्हें अकुशल मजदूरों के रूप में काम पर लगाया गया। हलबा आदिवासियों की आर्थिक स्थिति अच्छी थी इसलिए उनके बीच से बड़े पैमाने पर मजदूरों का विस्थापन नहीं हुआ। हलबाओं को आदिवासियों में सबसे विकसित समुदाय माना जाता है। आदिवासियों के सामाजिक ढांचे में भी हलबा मुड़िया से ऊपर हैं। लेकिन, हलबा आदिवासियों की लड़कियां बड़ी संख्या में लौह अयस्क परिसर में बस गई हैं। शहरी लोगों से इनके बढ़ते संपर्क का कारण आर्थिक तो है ही, बल्कि उनका शारीरिक सौंदर्य भी एक महत्वपूर्ण कारण है। मुड़िया आदिवासियों के मुकाबले उनके नाक नक्शे अच्छे हैं। शारीरिक सौष्ठव भी आकर्षक है।

प्रभाव का स्तर

औद्योगिक सर्वहारा बन जाने के बाद भी आदिवासियों के व्यक्तित्व में कोई मूलभूत अंतर नहीं आया है। वातावरण के प्रभाव से ही परिवर्तन के प्रति अनुकूलता बढ़ती है। लौह अयस्क परिसर में रहने वाली एक आदिवासी स्त्री के लिए साड़ी का पहरावा आवश्यक है। लेकिन, जब वह गांव लौटती है तो साड़ी उपयोगी नहीं रह जाती। वह बेहिचक साड़ी छोड़ अपनी पारंपरिक पोशाक पहन लेती है। पेशे के अलावा विस्थापित परिवार के जीवन के अन्य कार्य व्यापार पर नियंत्रण उनके गांव अथवा निकटवर्ती गांव के लोगों का ही रहता है। अधिकांश मामलों में यह देखा जाता है कि बीमारी के आरंभिक चरण में आदिवासी मजदूर आधुनिक डाक्टर के बजाए ओझा गुनी के पास ही जाता है। पारंपरिक जुड़ाव अभी भी मजबूत है। धार्मिक एवं अन्य पारिवारिक मामलों में 95 प्रतिशत परिवार, परिवार के बुजुर्ग एवं गांव के बड़े का ही कहना मानते हैं।

उपभोग शैली

सामाजिक और शैक्षिक भिन्नताओं के रहते भी औसतन 70 प्रतिशत आदिवासी मजदूर कृत्रिम धागे से बने वस्त्रों का उपयोग उदारता से करते हैं। इस मामले में स्त्रियां पुरुषों से आगे हैं। वे भी अंगिया और चोली का इस्तेमाल करने लगी हैं। रंगीन साड़ी और साया भी वे खूब पहनती हैं।

मजदूरों के परिवारों में विलासिता के इन सामानों की बड़ी मांग रहती है—टेल्कम पाउडर, क्रीम, लिपस्टिक, सुगंधित तेल एवं साबुन। हिंदू स्त्रियों में विवाह की निशानी के तौर पर प्रचलित सिंदूर तथा अन्य पारंपरिक शृंगार की वस्तुओं को आदिवासी स्त्रियां अपनाती जा रही हैं।

रोजमर्रा की खपत वाली चीजों तक ही यह परिवर्तन सीमित नहीं है। उनके घरों में रेडियो, घड़ी, साइकिल, स्टोव, हीटर, मच्छरदानी जैसी स्थायी चीजें भी आती जा रही हैं।

कुल 32 परिवारों में आठ के पास रेडियो एवं घड़ी थे, दो के पास साइकिल भी थी। 27 परिवार कृत्रिम धागे से बने वस्त्रों का उपयोग करते हैं। 20 परिवार पीतल तथा चार स्टेनलेस स्टील के बरतनों का उपयोग कर रहे थे।

खाद्य की खपत

एक विस्थापित मजदूर की अधिकांश कमाई खाद्य और अपने पैतृक परिवार के प्रति दायित्व के निर्वाह में लग जाती है। मजदूर परिवार में दैनिक भोजन में चावल (कोसारा, कुटकी किस्म के धान), पागे (मांड़—चावल की लपसी), लांधा, (चावल से बनी देसी शराब) तथा सल्फी (ताड़ का रस) प्रमुख होते हैं। अब मेहमानों के सत्कार के लिए लांधा एवं सल्फी* के बजाए चाय-काफी भी परोसी जाने लगी है।

हिंदू देवी-देवताओं के प्रति भी श्रद्धा उमड़ने लगी है। हर घर में धार्मिक पंचांग टंगा मिलता है। मजदूरों के 20 से 25 प्रतिशत परिवार विभिन्न हिंदू देवी-देवताओं की पूजा करने लगे हैं। कभी-कभी हिंदू पर्व-त्योहार भी मनाए जाते हैं। विस्थापित मजदूरों को फोटो खिंचवाना अच्छा लगता है। आधुनिक सभ्यता के संपर्क में आने के बाद हर कोई कम से कम एक दो बार फोटो खिंचवा चुका है। उनके घरों में टंगे कैलेंडरों तथा फोटुओं में फिल्म अभिनेता झांकते रहते हैं। व्यापारिक कैलेंडरों के जरिए कुछ नेताओं की तसवीरें भी उनके घरों में पहुंच गई हैं। एक मुड़िया मजदूर के परिवार में लेनिन की तसवीर सम्मान से लटकी मिली। वह मजदूर राजनीति में अच्छी दिलचस्पी रखता है। वह कम्युनिस्ट पार्टी नियंत्रित मजदूर यूनियन एस.के.एम.एस. का एक कार्यकर्ता है।

दूरदराज तक फैलता प्रभाव

विकास प्रक्रिया के क्रम में आधुनिक सभ्यता के संपर्क में आने वाली आदिवासी आबादी अपना आदिम व्यक्तित्व खोती जा रही है। आदिवासी समाज के पारंपरिक बंधन भी ढीले पड़ते जा रहे हैं, लेकिन परिवर्तन की मार से बचे आदिवासी लोकाचार अभी भी प्रभावशाली हैं और उन्हें आधुनिकता की स्वेच्छाचारिता झुका नहीं सकी है।

आदिवासियों का उन्नत तबका आधुनिक व्यवस्था के दांव पेचों से परिचित हो गया है। यह स्थिति वहां तक पहुंच गई है जहां परिवर्तन के प्रति विमुखता अधिक दिनों तक नहीं चल सकती। वे अब जानते हैं कि परिवर्तन की आंधी चलने पर क्या किया जाए।

आदिवासियों के शहरीकरण का स्तर उनके परिवार की आर्थिक स्थिति से सीधा जुड़ा

---

* पिछले एक दशक से बीयर का प्रचलन भी शुरू हो गया है। बस्तर के भीतरी क्षेत्रों में भी इसे देखा जा सकता है।

होता है। बैलाडीला से 30 तथा दंतेवाड़ा से 7 किलोमीटर दूर बालूद अंचल का एक गांव—मेटानार है। यहां बसे 20 परिवारों को तीन मुख्य श्रेणियों में बांटा जा सकता है—10 से 20 एकड़ जोत वाले, 50 एकड़ तक जोत वाले मध्यम किसान तथा 100 एकड़ तक या उससे अधिक जोत वाले इक्का-दुक्का धनी किसान। मारका परिवार के पास 110 एकड़ जमीन है। वे कृषि की आधुनिक तकनीकों जैसे डीजल पंप, स्प्रेयर, रासायनिक खाद तथा सरकारी संस्थाओं द्वारा वितरित उन्नत बीज आदि से भली-भांति परिचित है। इन के यहां दो स्थायी नौकर हैं। इसके अतिरिक्त खेती के काम के लिए समय-समय पर अस्थायी खेतिहर मजदूरों को रखते हैं। घरेलू नौकर भी परिवार के सदस्य समझे जाते हैं। उन्हें वेतन के रूप में वस्तु (बहुधा अनाज) और कभी-कभी थोड़ा पैसा भी दिया जाता है।

मालिकों तथा मजदूरों के जीवन स्तर में साफ अंतर दीखता है। महिलाओं के मामले में यह अंतर भी स्पष्ट है। खाते-पीते घरों की लड़कियां गरीबों के मुकाबले ज्यादा आधुनिक कपड़े पहनती हैं। समृद्धों के बच्चे ही स्कूल जा पाते हैं। हर ऐसे फर्क के बावजूद मालिक तथा मजदूर का संबंध परंपरा से ही नियंत्रित होता है। उनके यहां यह सामाजिक बंधन है कि मालिक मजदूरों तथा उनके परिवारों की देखभाल करें। यदि इसके निर्वाह में कोई कमी रही तो मालिक को ग्राम पंचायत के समक्ष जवाब देना पड़ता है।

आधुनिक उद्योग द्वारा पैठ बनाने के बावजूद आदिवासी गांवों में खेती की वही आदिम पद्धति चल रही है। किसान अभी भी दोबारा जुताई कर बीज बो देने वाली पुरानी पद्धति की खेती से जुड़े हैं। उन्हें गेहूं जैसे बेहतर अन्न की खेती के बारे में पता भी नहीं है। लेकिन, बाहरी दुनिया के संपर्क में आए आदिवासी परिवार खेती की वैज्ञानिक पद्धति अपनाने की कोशिश करते हैं। फिर यह कोशिश निरंतर नहीं चल पाती क्योंकि आदिवासियों को नई तकनीक अपनाने से वे अपने पारंपरिक समाज से कट जाएंगे।

बैलाडीला परिसर से आठ किलोमीटर दूर पालनार गांव उन गांवों में से है जहां उद्योगीकरण का प्रभाव सर्वाधिक लक्षित होता है। सहदेव का परिवार इसका अच्छा उदारहण है। सुदूर देहात में रहने वाली की तुलना में यह परिवार कृषि में अधिक उन्नत तकनीकों का उपयोग करता है। उन्नत तकनीकों का उपयोग उसके एक सातवीं जमात पास बेटे के कारण शुरू हुआ जो कभी मजदूर के रूप में बैलाडीला परिसर में काम कर चुका था। वह जिले के विभिन्न क्षेत्रों में घूमकर नई तकनीकों का इस्तेमाल देख चुका था। उसने इससे लोगों के जीवन में आते परिवर्तन को देखा था। उसने खेती करने की ठानी और दंतेवाड़ा स्थित विकास परियोजना विभाग में सहायता मांगने पहुंचा। वहां उसे खेती की कुछ नई एवं सरल तकनीक सीखने का मौका मिला। आज वह अपने गांव का एक समृद्ध किसान है क्योंकि वह अपारंपरिक फसलों गेहूं, चना, प्याज, पालक आदि की खेती करता है। शुरू में सहदेव ने खेती की नई तकनीक तथा नई फसलों को उगाने व अपनाने से अपने बेटे को मना किया था क्योंकि आदिवासी उन तकनीकों तथा फसलों से परिचित नहीं थे।

अगर परिवर्तन की शुरुआत धीमी न रखी जाए तो भय और अज्ञान परिवर्तन को खारिज

कर सकते हैं। आज भी सहदेव और उसके बेटे के बीच इस बात को लेकर तनाव रहता है। उसका नौजवान बेटा जातिवाद, बहुपत्नी प्रथा, बाल विवाह आदि को बुराई समझता है। इनका आधुनिक जीवन में कोई स्थान नहीं होना चाहिए। उसका विश्वास शिक्षा और आधुनिक रहन-सहन में है। उसके सामने सहदेव को कोई तर्क नहीं सूझता। लेकिन, सहदेव को आशंका है कि इस परिवर्तन के चलते अपरिचित और अबूझ मूल्य और मानदंड हावी हो जाएंगे और वह अपने समाज के प्रधान पद से जुड़े विशेषाधिकारों से वंचित हो जाएगा। अलग-अलग मूल्यों के समर्थक बाप एवं बेटे में इस मतभेद को लेकर जिद तो है लेकिन एक-दूसरे के हस्तक्षेप न करने की वजह से शांति बनी हुई है। सहदेव और उसका बेटा अलग-अलग शैली का जीवन जीते हैं। वे एक-दूसरे के कामों में हस्तक्षेप नहीं करते हैं। पर दोनों ही सामाजिक रीति रिवाजों और नातेदारी से बंधे हुए हैं।

आदिवासियों के जीवन में परिवर्तन की शुरुआत से एक और मार्के की बात दीखने लगी है और वह है धर्म के प्रति उनका दृष्टिकोण। इनका विकसित समाज की मूल्य व्यवस्था के अनुसार संस्कृतिकरण हो रहा है। हाल तक वे हिंदू देवी देवताओं को नहीं जानते थे। आज देवी देवताओं के रंगीन चित्र वाले कैलेंडर तथा सचित्र पुस्तकें उनको बहुत अच्छी लगती हैं। कुछ वो इन देवी-देवताओं से संबंधित धार्मिक कथाओं को भी जानते हैं। लेकिन नौजवान आदिवासी तो उनकी पूजा बस सामाजिक लोकाचार के रूप में ही करते हैं। इस संबंध में मटेनार गांव में रहने वाले माड़का परिवार का उदाहरण सर्वथा उपयुक्त होगा। यह अपने गांव के समृद्ध परिवारों में से एक है, साथ ही सर्वाधिक शिक्षित भी है। इस परिवार के घर की दीवारों पर हिंदू देवी-देवताओं के चित्र टंगे हैं। उनके पास तो रामायण की भी एक प्रति है जो दीवार के आले में श्रद्धा से रखी रहती है।

आर्थिक अवस्था पर प्रभाव

सकारात्मक प्रभाव : तथ्यों से यह पता चलता है कि विस्थापित मजदूर बनने से कई तरह का लाभ हुआ है। इससे उनकी आर्थिक अवस्था तो सुधरी ही है, मूल गांव स्थित उनके मूल परिवार की सामाजिक हैसियत भी ऊंची हो गई है। खेती या अन्य परंपरागत पेशों के मुकाबले औद्योगिक परिसर में काम (यदि स्थायी हो तो और भी अच्छा) से होने वाली आय अधिक नियमित है। इसके अतिरिक्त वहां मजदूरी वस्तु के बजाए नकद रूप में मिलती है। आदिवासी क्षेत्रों में मजदूरी के रूप में मिली वस्तुओं का मूल्य भी तो गांव के गैर-आदिवासी व्यापारी ही तय करते हैं। अलबत्ता सड़क किनारे बसे गांवों में स्थिति कुछ भिन्न है। उद्योगों में बढ़ोतरी से आदिवासी मजदूरों को पैसे के महत्व को पहचानने वाले शहरियों में बदल दिया है। यह चेतना सिर्फ शहरी मजदूरों के लघु संसार तक ही सीमित नहीं है बल्कि वह, गांवों में उनके द्वारा पैसा भेजते रहने के चलते, उनके गांवों की सीमा में भी प्रविष्ट हो गई है। गांव स्थित अपने परिवारों को खेती में सुधार, नियमित आवश्यकताओं, विवाह, मृत्यु,

पर्व आदि तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति, मालगुजारी तथा कर्ज की देनदारी चुकाने आदि के लिए वे पैसे भेजते हैं।

अनेक विस्थापित मजदूर परिवारों ने खेती में पैसा लगाया है। यह निवेश 100 से लेकर 4,000 रुपए तक है। निवेश खेती से संबंधित इन कारणों में हुआ है :

(क) जमीन की खरीद (रकबा 1 से लेकर 10 एकड़ तक, अवधि सात वर्ष);
(ख) वास का निर्माण;
(ग) सिंचाई में सुधार;
(घ) गाय और बैलों की खरीद।

रासायनिक खादों तथा खेती की उन्नत तकनीकों के उपयोग से विस्थापित मजदूरों के गांव स्थित परिवारों की स्थिति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है। कुछ ने तो अपने गांव में पक्का मकान बनवा लिया है। पैसे के प्रति जागरूकता पैदा होने की वजह से उनमें पैसे की बचत की भी आदत विकसित हो गई है। लेकिन यह आदत सभी आदिवासी औद्योगिक मजदूरों में नहीं है। बचत की आदत के अधिक विकसित नहीं होने के मुख्यतः दो कारण हैं : पहला यह कि मजदूरों की आर्थिक स्थिति में अंतर है; दूसरा यह कि बैंक में खाता खोलने तथा पैसे निकलवाने में आने वाले तकनीकी झमेले को वे समझ नहीं पाते।

जब संगठित आदिवासी मजदूर भी आधुनिक आर्थिक संस्थाओं का लाभ नहीं उठा सके तो उसका फायदा क्या ? इस मामले में असंगठित क्षेत्र के मजदूर तो बहुत पीछे हैं। असंगठित क्षेत्र के मजदूरों की तुलना में संगठित क्षेत्र के मजदूर नियमित रूप से अपने माता-पिता को पैसा भेजते हैं। कुछ अन्य सकारात्मक प्रभाव ये हैं :

(1) नई सभ्यता का उदय; (2) आधुनिक शिक्षा एवं वस्त्रों के बारे में जानकारी; (3) बिजली तथा संचार के साधनों से परिचय; (4) रोजगार के अवसर।

उद्योग ने बस्तर के आदिवासियों के लिए रोजगार के नए क्षेत्र खोले हैं, ऐसा 80 प्रतिशत आदिवासी मजदूर मानते हैं। गांव के प्रधान भी इसकी पुष्टि करते हैं। 85 प्रतिशत प्रधान तो यह मानते हैं कि बैलाडीला परिसर कुशल-अकुशल मजदूरी तथा कृषि एवं गैर कृषि उत्पादों को बेचने के लिए अच्छा बाजार है बशर्ते कि सरकार शोषण से लोगों को बचाए।

नकारात्मक प्रभाव : ऐतिहासिक अनुभव यह बताता है कि बड़े पैमाने पर नए उपकरणों के प्रयोग से समाज में नए उत्पादन संबंधों का जन्म होता है। किसी देश की आर्थिक व्यवस्था की मुख्य धारा से कटा एक समाज, किसी भी उद्योग या प्रबल आर्थिक व्यवस्था के लिए मानव एवं सामग्री संसाधन का खजाना बन जाता है। किसान अपने नए मालिकों को अपनी श्रम शक्ति बेचने पर मजबूर हो जाते हैं। यह वही श्रम शक्ति है जो गैर-पूंजीवादी कृषि व्यवस्था में परिवर्तन ला सकती है। एक प्राक्-औद्योगिक अर्थव्यवस्था पर आधारित पारंपरिक समाज में श्रम विलगाव की प्रक्रिया अपने आप में स्वतंत्र नहीं होती। निश्चय ही वह समाज में

विद्यमान विषमताओं से प्रभावित होती है। आधुनिक उत्पादन प्रक्रिया में आदिवासी मजदूर की भागीदारी ऊपर वर्णित प्रक्रिया से ही सापेक्ष संबंध रखती है।

इस क्षेत्र में उद्योगीकरण ने कुछ गंभीर नकारात्मक प्रभाव छोड़े हैं। ऐसे प्रभाव हैं : (क) जल प्रदूषण; (ख) अनैतिक धंधो (आदिवासी लड़कियों का शोषण) में वृद्धि; (ग) परिसर में सामाजिक तथा व्यावसायिक क्षेत्रों में आदिवासियों के साथ भेदभाव; (घ) आदिवासी जीवन में हस्तक्षेप; (च) आदिवासियों का और अधिक विस्थापन; (छ) भूमि से विलगाव; और (ज) शहरी अपराधों (डकैती, अवैध शराब बेचना तथा जुआ) में वृद्धि।

जल प्रदूषण* : इस अध्ययन के क्रम में यह पता चला कि मशीनीकृत खानों की स्थापना के बाद आदिवासियों को सबसे बड़ा नुकसान लौह अयस्क को छानने वाले संयंत्र से होने वाले जल प्रदूषण से हो रहा है। लगभग 90 प्रतिशत आदिवासी यह महसूस करते हैं कि इससे उनकी पारंपरिक अर्थव्यवस्था को भारी आघात पहुंचा है। वे अधिकाधिक रूप से परिसर की अर्थव्यवस्था पर निर्भर होते चले गए हैं। इस समस्या के समाधान तथा प्रभावित परिवारों को वास्तविक राहत पहुंचाने के लिए प्रबंधन ने अब तक कोई समुचित कदम नहीं उठाया है। परिसर का प्रबंधन अपने हितों के विरुद्ध जाकर कोई जोखिम उठाने को तैयार नहीं है। इसने पारंपरिक अर्थव्यवस्था, विशेष रूप से खेती पर अनर्थकारी प्रभाव डाला है। इससे दंतेवाड़ा तहसील के 29 गांव प्रभावित हुए हैं। सिंचाई के पानी के अभाव में धान, कोदों, कुटरी तथा सरसों की खेती गंभीर रूप से प्रभावित हुई है।

ये सब गांव बैलाडीला परिसर के 50 से लेकर 60 किलोमीटर के दायरे में स्थित हैं।

समस्या को अधिक सटीक रूप से समझने के लिए इन गांवों को तीन समूहों में बांटा जा सकता है : (क) 10 किलोमीटर के दायरे में पड़ने वाले गांव; (ख) 20 से 60 किलोमीटर के दायरे में आने वाले दुर्गम जगहों पर स्थित गांव; और (ग) 30 से 50 किलोमीटर के दायरे में सड़क किनारे स्थित गांव। इन गांवों की सूची नीचे दी गई है :

समूह क

(1) किरडूल, (2) कदमपाल, (3) पीना बचेली, (4) डुगेली;

समूह ख

(1) मलिसनर, (2) कुलचपाल, (3) मसेनार, (4) भोगम, (5) फरसपाल, (6) बिनजाम, (7) सियनार, (8) अलनार, (9) समलूर, (10) कुलेनार, (11) कुरौली, (12) बटेतुमनार, (13) जंगापल, (14) चोटेगुमनार;

* 1995 तक जल प्रदूषण की स्थिति में विशेष सुधार नहीं हुआ है। स्थानीय नदियां आज भी संयंत्र के प्रदूषित पानी से प्रभावित हैं।

समूह ग

(1) गामवाड़ा, (2) कुंडेली, (3) कुम्हरार्स, (4) करजैनार, (5) पतरास, (6) देगलरास, (7) दंतेवाड़ा, (8) कटियारास, (9) पुरनतराई, (10) अवरभटा, (11) चीतालंका।

खेती को प्रभावित करने के अलावा जल प्रदूषण ने उस क्षेत्र के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को बुरी तरह प्रभावित किया है। इन गांवों में रहने वाले हजारों लोग भुखमरी के शिकार हो रहे हैं। अलबत्ता यह प्रभाव गांव की भौगोलिक स्थिति के अनुसार घटता बढ़ता रहता है। बैलाडीला परिसर के निकट होने की वजह से समूह 'क' के गांव समूह 'ख' एवं 'ग' के गांवों की तुलना में कम प्रभावित हुए हैं। समय-समय पर काम की तलाश या अन्य कारणों से बैलाडीला परिसर में आते-जाते रहने के कारण इन गांवों पर ऐसे प्रभाव में काफी कमी आई है। समूह 'क' के लोग बचेली और किरनडूल टाउनशिप में अकुशल और शारीरिक श्रम वाले कामों के लिए आते रहते हैं। आदिवासी लड़के और लड़कियां सामान्यतः निर्माण कार्यों तथा घरेलू कामों में खटते मिलते हैं।

लेकिन दुर्गम स्थलों पर बसे गांवों के लोग सबसे बुरी तरह प्रभावित हुए हैं। वास्तव में वे पिछले एक दशक से करीब-करीब भुखमरी की स्थिति में जी रहे हैं। इन गांवों में सर्वेक्षण के दौरान पाया गया कि यहां प्रति व्यक्ति धान या कोदों की खपत 500-600 ग्राम प्रतिदिन से घटकर 150-200 ग्राम ही रह गई है। कुछ परिवार तो सप्ताह में दो दिन भूखे रह जाते हैं।

जल प्रदूषण के अलावा आदिवासी लड़कियों का शोषण दूसरा बड़ा बुरा प्रभाव है। 80 प्रतिशत मजदूर की ऐसी सोच है। वैसे इस तरह के शोषण का आदिवासियों के बीच व्याप्त गरीबी से इसका सीधा संबंध है। आर्थिक कारण के अतिरिक्त औद्योगिक परिसर की चकम-दमक से भरी जिंदगी के प्रति उनका आकर्षण भी एक कारण है जिससे वे अपने फटेहाल मां-बाप एवं पति को छोड़कर चल देती हैं।

इस शहर के घरों में रखैल-नौकरानी एवं अन्य कामों में लगी 50 लड़कियों के साक्षात्कार के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शहरी जीवन के प्रति आकर्षण ने इस विस्थापन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। उनके आसपास मंडराते दलाल उन्हें आसानी से लालच देकर फंसा लेते हैं। साक्षात्कार में शामिल 70 प्रतिशत मजदूर तथा 40 प्रतिशत गांव प्रधान यह मानते हैं कि शृंगार प्रसाधनों के प्रति ललक ने उन्हें बरबाद किया है। इस तरह की प्रतिक्रिया व्यक्त करने में एक मात्रात्मक अंतर दीखता है। इस प्रभाव को सीधे ग्रहण करने वाले मजदूर अधिक चिंतित हैं जबकि दूर-दराज के गांव-प्रधान कम।

दूसरे बुरे प्रभावों में आदिवासियों का शोषण, पारंपरिक अर्थव्यवस्था को नुकसान, भूमि से विलगाव, वनों के नाश, बहिरागतों द्वारा शराब की बिक्री तथा शहरी अपराधों में वृद्धि को एक ही शीर्षक 'आर्थिक प्रभाव' के अंतर्गत रखा जा सकता है। ये सारे बुरे प्रभाव दोनों समाजों के बीच मौजूद समाजार्थिक विषमताओं से जुड़े हैं।

भू-संक्रमण

नंगे अधनंगों की दुनिया में भू संक्रमण परंपरागत और सर्वव्यापी परिघटना है। आदिवासी क्षेत्रों में औद्योगिक परिसरों की स्थापना से इसमें नए आयाम जुड़ गए हैं। उद्योगीकरण ने भू संक्रमण को और तेज कर दिया है। इससे आदिवासी किसान खेतिहर मजदूर या औद्योगिक मजदूर बन गए। नतीजतन भूमिहीन आदिवासी मजदूरों की जनसंख्या पिछली जनगणना अवधि में 14 प्रतिशत बढ़ी।[3] उस अवधि में अन्य जिलों में भी कमोबेश यही स्थिति रही।[4]

बस्तर जिले की ओर लौटकर हम फिर पाते हैं कि मशीनीकृत लौह अयस्क खानों के चालू होने से चतुर संगठित शक्तियों के जिले में प्रवेश से भू-संक्रमण और तेज हुआ है। मशीनीकृत खानों की स्थापना की अवधि में आदिवासियों की जमीन का गैर आदिवासियों के यहां हस्तांतरण में भारी वृद्धि हुई है। यह तालिका 3 से स्पष्ट हो जाता है।

तालिका 3 : आदिवासी भू-संक्रमण

वर्ष	जमीन बिक्री के लिए आदिवासी किसानों से प्राप्त आवेदनों की संख्या	बिक्री के लिए दी गई अनुमतियों की संख्या	बिकी हुई जमीन का क्षेत्रफल, (हेक्टेयर में)	जमीन का सकल मूल्य (रुपयों में)
1969-70	78	8	5	11,907.00
1970-71	135	18	114	25,497.00
1971-72	298	194	271	4,16,010.00
1972-73	315	273	313	5,14,670.00
सकल	829	493	603	9,68,080.00

भू-संक्रमण में इतनी वृद्धि जिले की समस्या के स्तर को स्पष्ट करती है। एक सर्वेक्षण के अनुसार 'आदिवासियों की जमीन का गैर आदिवासियों को हस्तांतरण की वार्षिक दर 127 हेक्टेयर है जो कलेक्टर की अनुमति से होता है और 10 हैक्टेयर का हस्तांतरण सहकारी समिति के ऋणों की वसूली के लिए होता है।'

वैध हस्तांतरणों के अलावा अवैध हस्तांतरण के जरिए भी आदिवासी जमीन से वंचित किए गए हैं। इस जिले में अवैध हस्तांतरणों की संख्या वैध हस्तांतरणों से कहीं अधिक है। वास्तव में 80 से 90 प्रतिशत भू-संक्रमण अवैध तरीकों से होता है। बस्तर के विभिन्न क्षेत्रों में किए गए सर्वेक्षण का निष्कर्ष यही है।

जगदलपुर तहसील के सर्वेक्षण से यह अंतिम निष्कर्ष निकलता है, 'सकल भू-संक्रमण में मात्र 10 प्रतिशत ही वैध हस्तांतरण है।' इसी तहसील में वैध तथा अवैध हस्तांतरण के बीच अंतर (प्रतिशत में) तालिका 4 में देखा जा सकता है।

तालिका 4 : जगदलपुर तहसील में वैध तथा अवैध भू-हस्तांतरण

गांवों की संख्या	जनसंख्या	आदिवासी जनसंख्या	प्रतिशत	जोतों की संख्या एवं क्षेत्रफल	आदिवासी जोतों की संख्या एवं क्षेत्रफल	प्रतिशत	वैध हस्तांतरण एवं क्षेत्रफल	अवैध हस्तांतरण एवं क्षेत्रफल	जबरन कब्जा एवं क्षेत्रफल
586	372930	206650	72	49607	31756	70	118	2000	39
				———	———	———	———	———	———
				19625 हेक्टेयर	14680 हेक्टेयर	74.6	137.7 हेक्टेयर	1665 हेक्टेयर	63.6 हेक्टेयर

बहिरागतों द्वारा आदिवासी भूमि पर कब्जा और खेती ने दूसरी तहसीलों को भी बुरी तरह प्रभावित किया है। उद्योगीकरण ने इस आदिम समाज को आजीविका के पारंपरित स्रोत से बेदखली की प्रक्रिया को तेज कर दिया है। तालिका 5 से यह सुस्पष्ट है।

तालिका 5 : बहिरागतों द्वारा आदिवासियों की जोती जाने वाली जमीन

तहसील का नाम	अध्ययन में शामिल गांवों की संख्या	कुल जोत	आदिवासी जोतों की संख्या	प्रतिशत	अवैध रूप से गैर-आदिवासियों द्वारा खेती किए जाने वाले आदिवासियों की जोतों की संख्या
दंतेवाड़ा	5	428	210	49.0	25
कोंटा	11	685	532	77.6	7

तालिका 5 से पता चलता है कि सर्वेक्षण में शामिल 11 गांवों में कम से कम दो अवैध कब्जों का मामला तो है ही। लेकिन दंतेवाड़ा तहसील के प्रत्येक गांव में ऐसे मामले पांच हैं क्योंकि यह तहसील पिछले डेढ़ दशक से बड़े पैमाने पर अर्थव्यवस्था के मौद्रीकरण की केंद्र रही है। पड़ोस की तहसील होने के कारण कोंटा तबसे भू-संक्रमण का दबाव झेल रहा है। सर्वेक्षण से यह भी स्पष्ट हुआ कि बैलाडिला परिसर के 30-40 किलोमीटर के दायरे में आने वाले कुछ गांवों की स्थिति चौंकाने वाली है। इन गांवों में भूमि के अवैध कब्जे का प्रतिशत 12 निकला।

दंतेवाड़ा तहसील में 1951 से लेकर अब तक आदिवासी किसानों की संख्या घटती रही है। 1951 में उनकी संख्या 85,021 थी जो 1971 में घटते-घटते 54,100 रह गई और खेतिहर मजदूरों की संख्या में 36 प्रतिशत वृद्धि हो गई।

भू संक्रमण से सर्वाधिक प्रभावित वे गांव रहे हैं जो सड़क से दो किलोमीटर के दायरे में बसे हैं तथा लौह अयस्क परिसर के 50 किलोमीटर के दायरे में आते हैं। तालिका 6 में किसानों की घटती संख्या तथा खेतीहर एवं गैर खेतिहर मजदूरों की बढ़ती संख्या दर्शाई गई है।

सड़क किनारे बसे गांवों के अतिरिक्त (देखें तालिका 6) घने जंगलों से घिरे तथा परिसर के 20 से 30 किलोमीटर दायरे में स्थित गांव भी भू संक्रमण भुगत रहे हैं। परिणामस्वरूप पारंपरिक श्रम बल वहां से हटकर शहर की तरफ भागता जा रहा है। उदाहरण के लिए, बैलाडिला परिसर से 20 किलोमीटर दूर हितवार गांव को लें। यहां 1973-76 के दौरान 20 एकड़ भूमि का वैध हस्तांतरण हुआ। ये जमीन राजपूत, मुसलमानों तथा अन्य गैर-आदिवासी लोगों के हाथों में चली गई। आदिवासियों को महज 8,000 रुपए मिले। बैलाडिला से 25 किलोमीटर दूर प्रखंड मुख्यालय कुआकोंडा गांव में मामूली रकम देकर सवर्ण हिंदू बहिरागतों

ने 17 एकड़ जमीन खरीदी। इस सौदे में उन्हें 4,500 रुपए खर्च करने पड़े। इन आंकड़ों में जमीन के वैध हस्तांतरण के आंकड़े ही शामिल हैं।

तालिका 6 : प्रभावित गांव

गांवों के नाम	परिसर से दूरी किलोमीटर में	वर्ष 1961			वर्ष 1971		
		किसान	खेतिहर मजदूर	गैर-खेतिहर मजदूर	किसान	खेतिहर मजदूर	गैर-खेतिहर मजदूर
किरंडूल	1/2	143	10	-	128	-	159
बंचेली	1	395	15	6	355	30	38
कदमपाल	5	310	11	-	265	8	6
मानसी	18	592	6	7	177	47	171
दंतेवाड़ा	35	142	7	24	99	79	36
गीदम	47	228	10	27	177	125	32
सकल		1,810	59	64	1,201	281	442

अवैध तरीकों से भू संक्रमण के दुष्परिणाम को समझने के लिए एक हलबा आदिवासी द्वारा आत्महत्या का मामला उदाहरण के तौर पर देखा जा सकता है। यह उन दिनों की बात है जब पूर्व इंदिरा सरकार द्वारा आदिवासियों के संरक्षण और लाभ के लिए कई ऐतिहासिक कदमों की घोषणा की गई थी। 19 जून 1976 को हितवार गांव के निवासी एक हलबा आदिवासी ने आत्महत्या कर ली। कारण था कि उसकी सारी जमीन उत्तर प्रदेश से आए सवर्ण हिंदू बहिरागतों के हाथों में चली गई। ये जमीन वैध तथा अवैध तरीकों से हड़पी गई थी। वास्तव में सिंचित भूमि का बड़ा हिस्सा नकुलनार, कुकाकोंडा, हितवार आदि गांवों के आदिवासियों के कब्जे में था, लेकिन उसे उत्तर प्रदेश, राजस्थान, उड़ीसा एवं पंजाब से आए गैर-आदिवासियों ने जबरन हड़प लिया था। उद्योगीकरण के बाद इन इलाकों में गैर-आदिवासियों की आबादी भी बढ़ गई है।

परिसर में प्रचलित बाजार प्रणाली इन आदिवासियों की समझ के बाहर है। आदिवासी उत्पादकों को उत्पाद का उचित मूल्य नहीं मिल पाता। बाजार पर मारवाड़ियों, पंजाबियों तथा अन्य बिचौलियों का नियंत्रण है। एक तरफ तो बिचौलियों द्वारा उनका शोषण होता है, दूसरी तरफ सफेदपोश खरीदार भी आमदनी में से उनका हिस्सा हड़प जाते हैं। अधिकांश आदिवासी विक्रेताओं के संबंध मजदूरों से हैं। आधुनिक आर्थिक गतिविधियों में तेजी आने के साथ

ही शोषण के क्षेत्र का भी विस्तार हुआ है। हालांकि वे अब व्यापार के गुर को थोड़ा-थोड़ा समझने लगे हैं लेकिन उनका यह अल्प ज्ञान भी बहिरागतों की आंख में खटकता है। इसीलिए बहिरागत कहते हैं : 'मामा (आदिवासियों का आम संबोधन) साला चालाक हो गया है।'

तालिका 7 से स्पष्ट है कि औद्योगिक गतिविधियों की पैठ के बाद दंतेवाड़ा तहसील में ही अपराधों में 200 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

तालिका 7 : दंतेवाड़ा तहसील में अपराध

अपराध का नाम	1960	1965	1970	1972	1975
1. हत्या	20	36	30	25	29
2. डकैती	-	1	-	-	-
3. सड़क पर लूट	-	-	-	-	2
4. चोरी	10	68	53	64	65
5. सेंधमारी	8	33	18	28	36
6. मवेशी की चोरी	2	13	13	16	39
7. जुआ	2	-	16	11	20
8. अवैध शराब बेचना	15	7	45	65	30
9. बलात्कार	-	-	2	1	-
10. अन्य	39	84	74	103	96
सकल	96	242	251	313	317

इतना ही नहीं, तालिका 7 से स्पष्ट है कि अपराधों में सर्वाधिक वृद्धि 1960-65 तथा 1970-75 में हुई है। इन दो अवधियों का समुचित विश्लेषण होना चाहिए।

पहले ही यह कहा जा चुका है कि औद्योगिक संस्कृति के प्रतिनिधि इस अछूते क्षेत्र में छठे दशक में आने लग गए थे। 1960-65 की अवधि में अचानक देश के विभिन्न हिस्सों से आए बहिरागतों की बाढ़ इस क्षेत्र में आ गई। इसके पहले आदिम जातियों के बीच अपराध की दर बहुत कम थी। इस अवधि में अपराध की दर में 150 प्रतिशत की वृद्धि का सीधा संबंध इस क्षेत्र में औद्योगिक गतिविधियों के बढ़ने से है। इस अवधि को दो खंडों, 1960-63 और 1963-65, में बांटा जा सकता है। पहले खंड में औद्योगिक गतिविधि प्रारंभिक चरण में थी तो दूसरी अवधि में इसने तहसीलों में अपनी जड़ें जमा ली थीं। औद्योगिक गतिविधियों में लगातार वृद्धि के साथ-साथ अपराध-दर में भी वृद्धि होती चली गई। औद्योगिक संस्कृति की शुरुआत के पहले आदिवासियों द्वारा किए जाने वाले अपराध मामूली किस्म के थे। उनमें जटिलताएं नहीं थीं, न ही सुगठित तंत्र या योजनाबद्ध अपराध होते थे। लेकिन क्षेत्र में बढ़ते औद्योगिकरण के चलते अपराध को एक नया आयाम मिल गया।

1965-70 की अवधि में उद्योग जोर-शोर से चलने लगे थे। नतीजतन अपराध और बढ़ते चले गए।

वर्तमान दशक के प्रारंभ में उद्योगिकरण ने अपने क्षेत्र का विस्तार तो करना शुरू किया ही, उसके प्रभाव का भी विस्तार हुआ। किरंदूल टाउनशिप से 10 किलोमीटर दूर बचेली टाउनशिप भी बस गया। और इस फैलाव के साथ ही अपराध दर में और 60 प्रतिशत की वृद्धि हो गई।

अपराधों को भी दो श्रेणियों में रखा जा सकता है—पारंपरिक एवं गैर पारंपरिक। आदिवासियों के पारंपरिक अपराधों में हत्या, आत्महत्या, मवेशियों की चोरी, हमला, मारपीट आदि शामिल रहे हैं। गैर पारंपरिक अपराधों में सोची समझी हत्याएं, डकैती, राहजनी, चोरी, सेंधमारी, जुआ, अवैध शराब बेचना, बलात्कार, हताशा से आत्महत्या आदि शामिल हैं। सीधे तौर पर कहें तो पारंपरिक अपराध करने वाला अपराधी उसे कभी नहीं छिपाता। आज भी ऐसे उदारहण मिलते हैं जिसमें हत्या करने वाला आदिवासी स्वेच्छा से अपने आपको पुलिस के हवाले कर देता है। हाल में एक मुड़िया आदिवासी ने एक हत्या कर दी। वह गिरफ्तार होने के डर से नहीं भागा। वह खुद थाने गया और उसने थानेदार से बताया कि किन स्थितियों में उसे हत्या करनी पड़ी। इसी तरह मवेशी चुराना भी एक पारंपरिक अपराध है। जहां तक आत्महत्या का सवाल है, कोई आदिवावासी ऐसा आत्मघाती कदम तभी उठाता है जब घरेलू कारणों से मानसिक रूप से परेशान हो। लेकिन इन घरेलू कारणों में आर्थिक समस्या तो नहीं ही आती।

अपराधों को पूरे विस्तार से समझने के लिए तालिका 8 में किरंडूल, बचेली और भानसी में रहने वाले आदिवासियों एवं गैर आदिवासियों द्वारा होने वाले अपराधों की तुलनात्मक दर को दर्शाया गया है।

तालिका 8 : आदिवासियों और गैर-आदिवासियों द्वारा किए गए अपराधों की तुलना

	आदिवासी				गैर-आदिवासी			
	1965	1970	1975	1976	1965	1970	1975	1976
किरंडुल	4	40	54	60	1	24	30	30
बचेली	2	7	53	36	-	-	14	13
भानसी	5	4	7	7	-	-	-	1
कुल	11	51	114	103	1	24	44	44

तालिका 8 से स्पष्ट है कि आदिवासियों द्वारा किए गए अपराधों की संख्या गैर-आदिवासियों द्वारा किए गए अपराधों से कहीं अधिक है। इस तालिका से यह भी स्पष्ट होता है कि

एक दशक में आदिवासियों एवं गैर-आदिवासियों द्वारा किए गए अपराधों में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। 1965 की तुलना में अपराधों में दस गुना वृद्धि हुई है। 1970 में दूसरे मशीनीकृत अयस्क भंडार की स्थापना के बाद अपराधों में वृद्धि का एक नया दौर आया। आश्चर्यजनक रूप से गैर आदिवासियों की आबादी में बढ़ोत्तरी से अपराध में वृद्धि का कोई सीधा संबंध नहीं दीखता। वहीं औद्योगिक टाउनशिप में आदिवासियों की आबादी के घटने से अपराध की संख्या बढ़ जाती है। अपराध विज्ञान के विशेषज्ञ आम तौर पर मानते हैं कि जनसंख्या बढ़ने से अपराध में वृद्धि हो जाती है। यहां स्थिति भिन्न है।

तालिका 9 : आदिवासियों और गैर-आदिवासियों द्वारा किए गए अपराधों की प्रवृत्ति की तुलना

	आदिवासी			गैर-आदिवासी		
अपराध	1965	1970	1975	1965	1970	1975
हत्या	2	1	3	-	-	-
हत्या का प्रयास	-	-	3	-	-	-
मवेशी की चोरी	-	5	-	-	-	-
चोरी	7	30	46	-	8	15
अवैध शराब की बिक्री	-	26	33	-	7	10
सेंधमारी	8	5	20	-	-	3
जुआ	-	-	-	-	5	3
अन्य	-	4	8	1	4	14

वास्तविकता यह है कि गैर-आदिवासी आदिवासियों को अपराध करने के लिए आकर्षित करते हैं, उन्हें ललकारते हैं। उदाहरण के लिए देखें कि औद्योगिक परिसरों की स्थापना के पहले ये आदिवासी अवैध शराब बेचना या जुआ खेलना जैसे अपराधों के बारे में जानते भी नहीं थे। स्त्रियों द्वारा अनैतिक व्यापार भी उद्योगीकरण की ही देन है। आदिवासी लड़कियों के यौन शोषण के चलते यहां अब अपराध की शहरी शैली, जैसी छेड़छाड़, बलात्कार और वेश्यावृत्ति, भी देखने को मिलती है। सच यह भी है कि अपनी यौन आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए बहिरागत आदिवासी लड़कों का उपयोग 'दलाल' के रूप में करते हैं।

तालिका 9 में आदिवासियों तथा गैर आदिवासियो के अपराधों की शैलीगत तुलना दरशाई गई है।

तालिका 9 में दरशाए गए आंकड़े किरंडल थाना से लिए गए हैं। इन आंकड़ों में किरंडूल, बचेली तथा मानसी क्षेत्र से संबंधित अपराध सम्मिलित हैं।

इस तालिका से स्पष्ट है कि गैर-आदिवासियों द्वारा किए गए अपराधों, मसलन राहजनी,

हमला, चोरी, सेंधमारी तथा अवैध शराब की बिक्री में वृद्धि हुई है। 1965 में चोरी की केवल सात घटनाएं हुईं। उद्योगीकरण के बढ़ते ही यह संख्या 46 पर पहुंच गई। उसी तरह 1970 में अवैध शराब के 26 मामले प्रकाश में आए जो 1975 में बढ़कर 33 हो गए। इस तरह चोरी की घटनाओं में 640 प्रतिशत तथा शराब वाले मामले में 130 प्रतिशत वृद्धि हुई। जहां तक गैर-आदिवासियों द्वारा किए गए ऐसे अपराधों का सवाल है, उनमें कोई महत्वपूर्ण वृद्धि नहीं हुई।

सारांशतः यह स्पष्ट है कि इन संकलित आंकड़ों के आधार पर कहा जा सकता है कि इस तहसील में शहरी शैली के अपराधों में आए जबरदस्त दौर के लिए उद्योगीकरण जिम्मेदार है। औद्योगिक गतिविधियों के बढ़ने से यहां अपराध ने एक गंभीर रूप ले लिया है। वे लगातार दूर-दराज के क्षेत्रों में भी फैलते जा रहे हैं। ऐसे भी उदाहरण हैं जिनसे पता चलता है कि औद्योगिक परिसरों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े दूरस्थ गांवों में भी गैर पारंपरिक अपराध बढ़ते जा रहे हैं। आर्थिक निराशाओं के चलते आदिवासी आत्महत्या करने लगे हैं। ऐसे भी उदाहरण हैं जिसमें आदिवासी मजदूर ने आर्थिक गतिविधियों में शिरकत करने के अपने अधिकार को छीने जाते देखा तो आत्महत्या कर ली। जब असंगठित क्षेत्र में काम कर रहे आदिवासी मजदूर को ठेकेदार या उप-ठेकेदार उसकी वाजिब मजदूरी नहीं देता तो वह निराशा के गर्त में डूब जाता है और अंततः आत्महत्या कर लेता है। श्रम विभाग या पुलिस द्वारा ऐसे मामलों का रिकार्ड जानबूझ कर नहीं रखा जाता।

वैसे यह स्वयंसिद्ध बात है कि अपनी उत्पादन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऊंचे दर्जे की कुशलता एवं दूसरे प्रकार की सामाजिक गतिशीलता की जरूरत उद्योगों को है। आदिवासियों में इसका अभाव है। इसलिए आदिवासी आम तौर पर अकुशल श्रम वाले कामों में लगाए जाते हैं। पास पड़ोस के ग्रामीणों तथा मजदूरों की सबसे बड़ी शिकायत इस बात से है कि बहाली तथा पदोन्नति में उनके साथ पक्षपात किया जाता है। अनुसूचित जनजाति तथा अनुसूचित जाति के लोगों की नियुक्ति के मामले में प्रबंधक एक आंकड़ा देता है तो किरंडूल स्थित रोजगार कार्यालय दूसरा आंकड़ा पेश करता है। इससे पक्षपात वाली शिकायत सही लगती है।

सर्वेक्षण के दौरान, यह भी सामने आया कि गैर-आदिवासियों द्वारा सांस्कृतिक एवं संस्थानिक श्रेष्ठता के प्रदर्शन से हलबा, मुड़िया एवं भतस तथा अन्य आदिवासियों के मन पर गहरी चोट लगती है। बैलाडीला के बहिरागत आदिवासियों के लिए 'साला मामा लोग', 'कामचोर', 'शराबी' जैसे जुमले इस्तेमाल करते हैं। वास्तव में आदिवासियों को ओछी नजरों से देखा जाता है। यह माना जाता है कि पिछड़ी मानव प्रजाति के ये लोग महीन तकनीकी कामों के लिए उपयुक्त नहीं हैं। इस सांस्कृतिक अहंकार ने आदिवासी मजदूरों को आहत किया है और इसलिए उनमें आधुनिक सभ्यता के प्रति वितृष्णा पैदा हो गई है। मानवीय क्रियाकलापों के विभिन्न क्षेत्रों में बहिरागतों के स्तर पर नहीं आना चाहते। फिर भी युवा आदिवासी मजदूर इन अवरोधों को नहीं मानते हैं। वे अब कुछ हद तक श्रेष्ठतर व्यवस्था

के प्रतिनिधियों से कुछ हद तक समान स्तर पर सौदेबाजी करने में सफल दीखते हैं। अंततः दो समाजों की अंतःक्रिया उन सामाजिक शक्तियों की समाजार्थिक पृष्ठभूमि से प्रभावित तो होती ही है।

टिप्पणियां

1. दंतेवाड़ा तहसील में श्रम शक्ति

	वर्ष 1961	वर्ष 1971
किसान	65,887	54,110
खेतिहर मजदूर	6,737	6,838
गैर खेतिहर मजदूर	6,408	11,030

2. बीस किलोमीटर दायरे में आने वाले गांवों की आबादी पर प्रभाव

	वर्ष 1961		
	किसान	खेतिहर मजदूर	गैर खेतिहर मजदूर
किरंडुल	143	10	-
बचेली	395	15	6
कोडेनार	84	3	-
मानसी	592	6	7
कुल	1,214	34	13

	वर्ष 1871		
	किसान	खेतिहर मजदूर	गैर खेतिहर मजदूर
किरंडुल	128	-	149
बचेली	355	30	38
कोडेनार	42	7	775
मानसी	177	47	171
कुल	702	84	1,133

स्रोतः जनगणना रिपोर्ट, 1971

3. देश के आदिवासी किसानों-मजदूरों की आबादी में प्रतिशत वृद्धि-कमी की तुलनात्मक स्थिति

	वर्ष 1961	वर्ष 1971
1. किसान	68.15	57.06
2. खेतिहर मजदूर	19.73	33.00

4. मध्य प्रदेश के आदिवासी किसानों मजदूरों की आबादी में प्रतिशत वृद्धि-कमी की तुलनात्मक स्थिति

	वर्ष 1961	वर्ष 1971
1. किसान	72.45	62.02
2. खेतिहर मजदूर	20.43	30.02

संदर्भ सूची

1. आदिवासियों में भू-संक्रमण, बस्तर के पूर्व जिला अधिकारी प्रदीप वैजल की अप्रकाशित रिपोर्ट.
2. जनगणना रिपोर्ट—1951, 1961 एवं 1971.
3. बह्मदेव शर्मा, औद्योगिक परिसर और उनकी आदिवासी पृष्ठभूमि तथा अत्यंत पिछड़े आदिवासी क्षेत्र का आर्थिक विकास.
4. रामशरण जोशी, 'ट्राइबल्स आफ बस्तर हार्ल्टिंग चेंज', लिंक, 18 अप्रैल 1976.
5. रामशरण जोशी, पोलिटिक्स आफ टिंबर ट्रेड आफ बस्तर', इकोनोमिक एंड पोलिटिकल वीवली, 13 नवंबर 1976.
6. दूबे तथा रत्ना मुर्डिया, लैंड एलिनियेशन एंड रिस्टोरेशन इन ट्राइबल कम्युनिटीज इन इंडिया.
7. वी. एल्विन, माड़िया मर्डर एंड सुइसाइड.
8. रामशरण जोशी, 'भू-लूट,' दिनमान, 23 मार्च 1977.
9. रामशरण जोशी, 'एलिनियेशन आफ ट्राइबल लैंड,' लिंक, विशेषांक, 26 जनवरी 1977.
10. दंतेवाड़ा परियोजना रिपोर्ट, खंड I, 1976.

तीन

कालाहांडी के अंधेरे खोखल में

'उत्पीड़क जितना अधिक उत्पीड़ितों को नियंत्रित करते हैं,
उतना ही अधिक वे उन्हें
निर्जीव वस्तु में बदलते हैं।'

पाओलो फ्रेरे, फेडागोजी ऑफ द आप्रेस्ड

अगर दरिद्र अपने को 'सुखवासी' कहें तो वह स्थिति हास्यास्पद दिखेगी, कोई अबूझ पहेली या फिर दोनों का मिश्रित भाव होगा। लेकिन कालाहांडी के दरिद्रों के लिए यह एक ठोस यथार्थ है। वे इस सुखवासी बोध से चिपके अनंत काल से जीते चले आए हैं। उड़ीसा के इस जिले में हरिजन और आदिवासी भूमिहीन सुखवासी कहे जाते हैं। वास्तव में यहां के देहातों में कृषि की रीढ़ समझे जाने वाले सारे भूमिहीन श्रमिकों को सुखवासी नाम से सवर्ण हिंदुओं द्वारा पुकारा जाता है। 'खामोशी की संस्कृति' ने इन चीथड़ों के स्वामियों को चारों ओर से घेर रखा है। निर्धनता का उपहास करने वाले इस शब्दाडंबर से वे प्रसन्न हैं। कालाहांडी की विशेषता यही विडंबना है। कालाहांडी के समाज के घने विराट पेड़ के अंधे, बदबूदार खोखल में ये निर्धन 'सुख' का अनुभव करते हैं क्योंकि सवर्णों की मूल्य व्यवस्था ने इनकी बोधक्षमता ही कुंठित कर दी है। कालाहांडी जिले की अनेक विशिष्टताओं में से यह एक विडंबनापूर्ण विशिष्टता है।

यहां की ग्रामीण आबादी वाले समाज की संरचना में एक और विशेषता दीखती है कि वहां विभिन्न घटकों के बीच विभाजन स्पष्ट है। देश के दूसरे हिस्सों की स्थिति से उलट यहां समाज के दो ध्रुवों जमींदार तथा भूमिहीनों या बंधुआ मजदूरों के बीच कोई मध्यम वर्ग या विलगित वर्ग अस्तित्व में नहीं है। कालाहांडी के गांवों की यह विशेषता है कि यहां के सामाजिक-आर्थिक बुनावट के सिर्फ दो ही स्तर हैं—उत्पादक और परजीवी वर्ग। गांवों में इन दो वर्गों के बीच अंतर और दूरी को स्पष्ट देखा जा सकता है। दोनों वर्गों की रिहाइश के बीच की दूरी सुखवासियों और सवर्ण हिंदुओं के समाज के बीच की खाई को बतला

इस अध्याय के लिखने में सहयोग देने के लिए लेखक संबलपुर विश्वविद्यालय के श्री एस. त्रिपाठी और उनके सहयोगियों के प्रति आभारी है।

देती है। ये सुखवासी आम तौर पर गांव के सिवान पर बने सुअरबाड़े जैसे घरों में रहते हैं। वहीं जमींदारों के रिहाइशी इलाके में बिजली, पानी, स्कूल, डाकघर, दुकानें आदि सभी सहूलियतें मौजूद मिलेंगी। सुखवासियों को सवर्णों की बस्ती से गुजरने नहीं दिया जाता। यहां तक कि उनके लिए साफ सुथरे कपड़ों का प्रयोग भी निषिद्ध है। वे मंदिरों में नहीं जा सकते। सवर्ण के सामने आते ही उसे करबद्ध होकर अपना सिर झुकाना पड़ता है। तब वह गोंटिया (सवर्ण जमींदार यहां गोंटिया कहे जाते हैं) उसे घृणा से देखकर कृतार्थ करता है। 'श्रद्धा' से झुका सुखवासी अपने पांवों पर दृष्टि जमाए रखता है। गोटिया तथा साहूकारों द्वारा सुखवासियों का दमन और उत्पीड़न उनकी शक्तिहीनता से स्पष्ट दीखता है। स्थिति की विडंबना देखिए कि असहायता, शक्तिहीनता और पीड़ा उनके लिए यथार्थ नहीं बल्कि एक प्रति-यथार्थ है जिसके चलते वे दोनों समाजों की ठोस वास्तविकता को अनदेखा कर अपने आपको 'सुखवासी' कहते हैं। यह सुखवासी बोध उनमें इतना घर कर चुका है कि कालाहांडी की धरा के तलछट ये लोग लौकिक व परलौकिक आनंद की अनुभूति करते हैं।

उपर्युक्त अनुभवों का स्रोत शिविर-आयोजन के पूर्व किया गया सर्वेक्षण है। इसके अतिरिक्त जिला मुख्यालय भवानीपटनम में आयोजित ग्रामीण श्रमिक शिविर के अनुभव भी इसमें हैं। बहुत ही खुले माहौल में चार अनुसूचित जाति एवं जनजाति की स्त्रियों समेत 81 बंधुआ तथा भूमिहीन श्रमिकों ने शिविर में हिस्सा लिया। वे निडर होकर अपनी परेशानी बताते रहे। इस शिविर का आयोजन राष्ट्रीय श्रम संस्थान ने अनुग्रह नारायण समाज अध्ययन संस्थान, पटना तथा संबलपुर विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग के अतिथि शोधार्थियों के सहयोग से किया था।

उड़ीसा में आयोजित यह दूसरा शिविर था। पहला शिविर 1976 में नरानगढ़ में आयोजित किया गया था।[1]

पृष्ठभूमि

कालाहांडी उड़ीसा के दक्षिणी पश्चिमी क्षेत्र में स्थित है। इसकी उत्तरी सीमा मध्य प्रदेश के रायपुर जिला तथा उड़ीसा के बोलनगीर जिला से लगती है। 5,057 वर्गमील श्रेत्रफल वाले इस जिले में 1,536 वर्गमील जंगली क्षेत्र है।[2] इस जिले में तीन सब-डिवीजन हैं : (1) सदर, (2) धर्मगढ़, और (3) नवापाड़ा। इन्हें पांच तहसीलों में बांटा गया है : (1) कालाहांडी-1, (2) धर्मगढ़, (3) कालाहांडी-2, (4) नवापाड़ा-1, और (5) नवपाड़ा-2।

शिविर-पूर्व सर्वेक्षण

स्थिति का जायजा लेने के लिए दो तरह के गांवों को चुना गया। 15 गांवों का सर्वेक्षण

शोधार्थियों की टोली ने किया। श्रम शक्ति के जमाव को आधार मानकर गांवों को निम्न श्रेणियों में बांट दिया गया था : (क) जनजाति बहुल गांव, और (ख) गैर-जनजाति बहुल गांव। इन गांवों की भी दो श्रेणियां थीं : (1) सड़क किनारे बसे गांव, तथा (2) दूरदराज में स्थित गांव।

सर्वेक्षण के दौरान 200 लोगों से संपर्क साधा गया। इनमें से 42 का साक्षात्कार लिया गया जबकि 81 को श्रमिक शिविर में हिस्सा लेने के लिए चुना गया। सर्वेक्षण के दौरान उनसे बंधुआपन, कर्ज, मजदूरी, काम की स्थिति आदि से जुड़े सवाल पूछे गए थे। शिविर में शिरकत करने वाले अधिकांश लोग बंधुआ श्रमिक थे और वे हरिजन थे। पिछड़ी जाति के लोगों का साक्षात्कार भी लिया गया।

सामाजिक-आर्थिक स्थिति

विभिन्न गांवों में भौगोलिक-सामाजिक अंतर के बावजूद इन साक्षात्कारों से निम्नलिखित आम समस्याएं उजागर हुईं :

1. बंधुआ प्रथा
2. विलगन
3. सूदखोरी
4. भुखमरी के स्तर की आर्थिक अवस्था
5. गोंटिया प्रथा की निरंतरता
6. सरकार तथा श्रमिकों के बीच संवादहीनता
7. अल्प आय, और
8. रोजगार के अवसरों में कमी।

ये समस्याएं गुलाम भारत में थीं और आज भी हैं। इससे स्पष्ट है कि आजादी के बाद भी कालाहांडी के लोगों के जीवन में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं आया है। बहुसंख्यक आबादी गरीबी की रेखा के नीचे रह रही है और उन्हें बंधुआ जीवन जीने को मजूबर कर दिया है। पूरे जिले में बेगारी प्रथा व्याप्त है। श्रमिकों से काम लेने का सबसे भौंडा तरीका यहां देखा जा सकता है। महज 10 रुपए के लिए एक आठ साल के बच्चे को खटना पड़ता है।

एक तरह से देखें तो कालाहांडी उड़ीसा के सबसे पिछड़े तीन और जिलों कोरापुट, बोलनगीर तथा फुलबनी से किसी तरह भिन्न नहीं है। सारी गरीबी जैसे यहीं आकर सिमट गई है। इससे लगता है कि आजादी के तीस वर्ष बाद भी यहां के भूमि संबंधों में कोई उल्लेखनीय बदलाव नहीं आया है। इस जिले पर अकाल और भुखमरी की काली छाया मंडराती ही रहती है। छठे दशक[3] में पड़े अकाल ने तो 1898 और 1900 के महा अकाल[4]

की याद ताजा कर दी जिसमें जिले के, विशेषकर नवापाड़ा के, सैकड़ों लोग भूख* से मर गए थे।

बंधुआ बेगारी और गोंटिया प्रथा

बंधुआ बेगारी और गोंटिया प्रथा आज भी जारी है। इससे किसी को भी यह शक नहीं होता कि परंपरागत सामंती तत्वों की पकड़ ग्रामीण समाज पर आज मजबूत नहीं है। वास्तव में प्रशासन द्वारा समय-समय पर आदिवासियों तथा हरिजनों को शोषण से मुक्त करने के उपायों का मनोवांछित फल कभी नहीं मिला।

वास्तव में सरकार ने 1921 में बाहाबांध (बंधुआ) तथा 1923 में बेथी (बेगारी) प्रथा को अवैध घोषित कर दिया था। लेकिन समय और परिस्थिति के अनुसार रूप बदलकर ये प्रथाएं आज भी जारी हैं।

सर्वेक्षण के दौरान यह पाया गया कि बेगार और बंधुआ प्रथा पूरे जोर-शोर से चल रही है और सभी तहसीलों में यह व्याप्त है। सुदूर गांव भी इससे मुक्त नहीं है। चंपादयपुर तथा लांजीगढ़ जैसे दूरस्थ गांवों में भी यह प्रथा जारी है। गैर सरकारी अनुमानों के अनुसार लांजीगढ़ प्रखंड के गैर आदिवासी सवर्ण जमीदारों ने 40-45 लोगों को बंधुआ बना रखा है। पंचायत समिति के एक पूर्व प्रधान के यहां 16 से 45 वर्ष के छः लोग बंधुआ हैं। एक बंधुआ श्रमिक हमें यह सूचना देता है। वह स्वयं भी बचपन से इस प्रथा का शिकार है।

सड़क किनारे बसे अथवा तहसील मुख्यालय, प्रखंड कार्यालय या जिला मुख्यालय के पास के गांव भी बंधुआ प्रथा से मुक्त नहीं है।

बंधुआ प्रथा किस कदर व्याप्त है, यह गांवों की भौगोलिक स्थिति पर निर्भर करता है। सड़क किनारे बसे गांवों तक शोषक की पहुंच अधिक है लिहाजा उन गांवों में यह प्रथा अधिक प्रचलित है। पिछड़े और सुदूर गांवों के मुकाबले विकसित इलाकों में यह प्रथा अधिक व्यापक है। कारलावाड़ी, घाटापाड़ा, कशुरपाड़ा, बल्दियामल जैसे विकसित गांवों, जहां प्रशासन की पकड़ मजबूत है तथा जो सड़कों के कारण आर्थिक गतिविधियों के आर्थिक केंद्रों से अधिक निकट है, में मुक्त श्रमिकों के मुकाबले बंधुआ श्रमिकों की संख्या अधिक है। वास्तव में जो गांव जितना विकसित है, बंधुआ श्रम शक्ति द्वारा उत्पादित अधिशेष का शोषण उतना ही अधिक है।

यह पाया गया कि अधिकांश क्षेत्रों में कानून की द्वैध स्थिति है। कानून कुछ है, व्यवहार में कुछ। 1947 में रियासतों की समाप्ति के बावजूद आधुनिक प्रशासन अभी भी समाज

---

* पिछले पंद्रह वर्षों के दौरान भी इस जिले में भूख-मृत्यु की कई खबरें समाचारपत्रों में छप चुकी हैं। विधानसभा और संसद में भी हंगामा हो चुका है। भुवनेश्वर और नई दिल्ली में सरकार-परिवर्तनों के बावजूद यहां की भुखमरी की स्थिति में कोई गुणात्मक बदलाव नहीं आया है।

के परंपरागत उत्पीड़ितों तथा शोषकों तक पहुंच नहीं पाया है। वास्तविकता यह है कि सामंतवादी शक्तियों की पारंपरिक बनावट ग्रामीण इलाकों में अभी भी मजबूत है। हरिजनों और आदिवासियों द्वारा उत्पादित अधिशेष को लूटने में कानून उनके आड़े नहीं आता है।

यद्यपि 1956 में गोंटिया प्रथा को कानूनी रूप से समाप्त कर दिया गया था। परंतु, सचाई यह है कि वह आज भी पूरी तरह से जीवित है।[7] अधिकांश गोंटिया ब्राह्मण, ठाकुर और ऊंची जातियों से हैं। श्रमिकों को आंतकित कर वे शोषण के परंपरागत औजारों को अक्षुण्ण रखते हैं ओर देहात की आर्थिक गतिविधियों पर अपना नियंत्रण बनाए हुए हैं। उन्हें कानून के लागू हो जाने की आशंका भी नहीं है। कुछ गैर आदिवासी गांवों में तो यह देखा गया कि गोंटिया लोगों के पास 400-500 बीघा तक जमीन है। अधिकांश जमीन पर स्वामित्व बेनामी है।

हरिजनों और आदिवासियों को 'प्रजा' बनाए रखने के लिए गोंटियाओं ने ग्रामीण इलाकों की स्थानीय राजनीतिक व्यवस्था में गहरी पैठ बना ली है। यहां तक कि हरिजनों की बहुलता वाले गांवों की पंचायतों में भी ऊंचे पदों पर वही बैठे हैं। ग्राम पंचायतों तथा प्रखंड स्तर के दफ्तरों में गोंटिया वर्ग की गहरी घुसपैठ है।

आम तौर पर यह माना जाता है कि आधुनिक कृषि के प्रसार के साथ कृषि श्रमिकों की जमींदारों पर पारंपरिक निर्भरता स्वयं समाप्त हो जाएगी। लेकिन सर्वेक्षण के दौरान इसका भेद खुला। व्यापक स्तर पर ट्रैक्टरों के प्रयोग के बावजूद कृषि संबंधों में रत्ती भर फर्क नहीं आया है। अनेक गोंटिया और अन्य सवर्ण हिंदू जमींदारों के पास ट्रैक्टर हैं। वे रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशकों और कृषि के उन्नत तरीकों का उपयोग करते हैं। लेकिन वे ग्रामीण उत्पादक शक्तियों तथा भूस्वामियों के बीच चले आ रहे संबंधों में कोई परिवर्तन आने देने के लिए तैयार नहीं हैं। पिछले 30-40 वर्षों में मजदूरी नहीं बढ़ाई गई। आदिवासियों और हरिजनों के बीच भू-विस्थापन बढ़ा है। गोंटिया वर्ग ने हरिजनों और आदिवासियों को उनकी जमीनों से बेदखल कर दिया है।

कुछ गांवों में तो यह भी देखने को मिला कि भूस्वामी की आज्ञा के बिना वे गांव की सरहद नहीं पार कर सकते। उन्हें गांव से बाहर जाने के लिए भूस्वामी की आज्ञा लेनी जरूरी है।

आदिवासी बनाम हरिजन

आदिवासियों की तुलना में हरिजन बंधुआ प्रथा के शिकार जल्दी बनते हैं। जंगल से घनिष्ठता के चलते आदिवासी जिंदा रहने के लिए अपना विकल्प ढूंढ़ लेते हैं। वे स्वतंत्रता के आदी रहे हैं। वे अपना काम करने में विश्वास रखते हैं जबकि हरिजन पारंपरिक रूप से दूसरों के लिए काम करते रहे हैं। यह देखा गया कि कर्ज लेने वाला आदिवासी साहूकार के यहां काम कर या वनोपज को साहूकार के यहां बेचकर ऋण चुका देता है। समेकित आदिवासी

विकास परियोजना के अंतर्गत चलाई जा रही विकास गतिविधियों के चलते रोजगार के अवसर बढ़े हैं फलस्वरूप आदिवासियों की भूस्वामियों पर जीविकोपार्जन की निर्भरता घटी है। एक समरस समाज होने के चलते उन्हें गैर-आदिवासी क्षेत्रों में भी जीविका के अतिरिक्त साधन जुटाने की जरूरत नहीं पड़ती। लिहाजा हरिजनों की तुलना में आदिवासी श्रमिकों को अपने इलाके से बाहर जाकर रोजी कमाने की जरूरत कम पड़ती है।

उन आदिवासी क्षेत्रों में, जहां बहिरागतों की पैठ है, स्थिति उन गांवों से बिलकुल भिन्न है जहां सवर्ण हिंदू आदिवासियों की पारंपरिक सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में मामूली दखल रखते हैं। जिन गांवों के अधिक श्रमिक बाहर जाकर रोजी कमाते हैं, वहां बंधुआ श्रमिकों (इन्हें होलिया कहा जाता है) की संख्या अधिक है। वैसे समेकित आदिवासी विकास परियोजना वाले क्षेत्रों में होलिया प्रथा की समाप्ति का दावा किया जाता है,[8] लेकिन सचाई यह है कि समस्या की गुत्थी अभी भी उलझी है। ऐसी परियोजना वाले गांवों में आदिवासी फिर से होलिया बन गए हैं। उनकी जमीनें बहिरागतों ने हथिया ली हैं। वे भूमिहीन बनकर रह गए हैं। ऐसी स्थिति में रोजी-रोटी के लिए दो ही विकल्प बचते हैं; वे शहरी क्षेत्रों में कमाने चले जाएं या होलिया बन जाएं।

जंगल और पहाड़ी क्षेत्रों में रहने वाले आदिवासियों की स्थिति मैदानी इलाके के आदिवासियों से भिन्न है। मैदानी इलाकों में मिश्रित आबादी है। यहां भी आदिवासी बड़ी संख्या में होलिया बने हुए हैं। शहरी क्षेत्र से लगे मिश्रित आबादी वाले गांवों में आदिवासियों को हरिजनों की तरह ही 'समाज का तलछट' समझा जाता है। इन गांवों में आदिवासियों और हरिजनों के बीच सामाजिक-आर्थिक अंतर नहीं दीखता। बंधुआ मजदूरी और दिहाड़ी पर काम करना, ये ही रोजी के साधन हैं। सवर्ण हिंदू ही दोनों को रोजगार देता है।

वैसे आधिकारिक रूप से इस जिले में अछूत प्रथा का नामोनिशान मिटा दिया गया है, लेकिन व्यवहार में सर्वत्र व्याप्त है। आम तौर पर गांवों में आदिवासियों को गांव के आखिरी छोर पर जूठन की तरह बसाया गया है। सवर्ण हिंदुओं के कुओं से वे पानी नहीं भर सकते। हालांकि हरिजन सवर्णों के खेतों में काम करते हैं लेकिन वे उनके घरों में घुस नहीं सकते। घरेलू काम के लिए पिछड़ी जाति के श्रमिकों को लगाया जाता है। कुछ गांवों में आदिवासी घरेलू कामों में भी लगाए जाते हैं। अस्पृश्यता की समस्या उन गांवों में गंभीर है जहां सवर्णों की बहुलता है और जो गांव शहरी क्षेत्र के करीब हैं। अस्पृश्यता के चलते आधुनिक शिक्षा का लाभ भी हरिजनों को नहीं मिल पाता। हरिजनों में यह आम शिकायत मिली कि उनके बच्चों को स्कूल में दाखिला लेने पर परेशान किया जाता है, यहां तक कि उन्हें खुलेआम धमकाया जाता है। सच तो यह है कि हरिजनों के अधिकांश बच्चों को छोटी उम्र में ही होलिया बना दिया जाता है। भूस्वामियों के लिए बालश्रमिक सबसे सस्ता जिंस होता है।

हरिजनों और आदिवासी गांवों की भौगोलिक स्थिति भी उनके बीच समानताओं और असमानताओं को निर्धारित करती है। उनके बीच निम्नलिखित समानताएं और असमानताएं हैं :

आदिवासी बनाम हरिजन गांव

समानताएं

आदिवासी गांव	हरिजन गांव
1. बंधुआ मजदूरी	1. बंधुआ मजदूरी
2. भूमि विस्थापन (भूविलगन)	2. भूमि विस्थापन
3. सूदखोरी	3. सूदखोरी
4. रोजगार के सीमित अवसर	4. रोजगार के सीमित अवसर
5. मामूली दिहाड़ी	5. मामूली दिहाड़ी
6. अशिक्षा	6. अशिक्षा

मजदूरी की स्थिति

आय के निम्न स्तर तथा पिछड़ी कृषि पर आबादी की निर्भरता से कालाहांडी का पिछड़ापन झांकता है। गरीबी और पिछड़ापन के लक्षणों में पिछले दो दशक में कोई परिवर्तन नहीं आया है। कृषि में मजदूरी की दर बहुत कम है जिसके चलते श्रमिक बाहर काम करने चले जाते हैं और बंधुआ प्रथा और मजबूत होती है। नीचे दी गई तालिका से मजदूरी की स्थिति स्पष्ट होती है :

तालिका 1 : उम्र बनाम बंधुआ-अवधि तथा मजदूरी

उम्र	सर्वेक्षण में शामिल मजदूर	बंधुआ अवधि	औसत मजदूरी* प्रति वर्ष
8-15	11	2 (1-4)	98 (10-300)
16-30	18	19 (1-20)	98 (30-400)
31-45	10	16 (1-40)	40 (30-80)
45 वर्ष से ऊपर	3	7 (1-10)	50 (50)

* वस्तु के रूप में दी गई मजदूरी (दो जून भोजन, अनाज, वस्त्र आदि) इसमें शामिल नहीं है)

हरिजन बनाम आदिवासी गांव

असमानताएं

आदिवासी	हरिजन
1. बंधुआ श्रमिकों की निम्न संख्या	1. बंधुआ श्रमिकों की अधिक संख्या
2. भूमिहीनों का कम प्रतिशत	2. भूमिहीनों का प्रतिशत अधिक
3. आजीविका की अच्छी व्यवस्था तथा भुखमरी के दिन कम	3. आजीविका की बुरी व्यवस्था तथा भुखमरी के दिन अधिक
4. अधिक आत्मनिर्भरता	4. हरिजनों पर गोंटिया तथा सवर्ण हिंदुओं का कड़ा नियंत्रण
5. आजीविका के लिए प्राकृतिक संसाधनों पर अधिक निर्भर	5. कृषि से संबंधित कार्य पर आजीविका के लिए निर्भरता
6. वनोपज से आय	6. कर्ज की अधिकता
7. अधिक समरस समाज	7. अस्पृश्यता
8. सीमित विश्व दृष्टि	8. व्यापक विश्व दृष्टि
	9. सामाजिक जागरूकता तथा मुद्दों पर सक्रियता अधिक -
	10. सामाजिक आर्थिक विवाद अधिक

तालिका 1 से स्पष्ट है कि औसत मजदूरी की स्थिति कितनी दयनीय है। मजदूरी की न्यूनतम सीमा 10 रुपए और अधिक सीमा 400 रुपए सालाना है। यदि इस सीमा 400 रुपए का विश्लेषण किया जाए तो मजदूरी की दर लगभग एक रुपए 10 पैसे प्रतिदिन होगी। यदि न्यूनतम सीमा 10 रुपए के संबंध में सोचा जाए तो दैनिक मजदूरी अपना अर्थ ही खो बैठेगी।

मजदूरी में लगे समय की दृष्टि से देखें तो मजदूरी में मिले नकद भुगतान का मूल्य और भी कम निकलेगा। एक होलिया अपने मालिक की सेवा 24 घंटे करने के लिए बाध्य है। यदि काम समय कम से कम भी माना जाए तो उसे मालिक से मिली मजदूरी इतनी कम होगी कि उस पर विचार करना निरर्थक है।

संक्षेप में संपूर्ण मजदूरी की स्थिति भी उत्साहजनक नहीं है। स्थिति को सही ढंग से समझने के लिए निम्न मजदूरी के दो उदाहरणों पर यहां चर्चा की जा सकती है। निम्नतम व उच्चतम मजदूरी (वस्तु व नकदी) के संदर्भ-में उदाहरण दिए जा रहे हैं।

एक रुपए रोज की मजदूरी

आठ वर्षीय रेसिया दीप सड़क किनारे बसे मिश्रित आबादी वाले गांव घाटपाड़ा का निवासी है। पिछले एक साल से वह बंधुआ है। उसका सवर्ण मालिक उसे साल में 10 रुपए देता है। इसके अलावा उसे दो जून का भोजन तथा कपड़े (दो नेकर और एक कमीज) मिलते हैं। पूरे साल की उसकी यही मजदूरी है।

समग्र मजदूरी की गणना करने के लिए हमें मजदूरी के एवज में दिए गए जिंसों का मूल्य निकालना पड़ेगा। सवेरे में उसे 100-150 ग्राम चावल भात और 20-30 ग्राम दाल दिया जाता है। कभी कभी साग-भाजी भी मिल जाती है। लेकिन वह आम तौर पर जंगलों में पाई जाने वाली सब्जी होती है। शाम में उसे चावल से बना मांड भात, प्याज या कोई और सब्जी दी जाती है। उसे मिलने वाले भोजन की कीमत यों होगी :

तालिका 2 : मजदूरी में मिले भोजन का नकद मूल्य

भोजन सामग्री	मात्रा (ग्राम में)	मूल्य* (रुपए में)
1. भात	100-125 ग्राम	0.20
2. दाल	25 ग्राम	0.10
3. सब्जी	50 ग्राम	0.10
4. मसाले आदि		0.10
कुल	200 ग्राम	0.50
दो जून भोजन का मूल्य : 1 रुपया		

* चावल की प्रति किलोग्राम दर 1.50 रुपए
दाल की प्रति किलोग्राम दर 3.50 रुपए
सब्जी की प्रति किलोग्राम दर 1.25 रुपए

कई बार उसे वासी भोजन दे दिया जाता है। सप्ताह में कम से कम दो दिन उसे भूखे रहना पड़ता है। सच तो यह है कि बंधुआ मजदूरों को आम शिकायत है कि खराब खाना दिया जाता है जो जानवरों को खिलाने लायक होता है।

अगर हम इन सभी बातों को ध्यान में रखें तो भोजन का मूल्य और भी कम हो जाएगा। दीप के मालिक को महज 80-90 पैसे उसके खाने पर खर्च करने पड़ेंगे। कुछ उदारता से काम लें तब भी भोजन का मूल्य एक रुपए से अधिक नहीं बैठेगा। इस प्रकार पूरे वर्ष के भोजन का मूल्य 365 रुपए होगा। लेकिन महीने में कम से कम तीन दिन यानी साल

में उसे 36 दिन भूखा रहना पड़ता है।

इस प्रकार दीप को वर्ष में 329 दिन मिले दो जून भोजन का मूल्य 658 रुपए होगा। इस प्रकार दीप की वार्षिक सकल मजदूरी 364 रुपए होगी।

मद	मूल्य
नकद	10.00 प्रति वर्ष
भोजन	329.00
वस्त्र	25.00
कुल	364.00

इस तरह उसकी मजदूरी एक रुपया रोज होती है। अगर काम में लगाए घंटे, बीमारी के दौरान मजदूरी का न मिलना आदि को भी इसमें शामिल करें तो यह मामूली मजदूरी भी निरर्थक लगेगी। दीप को 12-14 घंटे रोज काम करना पड़ता है। उसे मालिक के घर पर ही रहना होता है ताकि सुबह-शाम उसके मवेशियों को चारा खिला सके।

सीमांचल पत्री की सीमा

30 साल का सीमांचल पत्री 15 वर्षों से बंधुआ है। वह लांजीगढ़ प्रखंड के एक सुदूर गांव में एक सवर्ण मालिक की सेवा करता है। साल में 200 रुपए नकद के साथ प्रति सप्ताह सात मन (1 मन = तीन किलो) धान तथा वस्त्र मिलते हैं। मालिक के यहां उसे भोजन नहीं मिलता। मजदूरी का अधिकांश हिस्सा वस्तुओं में दिया जाता है। आइए, उसकी मजदूरी की गणना करके देखें।

इक्कीस किलोग्राम प्रति सप्ताह की दर से पत्री को 1,008 किलोग्राम धान वर्ष भर में मिलता है। कुटाई के बाद उससे 504 किलोग्राम चावल निकलेगा। यदि धान की किस्म अच्छी न हो तो चावल और भी कम निकलेगा। स्थानीय बाजार भाव के अनुसार चावल की कीमत 1.50 रुपए प्रति किलोग्राम बैठती है। वैसे मूल्य में 1-1.50 रुपए के बीच घट-बढ़ भी होती रहती है। अच्छे किस्म के धान के चावल की कीमत 1.75 से 2.00 रुपए प्रति किलोग्राम के बीच होती है। वैसे बाजार में बेचे जाने वाले धान और मजदूरी में दिए जाने वाले धान की किस्म में हमेशा अंतर होता है। मजदूरों को हमेशा धान की खराब किस्म मजदूरी में दी जाती है। इसलिए 504 किलोग्राम चावल का बाजार मूल्य 1.50 रुपए प्रति किलोग्राम की दर से 756 रुपए होगा। उसकी सकल वार्षिक मजदूरी निम्नलिखित होगी :

नकद	200.00 रुपए
वस्तु (धान)	756.00 रुपए
तीन वस्त्र	30.00 रुपए
कुल	986 रुपए प्रति वर्ष

अथवा

दैनिक मजदूरी	2.71 रुपए
साप्ताहिक मजदूरी	20.50 रुपए
मासिक मजदूरी	82.00 रुपए
वार्षिक मजदूरी	984.00 रुपए

2.71 रुपए दैनिक मजदूरी की दर आकर्षक लग सकती है। लोग भवानीपटनम या केशिंगा के शहरी क्षेत्र के मजदूरों की दैनिक मजदूरी से तुलना भी कर सकते हैं। लेकिन सचाई वास्तविकता से भिन्न है।

फसल कटाई के बाद चार महिनों तक (मध्य फरवरी से जून तक) उसे काम से हटा दिया जाता है। नतीजतन वह बगैर काम के पूरे चार महीने घर बैठा रहता है और इस अवधि में मालिक उसे कोई मजदूरी नहीं देता।

फिर भी इन चार महीनों में वह आजाद नहीं होता। वह गांव में इधर-उधर जाने तथा काम के समय में कुछ और करने को 'स्वतंत्र' होता है। इस अवधि में उसे मजदूरी नहीं मिलती, कोई कोई मालिक उसे खाने भर अनाज (अक्सर घटिया किस्म का) दे देता है। अधिकांश मामलों में उसे बैगार में खटना पड़ता है। ऐसे मामले अर्धशहरी क्षेत्रों में अधिक पाए जाते हैं।

अगर चार महीने की बेकारी को ध्यान में रखें तो उसे आठ महीने ही मजदूरी मिलती है। अब उसकी संशोधित मजदूरी इस प्रकार होगी :

दैनिक मजदूरी	1.80 रुपए
साप्ताहिक मजदूरी	13.20 रुपए
मासिक मजदूरी	54.10 रुपए
वार्षिक मजदूरी	684.00 रुपए

चार महीने की 'स्वतंत्रता' के चलते उसकी मजदूरी में 20 प्रतिशत की कमी आ जाती है। बीमारी या अन्य घरेलू कारणों से जब श्रमिक काम पर नहीं जा पाता तो उसकी मजदूरी और घट जाती है। इसीलिए अत्यधिक परिश्रम तथा कुपोषण के चलते अधिकांश बंधुआ मजदूर शारीरिक रूप से कमजोर हैं। संक्षेप में, उसकी मजदूरी किसी भी स्थिति में दैनिक

1.50 रुपए से अधिक नहीं होती।

कई मामलों में यह भी देखा गया कि एक व्यक्ति की मजदूरी के एवज में पूरा परिवार ही बंधुआ बना हुआ है। वास्तव में देहातों में ऐसी प्रथा आम है। यदि एक परिवार यानी एक पुरुष, एक स्त्री या एक बच्चे की मजदूरी का ध्यान में रखें तो उसकी मजदूरी 50 से 75 पैसे से अधिक नहीं बैठती।

भिन्न भू-सामाजिक स्थितियों में मजदूरी में असमानताएं

मजदूरी में असमानता का एक कारण गावों की भू-सामाजिक स्थिति भी है। दूरस्थ गांवों में सकल मजदूरी सड़क किनारे बसे गांवों की तुलना में अधिक है। यह आगे दी गई तालिका 3 से स्पष्ट है :

तालिका 3 : औसत वार्षिक मजदूरी (नकद एवं वस्तुएं)

श्रमिक आयु-वर्ग	दूरस्थ और आदिवासी प्रधान गांव	हरिजन बाहुल्य वाला सड़क से लगा गांव
8-15	292 रु.	213 रु.
16-30	463 रु.	363 रु.
31-45	622 रु.	458 रु.
45 से अधिक	565 रु.	220 रु.

उपर्युक्त तालिका 3 से स्पष्ट है कि नकद एवं वस्तुओं में प्राप्त कुल संयुक्त श्रम दर उड़ीसा सरकार द्वारा निश्चित न्यूनतम् दर 4 रुपए प्रतिदिन से काफी कम है। यहां तक कि कुल मजदूरी की अधिकतम सीमा 622 रुपए का विश्लेषण करने पर मुश्किल से 2 रुपए प्रतिदिन मजदूरी बैठती है। विकसित या सड़क किनारे बसे गांवों की स्थिति और भी खराब है। इन गांवों में मासिक मजदूरी 18 से 38 रुपए के बीच आती है, यानी प्रतिदिन एक रुपए 25 पैसे। दूसरे शब्दों में विकसित एवं उन्नत क्षेत्रों के गांवों में शोषण अधिक है। जबकि योजना आयोजकों का दावा रहा है कि गांवों के आधुनिकीकरण और विकसित कृषि के साथ-साथ श्रमिकों की स्थिति में भी सुधार होगा, आमदनी में वृद्धि होगी।

मजदूरी की दरों के विश्लेषण से कालाहांडी में कृषि श्रमिकों में बढ़ती दरिद्रता की स्थिति का प्रमाण मिलता है। सच तो यह है कि महंगाई बढ़ने के साथ-साथ कृषि श्रमिकों की मजदूरी का वास्तविक मूल्य पिछले 30 सालों में लगातार गिरता गया है।

तीन दशक पूर्व, कालाहांडी के गांवों में एक होलिया की वार्षिक मजदूरी 113 से 171 रुपए के बीच थी। बाल होलिया की 39 रुपए प्रति वर्ष थी। उस जमाने में एक होलिया

को वर्ष के प्रारंभ में 20-30 रुपए तक का अग्रिम दिया जाता था जिसे उसकी मजदूरी में समायोजित कर लिया जाता था। अब यह रकम 400 रुपए हो गई है। वास्तव में यह अग्रिम राशि श्रमिक को बंधुआ बनाए रखने में अहम भूमिका अदा करती है। यह अग्रिम राशि एक प्रकार का कर्ज होजी है। उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि मजदूरी लगातार घटती जा रही है और बढ़ती महंगाई के साथ उसका कोई तालमेल नहीं रहा है।

शिविर के अनुभव

राष्ट्रीय श्रम संस्थान का ऐसा प्रयास रहा है कि श्रम शिविरों में भाग लेने वाले श्रमिक खुद ही अपने बारे में बताएं, समस्याओं पर विचार करें और दूसरों की समस्याओं पर भी सोचें। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शिविर में ऐसा वातावरण बनाया जाता है कि वे मुक्त, निडर और खुलेपन के साथ अपने साथियों से विमर्श करें साथ ही शिविर के आयोजकों, अधिकारियों तथा राजनेताओं से भी विमर्श करें। इस बार भी संस्थान के शोधार्थी दल ने इसी पद्धति को अपनाया था।

उनके चेहरों को देखकर ही लगता था कि ये श्रमिक 'मौन की संस्कृति' के शिकार हैं। ग्रामीण परिस्थिति में कोई भी परिवर्तन उन्हें स्वीकार नहीं था। शिविर के उद्देश्य और लक्ष्य को लेकर उनकी मन में कई आशंकाएं थीं, इसीलिए 'मौन की संस्कृति' को 'बलपूर्वक कहने की संस्कृति' में बदलने में कई उतार-चढ़ाव से गुजरना पड़ा।

प्रारंभ में शिविर में आए श्रमिकों, जो कभी ऐसे शिविर से परिचित नहीं थे, के मन में आयोजकों के उद्देश्य को लेकर कई प्रकार की शंकाएं थीं। एक आशंका तो यह थी कि उन्हें गुप्त रूप से किसी गुमनाम स्थान पर ले जाया जाएगा जहां उनसे मुफ्त में बेगार ली जाएगी। संभव है उन्हें ठेकेदारों के यहां बेच दिया जाएगा और वे उन्हें गुलाम बनाकर शहरों में ले जाएंगे।

सबसे आश्चर्यजनक, पीड़ाजनक और शर्मनाक आशंका यह थी कि शिविर के आयोजक आदिवासी-हरिजनों को घने जंगल में ले जाएंगे और देवी को प्रसन्न करने के लिए उनकी बलि चढ़ाई जाएगी। यह बलि इंद्रावती बांध का निर्माण सफलतापूर्वक संपन्न करने के लिए दी जाएगी। शिविर के दूसरे दिन श्रमिकों और शिविर आयोजकों में पारस्परिक सौहार्द्र एवं विश्वास बन गया था। सारी आशंकाएं निर्मूल निकलीं तो संवाद शुरू हुआ।

शिविर में शामिल श्रमिकों का वर्गीकरण

15 चुने हुए गांवों से शिविर में हिस्सा लेने आए श्रमिकों की संख्या 81 थी। इनमें चार स्त्रियां थीं। उनमें शामिल श्रमिकों को इन श्रेणियों में रखा जा सकता है :

(क) होलिया (बंधुआ श्रमिक)
(ख) सुखवासी (भूमिहीन श्रमिक)
(ग) मुलिया (अनियतकालिक श्रमिक)
(घ) छोटा चाशी (लघु किसान)

शिविर में आए श्रमिकों में अधिकतर हरिजन थे और इनमें से 70 प्रतिशत होलिया थे। आदिवासी श्रमिकों में अधिकांश की भूमि गैर-आदिवासियों ने हड़प ली थी। हरिजन श्रमिक में सारे भूमिहीन थे। इनमें से अधिकांश श्रमिक 20-40 वर्ष की आयु वर्ग में थे।

गरीबी, शोषण और उत्पीड़न का दुश्चक्र

उड़ीसा में गरीबी और शोषण तमाम भौगोलिक बाधाओं को पार कर जाते हैं। श्रम संस्थान के दल ने पाया कि कालाहांडी और उड़ीसा के तटवर्ती क्षेत्रों के श्रमिकों की स्थिति में कोई गुणात्मक अंतर नहीं है। दोनों क्षेत्रों की समस्याएं भी आम तौर पर एक जैसी हैं। ढाई साल पहले पुरी जिले में एक ऐसे ही शिविर का आयोजन किया गया था। तब से होलिया, मुलिया, छोटा चाशी तथा सुखवासियों के जीवन में कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं आया है। नारानगढ़ शिविर के दौरान बंधुआ प्रथा, कम मजदूरी, भूमिहीतना, अर्ध भुखमरी, छोटे सरकारी कर्मचारियों द्वारा शोषण आदि समस्याएं रेखांकित की गई थी।[11] वे समस्याएं कालाहांडी शिविर में भी पाई गईं। कालाहांडी शिविर के चेहरों पर गरीबी, सामाजिक उत्पीड़न, अभावग्रस्तता और बेगारी की छायाएं दीख रही थीं। अधिकांश अर्धनग्न थे। गरीबी ऐसी थी कि कुछ महिला श्रमिकों को शिविर में लाने के लिए संस्थान के दल को उन्हें तन ढकने के लिए मोटी धोतियां खरीदकर बांटनी पड़ीं। अधिकांश हड्डियों की ढांचा थीं। एक 35-40 वर्ष की स्त्री और उसकी दो वर्षीया बेटी मनुष्य के उपहास मात्र थे। वे सूअरबाड़े जैसी झोंपड़ी में रह रही थीं। हमें यह महसूस हुआ कि पुरुषों के मुकाबले स्त्रियों पर 'वंचन की संस्कृति' का असर बहुत ज्यादा था। कालाहांडी के देहातों में जितने तरह के उत्पीड़न प्रचलित थे, उन्हें सब कुछ भुगतना पड़ा था।

कृषि क्षेत्र में अधिशेष पैदा करने के सबसे बड़े श्रोत पुरुष और स्त्री दोनों तरह के श्रमिक हैं। प्रशासन के विभिन्न स्तरों के साथ गठजोड़ कर भू-स्वामियों ने श्रमिक से यह अधिवेश छीनने के हथकंडे बना लिए हैं। शिविर में शामिल कुछ श्रमिकों के अनुसार यदि कोई बेगार करने से मना करता है तो उस श्रमिक को भूस्वामी या ठेकेदार कई झूठे मुकदमों में फंसा देते हैं। श्रमिक यदि जरा भी स्वाभिमान दिखलाए तो भूस्वामी/ठेकेदार उसे सह नहीं पाते और पूरा ग्रामीण अभिजन समाज श्रमिकों के विरुद्ध हिंसक हो उठता है। शिविर के समापन के दिन घटी एक घटना से इस तथ्य पर अधिक रोशनी पड़ सकती है। जिस दिन शिविर समाप्त हुआ, गांव में कार्यरत ठेकेदारों ने घर लौटते श्रमिकों के साथ गाली

गलौज और मारपीट शुरू कर दी। सूचना मिलते ही संस्थान के दल से सदस्य घटनास्थल पर पहुंचे और स्थिति को बिगड़ने से रोका। सब-डिवीजनल आफिसर को तत्काल सूचना दी गई। एक और घटना देखिए। शिविर के दौरान ही शिविर में शामिल एक बाल होलिया के पिता आयोजकों के पास हाथ जोड़कर कहने लगे 'हमारे बच्चे को वापस भेज दो। गोंटिया गुस्सा हो रहा है। उसने हमें गालियां दी थीं। अगर वापस नहीं भेजोगे तो वह हमें पीटेगा।' काफी समझाने बुझाने के पश्चात वह उस बाल होलिया को शिविर में रहने देने पर राजी हुआ। अधिकारियों ने उस बाल होलिया की गोंटिया से पूर्ण सुरक्षा का आश्वासन दिया।

शिविर में आए श्रमिकों से आतंक और उत्पीड़न के अनेक उदाहरणों का पता चला। उन्हें शारीरिक के साथ-साथ मानसिक रूप से भी प्रताड़ित किया जाता था। उत्पीड़न वहां एक सामान्य बात है। उससे ये श्रमिक हमेशा डरे डरे रहते हैं। उनके लिए भूस्वामी की बात ही कानून है।

संक्षेप में कहें तो देहात की स्थिति और जिला प्रशासन के बीच गहरी खाई है। श्रमिकों के अनुसार प्रशासन की पकड़ समाज के निचले स्तर तक नहीं है। सवर्ण हिंदुओं के अभिजन वर्ग द्वारा नियंत्रित देहाती क्षेत्रों में न्यूनमत मजदूरी अधिनियम को लागू करने की पहल महज रस्म अदायगी भर है। शिविर-पूर्व सर्वेक्षण के दौरान कुछ ऐसे गांवों का पता चला जहां तब तक कोई सरकारी अधिकारी कभी गया ही नहीं था। गांव वालों की प्रशासन के बारे में धारणा यही है कि वह भूस्वामी की चहारदीवारी में ही सीमित रहती है।

शिविर में शामिल श्रमिकों ने बतलाया कि 1975-77 की अवधि में कालाहांडी के कृषि श्रमिकों के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने के लिए जो प्रयास किया गया था, उसका उलटा असर ही हुआ। भूस्वामी सरकारी निदेशों का खुल्लमखुल्ला उल्लंघन करते हैं। थोड़े दिनों के लिए कुछ असर हुआ था लेकिन फिर होलिया प्रथा चल पड़ी। श्रमिकों के शोषण के पुराने हथकंडे फिर आजमाए जाने लगे। कुछ क्षेत्रों में ट्रैक्टरों के आने और नकदी फसलों की खेती के बावजूद कुछ गांवों में होलिया की संख्या ज्यादा है तथा मुलिया की मजदूरी की दर बहुत कम है। संक्षेप में कहें तो कृषि में आधुनिक प्रविधि के प्रवेश के बाद भी कृषि श्रमिकों की मजदूरी नहीं बढ़ पाई है। उनकी सामाजिक आर्थिक स्थिति जैसी की तैसी है।

सात दिनों के शिविर के दौरान, श्रमिकों ने युगों से उनके जीवन को प्रभावित करने वाली छोटी बड़ी समस्याओं को चिह्नित किया और उस पर चर्चा की। समस्याओं को एकत्र करने और उनके समाधान को ढूंढ़ने का कार्य भी श्रमिकों ने स्वयं किया। वैसे अलग-अलग श्रमिकों के समूह ने अलग-अलग समस्याओं को प्राथमिकता दी। विभिन्न समूहों द्वारा चिह्नित समस्याएं पृ. 50 पर दी गई तालिका में दी गई हैं।

इन विविध समस्याओं के अलावा भी कुछ ऐसी समस्याएं हैं जो सभी समूहों द्वारा चिह्नित की गईं। ऐसी समस्याएं दो प्रकार की हैं : प्रशासनिक एवं सामाजिक। पहले प्रकार की समस्या श्रमिकों के प्रति जिला प्रशासन की प्रतिबद्धता और उसकी कार्यक्षमता से जुड़ी है। दूसरे प्रकार की समस्या श्रमिकों के उस सामाजिक जीवन से जुड़ी है जिसमें रहने के

समस्याएं

समूह क	समूह ख और ग	समूह घ
1. उत्पीड़न (पीटना, स्त्रियों को बेइज्जत करना आदि)	1. उत्पीड़न	1. भूमि की कमी
2. स्वतंत्रता एवं अन्य मानवीय आवश्यकताओं का अभाव	2. सालों भर अर्ध-भुखमरी की स्थिति	2. सिंचाई सुविधा का अभाव
3. बंधुआ प्रथा	3. अर्ध-बंधुआ प्रथा	3. खाद, बीज का अभाव
4. कर्ज	4. बेगारी	4. वित्तीय संस्थाओं की जटिल प्रक्रिया
5. मामूली मजदूरी	5. कम मजदूरी	5. बंटाईदारी में फसल में असमान हिस्से का मिलना
6. भूमि-विस्थापन	6. रोजगार की अनिश्चितता	6. ग्रामीण तथा शहरी अभिजनों द्वारा कृषि उत्पादन तथा वनोपज की कम मूल्य पर खरीद
7. काम के अनिश्चित घंटे	7. पुरुष और स्त्री के बीच असमान मजदूरी	7. शहरी क्षेत्रों में दिहाड़ी मजदूरी पर आंशिक निर्भरता
8. मालिक के घर पर रात में रहकर भी काम करना	8. भूमिहीनता	
	9. भूमि-विस्थापन	
	10. अधिक काम के लिए अलग से भुगतान नहीं	
	11. काम की तलाश में कुछ महीनों के लिए बाहर जाना	

आदी वे हो गए हैं। एक तरह से देखें तो दूसरे प्रकार की समस्याएं भी प्रत्यक्ष या अपरोक्ष रूप से प्रशासनिक व्यवस्था अर्थात ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले दलित वर्ग के विकास के लिए चयनित सामाजिक-आर्थिक प्रणाली से जुड़ी हैं। श्रमिकों द्वारा चिह्नित आम समस्याएं आगामी पृष्ठ पर दी गई हैं।

होलिया प्रथा

बंधुआ मजदूरी की तरह पुरी और गंजाम जिलों में प्रचलित 'दादान श्रमिक प्रथा' भी कालाहांडी में मौजूद है। शिविर में भाग लेने वाले हरिजन श्रमिकों ने बतलाया कि भूमिहीन और गरीब किसानों को 'कट्रेक्ट लेबर' के नाम पर दर्ज किया जाता है। बाद में उन्हें मध्य प्रदेश, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, पंजाब, बिहार तथा दक्षिण भारत के प्रदेशों में ले जाया जाता है। गांव से बाहर ले जाने से पहले उन्हें कोरे कागज पर अंगूठे का निशान लगाने के लिए मजबूर किया जाता है। बाद में उन्हें बंधक बनाकर रखा जाता है। वे वापस कालाहांडी लौटना भी चाहें, तो लौट नहीं सकते। इस प्रकार उन्हें गुलाम बनाए रखने के लिए मक्कारी भरी चालें चली जाती हैं।

होलिया प्रथा को बनाए रखने के लिए भूस्वामी भी वही हथकंडे अपनाते हैं। शिविर में आए श्रमिकों ने बताया कि होलिया बनाने के प्रारंभ में भूस्वामी एक साल का ही करार करने के लिए कहता है लेकिन व्यवहार में वह श्रमिक होलिया बन जाता है। भूस्वामी द्वारा दिया गया मामूली कर्ज भी 50 से 150 प्रतिशत सूद के चलते देखते देखते बड़ा कर्ज बन जाता है। कई बार श्रमिकों को जानबूझ कर कर्ज दिया जाता है ताकि बंधुआ बनने के जाल में फंस जाए।

चूंकि वे मालिक का कर्ज चुका नहीं सकते इसलिए उन्हें अनिश्चित काल तक होलिया बने रहना पड़ता है। भूस्वामी के खेतों की कोड़ने, अन्य कृषि कार्यों और ईंट बनाने के काम में मूलिया (अनियतकालिक श्रमिक) रखा जाता है। वह होलिया की तरह किसी मालिक से करार के अंतर्गत बंधा नहीं रहता। लेकिन यदि वह भी एक बार कर्ज ले ले तो उसे भी होलिया बनना पड़ता है और उसकी स्वतंत्रता छिन जाती है। ऐसा ही छोटा चाशी के साथ भी होता है जो अपनी मामूली खेती का काम खत्म करके अनियतकालिक श्रमिक बनता है। जहां तक भूस्वामी और होलिया के बीच कामकाजी संबंध का सवाल है, होलिया का भूस्वामी के साथ संबंध सतत रहता है जबकि मूलिया और छोटा पाशी का संबंध तात्कालिक होता है। बचपन से ही होलिया पशुपालन में लगाए जाते हैं और बाद में वही हमेशा के लिए होलिया बन जाते हैं।

मूलिया और छोटा चाशी बेरोजगारी के भय से डरे रहते हैं। रोपनी और कटाई के मौसम के दौरान श्रमिकों की मांग बढ़ जाती है तो उन्हें कुछ महीनों के लिए नियमित काम मिल जाता है। लेकिन साल के बाकी महीनों में उन्हें ईंट बनाने, मिट्टी काटने, जंगल से सूखी

आम समस्याएं

प्रशासनिक	सामाजिक
1. श्रमिकों तथा प्रशासन के मध्य संवाद का अभाव	1. निरक्षरता
2. श्रमिक वर्ग तथा गरीब किसानों के प्रति प्रशासन के उच्च तथा निचले स्तर के अधिकारियों का ग्रामीण-शहरी अभिजनों जैसा पूर्वाग्रह युक्त रुख	2. शादी, जन्म, मृत्यु आदि अवसरों पर हैसियत से अधिक खर्च
3. हेलिया प्रथा की समाप्ति, कर्ज मुक्ति, न्यूनतम वेतन मजदूरी आदि को लागू करने में प्रशासन द्वारा टालमटोल	3. शराब की लत
4. आर्थिक सहायता देने में विलंब	4. अंधविश्वास
5. पुलिस, वन तथा राजस्व अधिकारियों द्वारा परेशान किया जाना	5. जातिवाद एवं हरिजनों तथा आदिवासियों के बीच एकता का अभाव
6. दूरस्थ क्षेत्रों में साहूकारों का मनोबल बढ़ाना	6. आदिवासियों एवं हरिजनों के लाभ के लिए बनाए गए कानून के प्रति अज्ञानता
7. परिवहन सुविधाओं का अभाव	7. जी हजूरिया प्रवृत्ति, अधिकार जताने एवं प्रतिरोध क्षमता का अभाव
8. कर्ज नहीं चुकाने पर कर्ज देने वाले बैंकों द्वारा बंधक जमीन की नीलामी	
9. देहातों में बेरोजगारी हटाने के लिए सघन प्रयास का अभाव	

लकड़ी बटोरकर गांवों तथा शहरों में बेचने जैसे कामों में लगना पड़ता है। लेकिन रोजगार के अवसर सीमित ही रहते हैं। नतीजा यह होता है कि सप्ताह में दो-तीन दिन भूखे रहना पड़ता है।

महिला श्रमिकों की स्थिति और भी दयनीय रहती है क्योंकि उन्हें पुरुष श्रमिकों की अपेक्षा कम मजदूरी दी जाती है। यह अकल्पनीय है कि 1.50 या 2.00 रुपए रोज की मजदूरी के बल पर पांच लोगों का परिवार कैसे जीवित रहता होगा। प्रति व्यक्ति औसत आमदनी तो रोजाना 0.50 रुपए ही बैठती है। लेकिन इस आंकड़े पर शक भी किया जा सकता है कि पूरे परिवार की आमदनी जहां 4 रुपया रोज हो। तब भी एक परिवार जीवित रह जाता है। लेकिन समस्या उतनी सरल नहीं है। एक तो सभी बच्चों को काम नहीं मिलता और मिलता भी है तो वे अपने भोजन का एक छोटा हिस्सा ही उससे जुटा पाते हैं। इससे परिवार का आर्थिक बोझ पूरी तौर पर नहीं घटता। लेकिन यदि पति-पत्नी दोनों काम करते हैं तो बच्चों की कमाई से थोड़ी राहत जरूर मिल जाती है। लेकिन जबरदस्त बेरोजगारी को देखते हुए ऐसी संभावना कैसे दीख सकती है ? पुरुष श्रमिक को वर्ष में दो महीने और महिला श्रमिक को इससे भी कम काम मिल पाता है। साल के बाकी महीनों में उनकी आमदनी अनिश्चित होती है। अर्ध-भुखमरी की स्थिति आठ-नौ महीने बनी रहती है। इसलिए लोग वनों के कंदमूलों को खाने पर मजबूर हो जाते हैं। शिविर में आए श्रमिकों का कहना था कि ऐसी स्थिति में आदमी और जानवर में कोई फर्क नहीं दीखता।

श्रमिकों के निर्णय

शिविर के समापन तक आते आते श्रमिकों में विवेचनशील चेतना काफी विकसित हो गई थी। वे नए उत्साह के साथ अपनी लड़ाई लड़ने और भय, उत्पीड़न और शोषण की आशंका से मुक्त जीवन जीने को सन्नद्ध हो उठे थे। काफी हद तक समस्या को चिह्नित कर उनका समाधान उन्होंने खोज लिया था। शिविर में बने नए वातावरण में उन्होंने अपनी स्थिति सुधारने के लिए निम्नलिखित निर्णय लिए :

1. आम समस्याओं को हल करने के लिए वे गरीब ग्रामीणों को संगठित करेंगे।
2. हदबंदी से अधिक जमीन के वितरण के लिए वे अधिक जमीन रखने वाले भूस्वामियों और साहूकारों की पहचान करेंगे।
3. सरकार से मांग करेंगे कि जमीन पर कब्जा के साथ-साथ उन्हें जमीन का पट्टा अविलंब दिया जाए।
4. वे बंधुआ मजदूर मुक्ति अधिनियम, कर्ज मुक्ति अधिनियम, भूमि सुधार, आर्थिक सहायता-कर्ज के अविलंब वितरण तथा स्थानीय स्वशासी संस्थाओं में हरिजनों एवं आदिवासियों को उचित प्रतिनिधित्व दिलाने के लिए संघर्ष करेंगे।

5. वे 4.00 रुपए रोज के न्यूनतम वेतन तथा 0.50 रुपया प्रति घंटा की दर से ओवरटाइम की मांग एवं न्यूनतम वेतन अधिनियम को लागू करने की मांग करेंगे।
6. पंचायत स्तर पर पर्याप्त रोजगार अवसर प्रदान करने की मांग करेंगे।
7. वे होलिया के रूप में काम नहीं करने का प्रयास करेंगे तथा कर्ज और गुलामी से दूर रहेंगे।
8. सामाजिक त्यौहारों उत्सवों, लोकाचारों पर कम से कम खर्च करेंगे तथा कर्ज से बचेंगे।
9. वे शराबखोरी से बचेंगे।
10. मजदूरी मिलने पर 10 पैसे रोज बचाएंगे।
11. प्रत्येक घर से कम से कम एक बच्चे को पढ़ने स्कूल भेजेंगे।
12. अपने घरों को साफ रखना चाहिए तथा बीमार पड़ने पर सरकारी अस्पताल से दवा लेनी चाहिए।
13. वे भूस्वामियों या अन्य ऊंचे लोगों को महाप्रभु या मालिक नहीं कहेंगे।
14. वे एक दूसरे को सही नाम लेकर पुकारेंगे न कि भूस्वामी या साहूकार द्वारा बिगाड़े नाम से।

संदर्भ सूची

1. पूरी रिपोर्ट के लिए देखें नेशनल लेबर इंस्टीट्यूट बुलेटिन, मई 1976, खंड II, अंक 5.
2. जिला जनगणना रिपोर्ट, 1961.
3. छठे दशक में पदस्थापित एक अधिकारी की अकाल पर लिखी एक अप्रकाशित रिपोर्ट.
4. जिला जनगणना रिपोर्ट, 1961.
5. बैथी एवं बाहाबांध प्रथा के अंतर्गत औपनिवेशिक काल में देसी रियासत रैयतों से बेगारी करवाते थे. इसके बदले में रैयतों को मामूली कर्ज दिया जाता था. स्रोत : इंपोरीयल गजेटियर आफ इंडिया : बंगाल, खंड II, एवं जनगणना रिपोर्ट, 1961.
6. इस प्रथा के अंतर्गत खेत में काम करने वाले नौकर को एकमुश्त कर्ज देता था और उसके एवज में नौकर को तब तक बेगार करनी पड़ती थी जब तक वह कर्ज नहीं चुकाता. वही.
7. वही.
8. आई. टी. डी. पी. रिपोर्ट, 1976 (तुमुल रामपुर).
9. शिविर के तीसरे दिन, एक युवा हरिजन होलिया ओकीलदीप ने उड़िया में तीन गीतों की रचना की. इनमें सवर्ण भूस्वामियों और साहूकारों द्वारा सदियों से चलाया गया उत्पीड़न, पीढ़ियों की अस्तित्वहीनता, बोधहीनता, आत्महीनता, विकल्पहीनता, असहायता, काल-अप्रासंगिकता और उत्पादन के साधनों और राजसत्ता से विलगन का कवित्वपूर्ण चित्रण था.
10. सर्वे आफ इंडिया डिस्ट्रिक्ट्स आफ उड़ीसा, नेशनल काउंसिल आफ एप्लाइड इकोनामिक रिसर्च द्वारा प्रकाशित.
11. नेशनल लेबर इंस्टीट्यूट बुलेटिन, मई 1976, खंड II, अंक 5, पृष्ठ 186.

चार

आंध्र के अंधेरे में जीता गाडू

आज 26 जनवरी 1948 को स्वतंत्रता दिवस है। इसे उत्सव की तरह मनाना तब बिलकुल ठीक था जब हम स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे थे। उस स्वतंत्रता को तब हमने देखा न था, न ही उसे संभालने का हुनर हम में था। अब तो हम उस स्वतंत्रता का उपयोग कर रहे हैं और हम दिग्भ्रमित हैं। सभंव है कि आप दिग्भ्रमित न हों, लेकिन कम से कम मैं तो हूं।

—महात्मा गांधी

पहला दृश्य

स्थान : हैदराबाद से 90 किलोमीटर दूर मुसालापुर है। उसी गांव की ओर जाती एक पगडंडी; अंधेरे का यथार्थ घिरने लगा था। सूर्य की किरणें अपना पंख समेट रही थीं।

ऐसे में कुछ मानव आकृतियां झुंड में गांव की ओर बढ़ती जा रही थीं। पीछे छूटते दूर-दूर तक फैले धान के खेत थे। दूर से देखने पर यह झुंड अपने आपमें एक पूरी मानव आकृति लगता था--लंगड़ाता शरीर। कमर के ऊपर नग्न। चिलचिली धूप, घनघोर वर्षा और दोर्रा (मालिक) की पिटाई सहता। चीथड़े से ढकी कमर। नंगे पांव। और ये थे वक्त की मार खाकर असमय बूढ़े बन गए बच्चे! समय ? समय का बोध कहां था ? दिन, महीने, साल आते जाते। कुछ नहीं बदलता था। दुःखों, तकलीफों और पीड़ाओं से भरा उनका संसार पूर्ववत रहना। उनके जीवन में सब कुछ वैसा था जैसा 'विधना के विधान' में लिखा था। समय वहां परिवर्तन का द्योतक नहीं था तो उन्हें समय-बोध क्यों होता ? वे सब सात से पंदरह साल के बच्चे थे।

हम आगे बढ़कर उनके पास आए तो वे रुक गए।

उनकी आंखें जमीन में गड़ी थीं।

"तुम लोग कहां से आ रहे हो ?"

वे लोग चुप रहे। हमने फिर पूछा।

"खेत से," एक ने अस्फुट स्वर में उत्तर दिया।

"तुम लोग कहां जा रहे हो ?"

"घर," इस बार कोई झट से बोला।

"तुम्हारा नाम क्या है ?"

"साब, मेरा नाम पेंतैय्या है," वह अपने साथियों की ओर मुड़ा, "और ये मेरे साथी पोचैय्या, नारायण, नागैय्या, दुरगैय्या, जयैय्या, और मलैय्या। साब, हम लोग जीता गाडू हैं।"

जीता गाडू ? बंधुआ बाल श्रमिक। आंध्र के मेदक जिले में ये चलते-फिरते माल मवेशी जैसे हैं। हजारों की संख्या में। सीधीपेट, मेदक तथा गोगीपेट तालुका के गांवों में सर्वेक्षण करते समय भूस्वामुलू और पटेलों के शिकंजे में फंसे कोमल बच्चों से मिले। कोई गांव ऐसा नहीं था जिसमें जीता गाडू हमें नहीं मिले। कुछ गांवों में तो हमने इन्हीं जीता गाडुओं के बल पर फलते-फूलते भूस्वामूलुओं को देखा। सचाई यही है कि बंधुआ बाल श्रमिक महामारी की तरह क्षेत्र में फैले हैं।[1]

पेंतैय्या बचपन की छाया भर था। पेरशान चेहरा। रूखे बाल, धंसी आंखे, पिचके गाल। हाथ और पांव बिवाई से फटे। फटे गमछे से ढका गुप्तांग। बस। वह नौ वर्षों से नंगे पांव चलता रहा था। ऐसे ही एक और साल बीत जाएगा। कुछ दिनों बाद वह 10 वर्षों का हो जाएगा।

पेंतैय्या धीरे-धीरे खुलने लगा था।

उसने अपनी टूटी-फूटी भाषा, लेकिन स्वतंत्रता की जबरदस्त चाहत से सधी आवाज में अपनी दिनचर्या बताने लगा। अर्ध दासों की दुनिया हमारे सामने खुलती जा रही थी।

"दोर्रा (साहब), मैं रोज सवेरे उठता हूं। तेलारी (सूर्योदय) के पहले खेत पहुंचना पड़ता है। लेकिन उसके पहले इडलू (बैल) तथा बर्रे (भैंसे) को सानी-पानी देना होता है। फिर उन्हें हांककर अपने साथ चेनु (खेत) ले जाता हूं।

कभी-कभी भूस्वामुलू मुझे घरेलू काम भी करने को कहता है। कपड़ा धोना, गोबर उठाना, बरतन साफ करना, भूस्वामुलू के बच्चों के पोतड़े धोना। काम की कमी है क्या ? भूस्वामलू के घर में अनेक काम होते हैं। इनमें से अनेक काम तो ऐसे हैं जोकि मेरे और मेरे घरवालों के लिए अनजाने हैं; मैंने तो सीखा ही नहीं कि झूठा खाना जानवरों को कैसे देते हैं ? दोर्रा के घर में तो उतरा कपड़ा आयाओं और मेहतरों को दे देते हैं। मैंने अपने घर में बच्चों को खिलाना भी कभी नहीं जाना। मैंने तो ये सारे काम तभी सीखे जब दो साल पहले मेरे बाप ने मुझे भूस्वामलू के हाथों में सौंपा था।

मुझे रोज अपने घर जाने नहीं दिया जाता है। मुझे दोर्रा के घर में ही सोना पड़ता है। आधी रात के पहले कैसे सोएं। काम खत्म ही नहीं होता। त्योहारों और दूसरे खास मौकों पर तो और अधिक काम करना पड़ता है। सप्ताह में एक दिन अपने बाप के घर जाता हूं। उस रात मैं मजे से सोता हूं। अगर भूस्वामुलू के यहां लौटने में देर हुई तो पिटाई होती है और उस दिन की मजूरी कट जाती है।

जीता गाडू किस दिन बना ? हां, याद हैं मुझे। मैं भूल नहीं सकता। उस दिन सवेरे

मेरे बाप ने मुझे रेड्डी (भूस्वामी) के घर चलने को कहा। भूस्वामलू आंगन में तख्त पर बैठा था। वह सूखा नारियल चबा रहा था। जैसे ही हम आंगन में घुसे, उसने गालियों की बौछार कर दी। उसने कहा, वहां बैठ जा। तख्त से काफी दूर। हमें तो उसने पास भी बैठने नहीं दिया।[2]

मेरा बाप उसके सामने गिड़गिड़ा रहा था—मेरे बेटे को जीता गाडू रखकर पुराने कर्ज से मुक्ति दे दो। भूस्वामुलू ने मुझे सिर से पैर तक घूरा। 'क्या यह बैल की तरह मजबूत हैं ?' उसने जमीन पर बैठे हाथ जोड़ते गिड़गिड़ाते मेरे बापू से पूछा।

'हां....हां., दोर्रा। यह इडलू की तरह मजबूत है। हर काम करेगा।'

'वह खेत से भाग जाएगा तो ?'

'आप उसे सजा दें....जैसी मरजी हो करें!'

उसके बाद मेरा बाप मुझे वहां छोड़कर आंगन से बाहर चला गया। इस तरह मैं पहली बार भूस्वामुलू से मिला।'

मुझे तुरंत एक नौजवान जीता गाडू के साथ खेत पर भेज दिया गया।

उस दिन शाम को भूस्वामलू के यहां पहुंचने में मुझे थोड़ी देर हो गई। उसने खूब गालियां दीं—लमाड़ी लोड़का (कुतिया की औलाद) तक कहा। दो तमाचे के बाद मैं भूखा प्यासा सो गया। आम तौर पर हमें रोटी और उसके परिवार की जूठन खाकर जिंदा रहना पड़ता है।

मुझे कभी ताजी रोटी-दाल नहीं मिली। न ही गरम मिटका (चावल)। हमेशा सड़ा खाना खाओ।

सवेरे में जूठी बासी रोटी का एक टुकड़ा, दोपहर में ज्वार की डेढ़ रोटी और रात में चावल। कभी रात में कुछ नहीं मिलता न चावल, न रोटी.....

मेरे दोर्रा के तीन बच्चे हैं। उनसे दोस्ती नहीं कर सकता। उनके साथ हिल-मिल नहीं सकता, न खेल सकता हूं। एक बार उन लोगों ने मुझसे दोस्ती गांठने की कोशिश की तो दोर्रा की झाड़ उन पर पड़ी। तब से हमें उनसे कोई मतलब नहीं।

कुछ क्षण रुक कर उसने अगले प्रश्न का उत्तर दिया।

ना.....ना। मैं पढ़ नहीं सकता। मैं कभी स्कूल जाता था। दो-तीन महीने तक। लेकिन सब बंद। मेरे बाप ने कहा कि अपने परिवार के लिए रोटी कमाओ। आखिर में मुझे जीता गाडू बनना ही पड़ा।[3] पढ़ने का क्या फायदा ? हां, मेरे दोर्रा के बच्चे स्कूल जाते हैं। वे सफेद कपड़े और चकमदार जूते पहनते हैं। मुझे भी वैसे कपड़े खरीदने का मन करता है। मेरा बाप कहता है—'मेरे लिए सफेद कपड़े कभी न कभी खरीद देगा।'

मेरी दिहाड़ी मेरा बाप ले लेता है। पहले 80 रुपए साल के लिए बंधुआ बना। दो साल बाद वह रकम बढ़कर 100 रुपए हो गई।[4]

आधी दिहाड़ी तो कर्ज में सधा दी जाती है। कर्ज भुगतान के लिए दोर्रा कोई रसीद नहीं देता। मुझे मालूम नहीं कि अब कितना कर्ज बाकी है।"

"ऐसा कब तक चलेगा ?" हमने पूछा।

"मालुम नहीं। मैं बाप की तरह बूढ़ा हो जाऊंगा तक तक...."

उन शिखरों के लोगों को 'बाल दिवस' मनाने दीजिए। उन्हें शांतिवन, राजघाट में एक हाथ में राजदंड लिए और दूसरे हाथ से गुलाब के पौधे रोपने दीजिए। और उसके साथ ही बचपन पर बुढ़ापे को लदने दीजिए, तरुणाई में भुरभुरापन भर जाने दीजिए और कोमल मानवता को भी भूस्वामुलू के यहां 'जुत' जाने दीजिए, गुलाम बन जाने दीजिए।

वीर भोग्या वसुंधरा

दूसरा दृश्य

स्थान : भूस्वामुलु का निवास।

"यह तो बहुत अच्छी बात है कि हमारी सरकार जीता गाडुओं की समस्या सुलझाने में रुचि ले रही है। हम भी उनकी हालत सुधारने में मदद करना चाहते हैं। उनको जैसी भी मदद चाहिए, हम देने को तैयार हैं। ये उनको आप बता दें।" हमारे आतिथेय भूस्वामुलु कहते हैं।

"हां हां! हम बिलकुल उनका भला चाहते हैं," दूसरे भूस्वामुलु हां में हां मिलाते हैं।

खेत में एक जीता गाडू से बात करते समय एक भुस्वामुलू मिल गए थे। शिक्षा दीक्षा हैदराबाद में हुई थी।

उनके घर का बैठकखाना सजा संवरा था। देश के महत्वपूर्ण नेताओं की तसवीरें दीवारों पर टंगी थीं। तिरुपति भगवान की पीतल की मूर्ति पीठिका पर रखी थी।

हम लोगों के आने की बात सुनकर कुछ और भूस्वामुलू आ जुटे थे। उनका रंग-ढंग भी शहराती जैसा था। आधुनिक शैली के कटे बाल। गले में झूलती सोने की जंजीर। जेब में कलम। हाथ में घड़ी। सोने की अंगूठी। सफेद लंबी कमीज या कुर्ता, धोती या पाजामा। नेहरू कट जाकिट। चप्पल। वे सभी अति विनम्र और शिष्ट थे। "लेकिन सरकार समस्या को पूरी तरह समझ नहीं पा रही है," आतिथेय भूस्वामुलू ने कहा।

"कैसे ?"

"वह हमारी समस्याओं की अनदेखी कर हमारे साथ अन्याय कर रही है।"

"कैसी समस्या ?"

"इन दिनों खेती से मामूली आमदनी होती है। खाद, बीज, खेती के औजारों की कीमतें बढ़ गई हैं। उपज को मंडी तक ले जाने में ढुलाई का खर्चा आता है।"

"समाज में अपनी हैसियत बनाए रखने के लिए हमें शादी-व्याह, पढ़ाई-लिखाई पर काफी खर्च करना पड़ता है। मेहमानों पर ही कितना खर्च हो जाता है। हम हरिजनों जीता गाडुओं के स्तर तक नीचे नहीं आ सकते।" एक पके भूस्वामुलू ने जोड़ा।

"क्या मैं गलत कह रहा हूं ?" उसने मेरी ओर देखा। मैंने भी सहमति में सिर हिला दिया।

"हरेक को अपने परिवार की हैसियत से रहना है। मेरे पिता पुलिस पटेल थे। मैं भी एक पुलिस पटेल[5] हूं। एक वक्त था जब हमारे पास खूब हुआ करता था। लेकिन आज हम सब भाइयों में बंट गया है।"

"तब तो आप दिक्कत में चल रहे होंगे," मैंने सिर हिलाते हुए चुटकी ली।

"बिलकुल! मेरे पास जमीन भी थोड़ी ही है।"

"कितने बैल हैं ?"

"बस तीन जोड़ी। एक बैल तो बीमार ही रहता है। सौ रुपए उसके इलाज पर लगा चुका हूं। कुछ फायदा नहीं हुआ।"

"एक जोड़ी बैल को खिलाने पिलाने में कितना खर्च आता है ?" मैंने विश्वास में लेकर पूछा।

"तीन से चार रुपए रोज। बुआई के समय तो अधिक खर्च करना पड़ता है।"

"आप ट्रैक्टर और बिजली का पंप क्यों नहीं लेते ?"

"हमारे पास एक बिजली का पंप है। ट्रैक्टर भी खरीदने का सोच रहा हूं।[6] आप दोबारा जब आएंगे तब तक हम सभी भाई मिलकर ट्रैक्टर खरीद चुके होंगे।" उनके चेहरे पर आशा की मुसकान उभरी।

"हां, ट्रैक्टर लेने के बाद खेती से आपकी आमदनी बढ़ जाएगी। आप तो शायद नौकर भी दूसरे की तरह नहीं रखते।"

"अरे नहीं, हमारे छः नौकर हैं, जिनमें दो बच्चे हैं। मैं उनको अच्छी दिहाड़ी देता हूं।"

"कितना ?"

"आप तो हमारे अपने हैं (वे हमारी जाति और वर्ग की याद दिलाकर जीता गाडुओं-हरिजनों से विलगा रहे थे ताकि हम भूस्वामुलू का पक्ष लें), आपसे क्या छिपाना ? मर्दों को 450 रुपए, बच्चों को 100 रुपए सालाना देता हूं। उस औरत को 350 रुपए ही देता हूं।[7] लेकिन उसे हम अपने जैसा खाना भी तो देते हैं।"

"हमारे यहां कोई जीता गाडू नहीं है। जितनी मर्जी हो काम करें। वे तो हमारे पास सात आठ साल से हैं। हम उन्हें ठीक से रखते हैं। जब भी एडवांस चाहिए, ले जाओ। कभी कभार धान भी अलग से दे देते हैं।"

"बिलकुल। हम उन्हें धान भी देते हैं।" दूसरे भूस्वामुलु ने भी जोर दिया।

"वैसे देखिए तो वे खुद अपनी गरीबी, दयनीय स्थिति और पिछड़ेपन के लिए जिम्मेदार हैं। हमसे जो भी मिलता है उसे शराब, शादी,[8] श्राद्ध जैसी बेकार की बातों में उड़ा देते हैं। आदमी अपनी चादर के हिसाब से ही पांव फैलाए। वे इस बात पर नहीं चलते। आगे के लिए कुछ नहीं बचाकर रखते। ऐसे में हम कर भी क्या सकते हैं ? कभी-कभी ये लोग

हमारी मेहरबानी का दुरुपयोग भी करते हैं। मैंने एक नौकर के साथ दोस्ताना व्यवहार किया। लेकिन वह खुद को मेरे बराबर समझने लगा। वह हमारी तरह साफ-सुथरे कपड़े पहनने लगा। जूते पहनने लगा। इस तरह से तो कोई भी नौकर खेत में काम नहीं कर सकता।"

वे हमें अपने तर्क से सहमत करने की कोशिश कर रहे थे।

"एक बार वे हमारी हैसियत में आ गए तो खेत में कौन काम करेगा ? खेती ही नहीं हो पाएगी। काम करवाने के लिए उन्हें दबाकर रखने के अलावा रास्ता नहीं है।"

"वीर भोग्या वसुंधरा" के आप्त वाक्य के ये मुझे सच्चे अनुयाई लगे। भारतीय 'इथोस' भी ऐसा ही है।

'पीड़ादायक खेती' नामक संकलन (संपादक राय पामर, कैंब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस) की ये पंक्तियां कितनी सटीक हैं :

भूख की दिहाड़ी पर तुम जी नहीं सकते
रात-दिन हड्डी तोड़ काम के बाद भी
मालिक रहेगा नाराज
नहीं समझेगा तुम्हें बाड़े के सूअर से बेहतर
इसीलिए कह दो खेतिहरों से
तुम अब गुलाम नहीं हो!

तीसरा दृश्य

स्थान : ग्रामीण श्रम शिविर

"मैं सात वर्ष का था जब जीता गाडू बना। घर की हालत खराब थी। दुनिया में आजाद रहना मुश्किल था।" 25 वर्षीय जीता गाडू किस्तैय्या बताता है।

वह ग्रामीण श्रम शिविर में आया था। पांच दिवसीय शिविर के दरम्यान वह थोड़ा चेतन हो गया था। साक्षात्कार के दौरान उसकी भाषा से साफ लग रहा था।

वह एक परंपरागत जीता गाडू परिवार से है। उसका बाप भी आजीवन जीता गाडू रहा। 18 वर्ष तक जीता गाडू बने रहने के दौरान उसने चार दोर्रा बदले।

"मेरा *पहला* दोर्रा पिछड़ी जाति का था। बलैय्या। वह खाता-पीता किसान था। एक जोड़ी बैल, कुछ जमीन और कुछ भेड़ें उसके पास थीं। मुझे साल में 25 रुपए देता। रोज एक शाम रोटी। मैं उसकी मवेशियों को चराता था।

उसका नाम सुनकर जी खट्टा हो जाता है। सड़ा खाना देता। खेत और आंगन से हटने नहीं देता। चार घंटे सो पाता था। 10 घंटे खटते रहो।

उससे कोई कर्ज नहीं लिया था, उससे छुटकारा मिलने में दिक्कत नहीं हुई।

दूसरा दोर्रा पिछड़ी जाति की एक औरत थी। कई बीघे खेत और एक जोड़ी बैल थे उसके पास। वह 28 रुपए सालाना देती थी। मुझे मानती भी थी। ताजी रोटी और चावल

खाने देती।

कुछ समय बाद उससे दिहाड़ी बढ़ाकर 30 रुपए करने बोला तो वह दो रुपए बढ़ाने को भी राजी नहीं हुई। मैं उसके यहां से छोड़ आया।

इनमें *तीसरा* मालिक सबसे धनी था। 30 एकड़ जमीन, चार बैल और कुछ दुधारू मवेशी। मेरे अलावा 30-40 वर्ष के दो और जीता गाडू उसके पास थे। एक को 100 तथा दूसरे को 125 रुपए सालाना मिलता था। मुझे 35 रुपए सालाना मिलता था। अब मेरी कद काठी बढ़ गई थी। दुनियादारी भी मैं समझने लगा था। मैं सवर्णों के बच्चों को स्कूल जाते देखता तो मुझे जलन होती। मैं पढ़ा लिखा आदमी बनने के सपने देखता। मैंने अपने बाप से कहा कि मुझे स्कूल जाने दो तो उसने मुझे झिड़क दिया। 'तुम भूस्वामुलू की सेवा के लिए ही पैदा हुए हो। तुम सारी उम्र जीता गाडू रहोगे।'

वह छूतछात करता था। नया मालिक मुझे अपने बरतन यहां तक कि मिट्टी के बरतन भी छूने नहीं देता था। चार सालों में उसने मुझे कई बार पीटा। एक बार तो उसने लाठी से पीटकर, ऊंचा उठाकर जमीन पर पटक दिया। मेरा पांव घायल हो गया और कई दिनों तक बिस्तर पर लेटा रहना पड़ा। दूसरी तरफ मेरी दिहाड़ी भी काट ली गई। इसके चलते मेरे परिवार वालों को कई सूदखोर पटेलों से कर्ज लेना पड़ा।

मैंने इस मालिक को दिहाड़ी बढ़ाने के लिए कहा तो उसने गाली देना शुरू कर दिया। आखिर मैं उस मालिक को छोड़ आया।

मेरा *चौथा* मालिक बहुत अमीर है। 100 एकड़ जमीन, 20 जोड़ी बैल, और 30 जीता गाडू। मैं उसका पंदरहवां जीता गाडू बना था। उन दिनों मेरी मां मेरी शादी के लिए जोर देने लगी थी। शादी का मतलब और कर्ज, और गुलामी। एक बार बड़ा कर्ज लिया तो सूदखोर पटेलों के चंगुल से छूटना मुश्किल। फिर भी 1,000 रुपए का कर्ज लिया गया। शादी में खर्च यों आया :

1. दुलहिन के लिए दहेज....200 रुपए
2. दो क्विंटल धान .....150 रुपए
3. कपड़े .....300 रुपए
4. मांस के लिए बकरा .....100 रुपए
5. मंगलसूत्र के लिए .....120 रुपए

दो रुपए सैकड़ा माहवारी सूद देना था।

'सारा कर्ज नौ साल में चुका। इस बीच में दिहाड़ी क्या मिलती, सब तो कर्ज चुकाने में चला जाता था। घर की जरूरत के लिए मां, घरवाली और भाइयों को दूसरों के यहां काम करना पड़ा। मालिक से जब तब 5-10 रुपए उधार लेना पड़ता था। नौ साल ये छोटे-मोटे कर्जे भी सधते रहे। मुझे फिर 100 रुपया कर्ज लेना पड़ा। इसे भी कई सालों में चुका पाऊंगा। इसी तरह जैसे-तैसे जीना पड़ता है।"

"क्या तुम्हें किसी अफसर ने बतलाया कि बंधुआ श्रमिक कानून तथा कर्ज मुक्ति कानून का क्या फायदा है ?"

"मुझे किसी ने नहीं बताया कि ऐसा कानून भी है। हम अफसरों के पास जा नहीं सकते। वे सब भूस्वामुलू के दोस्त हैं। हमारे एक जीता गाडू दोस्त ने पुलिस में शिकायत करने की कोशिश की थी कि उसका दोर्रा जालिम है। थाने वाले शिकायत क्या लिखते, उसी को पीटकर भगा दिया। तब से हम अफसरों के पास नहीं जाते, न ही दोर्रा की खिलाफत करने की हिम्मत करते।

लेकिन अब...अब हम जुल्म नहीं सहेंगे, बेइज्जत नहीं होंगे, न ही लूट करने देंगे। हम जान गए हैं कि कौन दोस्त है, कौन दुश्मन।"

किसी दिन प्रेमचंद के इन होरियों के पास अपनी जमीन होगी। गायें होंगी, बैल होंगे। ये अपनी नियति और स्पंदन के स्वामी बनेंगे। तब भूस्वामियों की आस्थाओं-व्यवस्थाओं को चीरता हुआ सूर्य पश्चिम में छुपेगा, लेकिन अगले दिन पूर्व में निकलेगा।

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. देश में 15 साल से कम उम्र के बाल श्रमिकों की संख्या 1,07,40,000 है. आंध्र में इनकी संख्या काफी है. कुल श्रमिकों का 9 प्रतिशत बाल श्रमिक हैं.
2. बिहार के भोजपुर में भी यही स्थिति है. अपनी पिछली यात्रा में हमने देखा था कि हरिजनों को चारपाई, मोढ़े पर बैठने, साफ कपड़े पहनने की मनाही है. सवर्ण भूस्वामियों से मिलने या उनके मुहल्लों से गुजरते समय हरिजन जूते नहीं पहन सकता.
3. अन्य राज्यों के अनुभव भी यही बताते हैं कि हरिजनों के बच्चों को अपने बाप-दादों की तरह बाल श्रमिक बनना ही पड़ता है. (देखें : रामशरण जोशी, 'कनाडियाज ट्रेजेडी', नेशनल लेबर इंस्टीट्यूज बुलेटिन, संख्या 10, 1977, पृष्ठ 858).
4. सात से पंदरह वर्ष के बंधुआ बाल श्रमिकों का वार्षिक वेतन 25 से 200 रुपए तक है. वे भुखमरी के शिकार है. बिहार और मध्य प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में तो उनकी स्थिति और भी दयनीय है. वहां वार्षिक वेतन 70 से 175 रुपए तक है.
5. तेलंगना क्षेत्र में ग्रामीण नेतृत्व बहुत मजबूत रहा है। कभी निजाम इन्हीं के जरिए अपने सामंती शासन की पकड़ गांवों पर बनाए रखता था. इससे उसे निजाम और उसके दरबारियों को गरीब किसानों और बंधुआ श्रमिकों का दोहन करने में आसानी होती थी. सरपंच, उप-सरपंच, पुलिस पटेल, असलदार, वतान्दार, इस नेतृत्व के हिस्से होते थे. इसके अतिरिक्त दो और पद होते थे—मुस्करी और नी रेड्डी. बाद के ये दोनों पद सबसे पिछली पांत के थे. ये पद गांव के पिछड़ों और दलितों को दिए जाते थे. इनका काम होता था गांव के बुजुर्गों की सेवा करना तथा पोखरों से खेतों को पटाना. सच यही है कि संपत्तिशाली सवर्ण हिंदू ग्रामीण समाज के सामाजिक-आर्थिक जीवन पर अपना नियंत्रण ढीला करने को तैयार नहीं हैं. (देखें : रामशरण जोशी, टेंशन्स इन रूरल इंडिया, फ्रंटियर, अंक 12, नवंबर 1977)
6. गैर सरकारी अनुमान के अनुसार मेडक जिले में ट्रैक्टरों की संख्या 1,000 से भी अधिक है.
7. यथार्थ यही है कि मानवीय श्रम पशु श्रम से भी सस्ता है. जोगीपेट तहसील में एक भूस्वामी वर्ष में 1,100 रुपए से 1,200 रुपए तक अपने एक बैलों की जोड़ी के पालन पर खर्च कर देता है जबकि एक बंधुआ मजदूर पर उसे 400 से 500 रुपए तक खर्च करने पड़ते हैं. अगर श्रम के घंटों को ध्यान में रखा

जाए तो यह अंतर और बड़ा दिखेगा. एक जीता गाडू 12 से 14 घंटे श्रम करता है जबकि एक बैल 8 से 10 घंटे ही काम करता है. इस कारण से मानवीय श्रम को मूल्य और भी घट जाता है.
वास्तव में एक भूस्वामुलू के लिए बैलों की जोड़ी का मूल्य जीता गाडू से अधिक है. इसलिए वह बैलों की उचित देखभाल करता है जबकि जीता गाडू की परवाह नहीं करता. भूस्वामी के अमानवीय शोषण वाले रुख को समझने के लिए एक दृष्टांत काफी होगा.
अपने सर्वेक्षण के दौरान जोगीपेट से तीन से पांच किलोमीटर दूर धान के एक खेत में एक जीता गाडू बेहोश मिला. दूसरे जीता गाडुओं ने हमें बताया कि इसे (बेहोश जीता गाडू) पिछले तीन दिनों से तेज बुखार और पेट में दर्द था। उसके पास बाजार से दवा खरीदने के लिए पैसा नहीं था. भूस्वामुलू ने इलाज कराना तो दूर, उसे छुट्टी देने से भी मना कर दिया. उसे धमकी भी दी गई कि यदि वह काम पर नहीं आया तो उसकी दिहाड़ी काट ली जाएगी. जोगीपेट लौटकर, शहर में रहने वाले भूस्वामलू से हमने इस मामले में बात की तो उसने मासूम अंदाज में कहा—अरे, हमें उस बीमार जीता गाडू के बारे में किसी ने बताया नहीं. उसने वादा भी किया कि वह उस जीता गाडू को डाक्टर से दिखलाएगा.
8. देश के विभिन्न अंचलों (आदिवासी अंचल सहित) में किए गए सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हुआ है कि 60 से 70 प्रतिशत बंधुआ श्रमिक शादी में किए गए खर्च और उससे चढ़े उधार के चलते जीता गाडू बनते हैं.
9. हमें यह अनुभव होता रहा कि स्थानीय अधिकारी और कर्मचारी जीता गाडुओं, बंधुआ श्रमिकों के प्रति उपेक्षा का रुख अपनाते हैं. सर्वेक्षण शिविर के पहले दिन जिलाधीश का आदेश राजस्व, कृषि एवं शिक्षा विभाग के अधिकारी उपस्थित तो हो गए लेकिन वे मेडक जिले में जीता गाडुओं की समस्या को ही नकार रहे थे. उनका कहना था, 'जीता गाडू तो एक साल के करार पर रखे जाते हैं. करार की समाप्ति पर वे कुछ भी करने, कहीं भी जाने के लिए स्वतंत्र होते हैं. वे किसी मालिक के यहां काम कर सकते हैं.
अनौपचारिक बातचीत के दौरान पता चला कि वे सब बड़े किसान परिवारों से थे जिनके पास ट्रैक्टर, कई जोड़ी बैल, दुधारू पशु तथा कई जीता गाडू भी थे.
दूसरी तरफ एक डिप्टी कलक्टर ने मेडक, जोगीपेट तथा सिडीपेट तालुका में जीता गाडुओं के होने की बात स्वीकार की. उनके अनुसार, 'इस जिले में इस समस्या के समाधान के लिए कोई गंभीर कदम कभी नहीं उठाया गया.'
उनकी स्वीकारोक्ति की वजह यह थी कि वे मूलतः हैदराबाद इलाके के निवासी थे और इस जिले में उनका कोई निहित स्वार्थ विकासित नहीं हुआ था. हमारे आने के कुछ दिनों पहले ही उनका तबादला मेडक जिले में हुआ था. इसीलिए उनका रुख सकारात्मक था और जीता गाडुओं के प्रति भी उनकी सहानुभूति थी।

उम्र की तुलना में बंधुआ बने रहने की अवधि

आयु समूह	श्रमिकों की कुल संख्या	बंधुआ रहने की अवधि
6-10 वर्ष	5	1 वर्ष
10-15 वर्ष	12	2 से 6 वर्ष (1 से 8 वर्ष)
16-25 वर्ष	22	5.5 वर्ष (1 से 15 वर्ष)
25-40 वर्ष	34	6 वर्ष (6 से 15 वर्ष)
40 वर्ष से ऊपर	3	13 वर्ष (1 से 35 वर्ष)

उम्र की तुलना में मजदूरी एवं कर्ज का मार

आयु समूह	श्रमिकों की कुल संख्या	औसत वार्षिक मजदूरी	कर्ज की औसत राशि
6-10 वर्ष	5	150 रु. (100-200)	
10-15 वर्ष	10	230 रु. (200-300)	150 रु. (200-300)
16-25 वर्ष	22	430 रु. (190-500)	830 रु. (200-1600)
25-40 वर्ष	34	500 रु. (410-600)	569 रु. (150-1500)
40 वर्ष से ऊपर	3	475 रु. (400-550)	50 रु. (केवल एक पर कर्ज था)

बंधुआ रहने की अवधि की तुलना में कर्ज की अवधि

संख्या	आयु समूह	बंधुआ श्रमिकों की संख्या	बधुंआ रहने की औसत अवधि वर्ष में	कर्ज की अवधि वर्ष में
1.	6-10 वर्ष	5	1	-
2.	10-15 वर्ष	10	2.6	2
3.	16-25 वर्ष	22	5.5	4
4.	25-40 वर्ष	34	6	3.5
5.	40 वर्ष से ऊपर	3	13	1

उम्र की तुलना में बंधुआ रहने का कारण

आयु समूह	बंधुआ श्रमिकों की संख्या	विवाहित	घरेलू कारण
6-10 वर्ष	5	-	5
10-15 वर्ष	10	1	9
16-25 वर्ष	22	12	4
40 वर्ष से ऊपर	3	1	2
कुल	74*	31	23

* 20 श्रमिकों ने कोई कारण नहीं बताया.

पांच

हरिजनों की अंधेरी दुनिया

जनता पार्टी की विजय और केंद्र में सरकार बदलने से बुद्धिजीवियों का एक वर्ग अभी भी डरता रहा है। कुछ राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं ने तो आपातकाल के दौरान हुए दमन और पुलिस अत्याचार की रिपोर्टों की झड़ी लगा दी। आपातकाल में विदेश भाग जाने वाले कुछ बुद्धिजीवी और नेता लौटकर हीरो बन गए हैं। अनेक संगोष्ठियों, परिचर्चाओं में आज भी 19 महीने के भयावह स्वप्न पर अभी भी बहस होती रहती है। लेकिन यातना की एक और अंधेरी दुनिया भी है। दशकों पहले सत्ता और समाज द्वारा यातना की यह सुरंग खोदी गई थी जो आज भी निर्बाध है। इसकी आहट तक बौद्धिकों की दुनिया महसूस नहीं कर रही है। उस दुनिया में आपातकाल 25 जून 1975 से पहले ही शुरू हो चुका था। जनता सरकार के आने से उनका दमन और तेज हुआ है। क्योंकि सारा सरकारी तंत्र ग्रामीण नवधनाढ्यों की सेवा में लगा हुआ है।

उनकी 'स्वतंत्रता' बेमानी है। भूस्वामी और सवर्ण हिंदुओं की अनवरत हिंसा का शिकार वे हो रहे हैं। उनके लिए नागरिक स्वतंत्रता (सिविल लिबर्टी) से कहीं अधिक जरूरी है जिंदा रहना। यही हरिजनों, आदिवासियों और पिछड़ों की दुनिया है। उनके बारे में कभी कभार ही पत्र-पत्रिकाओं में लिख जाता है। लगता है, जनसंचार माध्यमों की आत्मा मर गई है।

भोजपुर (बिहार) जिला के हरिजनों और भूमिहीन श्रमिकों पर स्थानीय धनी कुलीनों ने पुलिस के सहयोग से आतंक का निजाम कायम कर रखा है। अपने आपमें यह अमानवीय न्याय व्यवस्था का सबसे घृणित उदाहरण है। बिहार से बाहर भी भोजपुर को तब जाना जाने लगा जब छठे दशक में इस आतंक के विरुद्ध प्रतिरोध की लहर उठी। मुशहरों, दुसाधों और हरिजनों ने ब्राह्मणों, भूमिहारों और अन्य भूस्वामियों के विरुद्ध सशस्त्र प्रतिरोध करना शुरू कर दिया। धीरे-धीरे यह जिला मार्क्सवादी-लेनिनवादियों (जो नक्सलवादी के रूप में विख्यात हैं) का गढ़ बन गया। जिले का सहार प्रखंड इन गतिविधियों का केंद्र बन गया। पीरो, तराडी, जगदीशपुर नक्सलवाद से प्रभावित इलाके बन गए। सवर्ण हिंदुओं और पुलिस के बेलगाम आतंक के विरुद्ध हरिजन उठ खड़े हुए। सही अनुमान लगाना कठिन है कि भूस्वामियों के साथ मुठभेड़ में कितने लोग मारे गए हैं। लोग बताते हैं कि मरने वालों की संख्या सैकड़ों में है।

लेखक साहित चार व्यक्तियों का एक दल स्थिति का अध्ययन करने के लिए भोजपुर

गया। यह आलेख वहां के हरिजन बस्तियों के अनुभवों पर आधारित है।

पहला आघात

पंद्रह मई 1977 को हम पटना से आरा रेलवे स्टेशन पर पहुंचे। पहला झटका तभी लगा। गांव जाने के लिए जैसे ही स्टेशन से बाहर निकले, पुल के पास एक औरत की लाश दिखी। लावारिस लाश के चारों ओर जमा थे 'कुली, मजदूर, रिक्शा वाले, आसपास के होटलों में काम करने वाले नौकर, कुछ रेल यात्री। परंतु सब गूंगे बने हुए थे। कोई कुछ बोल नहीं रहा था। पुलिस का सिपाही कुछ कदम के फासले पर बीड़ी के लंबे-लंबे कश ले रहा था। किसी इनसान की मौत से बेखबर। बाद में पता चला कि वह औरत पिछड़ी जाति की थी। हम लाश देखकर हिल गए थे लेकिन कुछ करने में असमर्थ थे। मरे मन से हम आगे बढ़ गए।

आरा स्टेशन से सात-आठ किलोमीटर दूर सरैया गांव जिलेभर में श्रीमती बनारसी देवी गुप्ता के कारण प्रसिद्ध है। श्रीमती गुप्ता जिले की खेतिहर मजदूर कांग्रेस की सदस्या हैं और खेतिहर श्रमिकों की लड़ाई लड़ रही हैं। उन्होंने ही हमारे दल को आपातकाल के बाद देहात में बदली परिस्थिति के अध्ययन के लिए आमंत्रित किया था। पिछले तीन-चार वर्षों से समाज सेवा और ग्रामीण श्रमिकों की उचित मजदूरी के लिए संघर्ष के चलते श्रीमती गुप्ता हरिजनों, भूस्वामियों और अधिकारियों के बीच जानी पहचानी हैं। वे देवीजी के रूप में प्रसिद्ध हैं। जब हम सरैया पहुंचे, तब पता चला कि वे पटना गई हैं। उनके पति गुप्ता पेशे से चिकित्सक हैं। वे हमें करीब के बभनगामा गांव ले चलने को तैयार हो गए। उनका कहना था कि एक समय तक बभनगामा गांव 'नक्सलपंथियों का अड्डा' रह चुका है।

एक जीप किराए पर ली गई। हमारी जीप जैसे ही उस गांव के उस किनारे पर पहुंची, जहां हरिजनों की बस्ती है, एक बच्ची ने चीखना शुरू कर दिया। "सिपइया रे ..... सिपइया!" हम जीप से नीचे उतरे। पांच साल की एक हरिजन बच्ची जीप को देखकर चीख रही थी। रो रही थी। गालों पर आंसू लुढ़क रहे थे। उसने हमारी जीप को पुलिस की जीप समझ लिया था। बिहार में पुलिस ही आम तौर पर जीप का इस्तेमाल करती है। हमें देखकर वह सर्द रह गई। भय अभी भी था—पुलिस द्वारा खानातलाशी, गिरफ्तारी और यातना की स्मृति रही होगी। जीप को देखते ही भयानक स्मृतियां जग गई होंगी।

प्रश्न है कि आखिर उस हरिजन बच्ची की जबान पर 'सिपइया' शब्द कैसे आया ? उसे पुलिस का बोध कैसे हुआ ? वह तो अभी इस योग्य भी नहीं है कि किसी हिंसात्मक गतिविधि में भाग ले सके। आखिर राजसत्ता की कौनसी विवशता थी जिसने उसे इस सीमा तक पहुंचा दिया कि एक अबोध बच्ची भी उसे अपने विरुद्ध एक हिंसात्मक शक्ति मानती है। यह मामूली चीख और प्रधानमंत्री मोरारजी भाई देसाई की चेतावनी कहां एक दूसरे से मिलती है और कहां नहीं? एक दिन पहले ही प्रधानमंत्री ने कहा था, "जो कोई भी हिंसा

पर उतरेगा, सरकार उसके विरुद्ध हिंसा का प्रयोग करने में नहीं हिचकिचाएगी।" इन सवालों का जवाब हमें तीन गांवों में घूमने पर मिला।

तीन गांवों की यात्रा

बभनगामा बरहड़ा प्रखंड में आता है। पक्की सड़क से आधा मील की दूरी पर यह गांव है। 4,000 किसानों की आबादी है। यहां के अधिकांश भूस्वामी उपाध्याय (ब्राह्मण) हैं। वे चार-चार सौ बीघा जमीन के मालिक हैं। औसत किसानों के पास भी 50-60 बीघे जमीन है। भूमिहार और राजपूत भी भूस्वामी हैं। मुशहर, डोम, चमार, भंगी, मुसलमान और अन्य हरिजन उनके खेतों में काम करते हैं। कभी कभार वे सड़क बनाने वाले ठेकेदारों के यहां भी काम करते हैं। विवाह लग्न के दौरान भूस्वामी उन्हें दूल्हा-दुलहिनों को पालकी में ढोने के काम में भी लगा देते हैं। यही दिन होते हैं जब शादी के अवसर पर उन्हें अच्छा खाना नसीब होता है।

मजदूरी की दर बहुत कम है। वह भी बस डेढ़ किलो धान रोज मिलता है। उसे कूटने साफ करने के बाद एक किलोग्राम चावल निकलता है। कई बार तो उससे भी कम। वे इतने गरीब हैं कि एक हरिजन को अपनी पत्नी की लाश फूंकने के लिए नसबंदी करानी पड़ी। सप्ताह में दो-तीन दिन वे भूखे सोते हैं। उनके घर सूअरबाड़े से बेहतर नहीं हैं। ये औंधी ठिगनी झोपड़ियां उन्हें पूरी तरह पांव पसारने की भी सहूलियत नहीं देती। वे अपनी थकान भी नहीं निकाल सकते।

बैजनाथ राम ने हमें पुलिस के छापों के बारे में बताया। यह छापा तीन चरणों में पूरा किया गया था। पहले पूरे गांव को घेर लिया गया था। फिर सवर्ण हिंदुओं के मुहल्लों से पुलिस का घेरा हटा लिया गया। आखिरी दौर में हरिजन बस्ती को घेर लिया गया। फिर अंधाधुंध मारपीट, तलाशी, पकड़ा धकड़ी, स्त्रियों के साथ शर्मनाक व्यवहार। एक बार तो पुलिस की 12-13 जीपों ने घेरा डाला था। हरिजनों को अमानवीय यातनाएं सहनी पड़ीं। नक्सली के नाम पर हरिजनों के साथ पशुवत व्यवहार किया गया। अगर एक हरिजन ज्यादा मजदूरी की मांग करता है तो भूस्वामी उसे धमकी देता है कि उसे नक्सलवादी कहकर गिरफ्तार करवा देगा। वे भूस्वामी ऐसा करने में हमेशा कामयाब होते हैं।

बैजनाथ राम आगे बताते हैं, "मुझे अभी भी डर है कि कभी भी कुछ भी हो सकता है। यहां हो रहे जुल्म की परवाह सरकार नहीं करती। मरना या मारा जाना ही हमारी नियति है। औरतों के साथ बलात्कार होता है। सरकार अनसुनी करती रहती है।"

मनु का पालन

मनु के युग से आज तक सवर्ण हिंदुओं के रुख में कोई बदलाव नहीं आया है। हरिजन उनके लिए पशु हैं। वे शूद्र हैं और सवर्णों के गुलाम हैं। मनु कहते थे : नशुद्रस्य मतिम ददायते..... शुद्र को बुद्धि नहीं देनी चाहिए। न उसे धर्म की दीक्षा दो, न ही उसके पास अपना कुछ रहने दो। सवर्ण आज भी उन्हीं की राह पर चल रहे हैं। वे इसके लिए भोजपुर के शूद्रों पर तरह तरह के अत्याचार करते रहते हैं। रानी सागर और उसके पास पड़ोस के गांव इसके प्रमाण हैं।

रानी सागर जाने के लिए बस से हमें 30 किलोमीटर की यात्रा करनी थी। आरा से बस बदलनी पड़ी। इस इलाके में आम तौर पर निजी बसें ही चलती हैं। मुनाफे वाले रूट पर भी सरकारी नहीं, बल्कि निजी बसें ही चलती हैं। पैसे के लालच में ये बस वाले सुरक्षा या सुविधा की परवाह किए बगैर यात्रियों को बोरों की तरह बस में ठूंस देते हैं। पूरे जिले में बसों की छतों पर यात्रियों को यात्रा करते देखा जा सकता है। जब ऐसी दुरावस्था में बस सेवा हो तो टूटी फूटी बसों को देखकर आश्चर्य नहीं होता।

जिस बस में हम यात्रा कर रहे थे, वह एक भूमिहार भूस्वामी की थी। बस ठसाठस भर गई। लोग बस की खिड़की और छतों पर कूदने लगे। बस कहीं तेजी से घूमती तो उलट सकती थी और सैकड़ों लोगों की जानें जा सकती थीं। यात्रियों को छत पर बैठने की इजाजत देना मुच्छल मालिक की दृष्टि में उन पर एहसान लादना था। अचानक एक स्थान पर उस मोटे मालिक ने बस रुकवा दी। बीच सड़क पर, खलासी व ड्राइवर को बुलाया गया। आर्डर दिया गया कि छत पर चढ़कर पैसे वसूल करो। वह खुद भी बस को हिलाता हुआ नीचे उतर गया। कौतूहलवश हम भी नीचे उतर आए।

हमने देखा कि छत पर जो यात्री बैठे हैं, उनमें अधिकतर गरीब किसान थे। तन पर कपड़ों के नाम पर लुंगी लिपटी थी। ऊपर से चिलचिलाती धूम की मार अलग। मालिक गुर्राया, "जो पैसा न दे, साले को नीचे फेंक दो।" पास खड़े देवीजी के पति गुप्ता की तरफ मेरी दृष्टि गई। वे बोले "आपको यह सब अचरज भरा लग रहा होगा। जोशीजी, यह सिर्फ धमकी नहीं, यहां के लिए सचाई है। इस प्रकार की कई घटनाएं यहां हो चुकी हैं, जिसके शिकार गरीब लोग ही होते हैं।" आने वाली हिंसा के दृश्य का इस प्रकार का यह पहला पूर्वावलोकन था।

बाद में पता चला कि अनेक भूस्वामी अपनी निजी बसें चलाते हैं। बसें सिर्फ तानाशाही, धक्कमशाही के बल पर बदस्तूर चलती हैं। भोजपुर की बसों में एक और विचित्र चीज देखने को मिली। प्रत्येक बस में ऐसे दो-तीन यात्री आसानी से देखे जा सकते हैं, जिनके हाथों में एक नाली या दो नाली बंदूक होती है। जिस बस में हम सफर कर रहे थे, उसमें पांच बंदूकधारी व्यक्ति बैठे थे। हमें बताया गया कि भूस्वामी नक्सलवादियों से अपनी रक्षा के नाम पर आसानी से लाइसैंसशुदा बंदूक खरीद सकता है। लेकिन जो हरिजन भूस्वामी द्वारा

फैलाई गई हिंसा के शिकार निरंतर होते हैं, उन्हें अपने रक्षार्थ हथियार रखने की इजाजत नहीं मिलती। वे हथियार खरीद भी नहीं सकते। देवीजी ने इस मामले की छानबीन की मांग की है। भूस्वामियों के पास काफी हथियार हैं। इस इलाके में देसी कट्टा (पिस्तौल) बनाने वाले कई गुप्त छोटे-मोटे कारखाने हैं। वहां सवर्ण हिंदू किसान हथियार खरीद लेते हैं। अगर इन सवर्ण हिंदुओं के घरों की तलाशी ली जाए तो इनके यहां से भारी मात्रा में हथियार बरामद होंगे।

एक घंटे की यात्रा के बाद हम रानीसागर में बस से उतरे। यह छोटा कसबा है। सौ के करीब दुकानें यहां होंगी। इनमें से कुछ दुकानें मुसलमानों की हैं। एक किलोमीटर चलकर हम अयोध्या देवी (उम्र 40 वर्ष) के मकान पर पहुंचते हैं। इस हरिजन महिला के पति अनुरूप प्रसाद की कथित हत्या एक भूस्वामी ने कर दी थी। प्रसाद एक बंधुआ श्रमिक था। हरिजन बस्ती गांव के सिवान पर है। इस बस्ती में दुसाध, कलवार, चमार, तीयर और अन्य हरिजन रहते हैं। कुछ गोंड लोगों की भी झोपड़ियां हैं। ये हरिजन मुख्यतः खेतिहर श्रमिक हैं। रानीसागर के भूस्वामी मुसलमान हैं। पर इस बस्ती से सटे निकटपवर्ती गांवों में भूमिहार भूस्वामी हैं। अधिकांश के पास सौ बीघे से अधिक जमीन है। इनके यहां हरिजन खेतिहर श्रमिक काम करते हैं। मजदूरी मामूली। नकद नहीं, डेढ़ किलो धान। सरकार को धोखा देने के लिए इन भूस्वामियों ने बंधुआ मजदूरी की प्रथा कई रूपों में बरकरार रखी है।

नहर में शव

बस्ती में घुसते ही टूटी फूटी झोंपड़ियां सबसे पहले दिखीं। कुछ देर के बाद हम बस्ती वालों की आशंका को दूर करने में सफल हो गए। एक टूटी चारपाई बैठने को दी गई। हमने हरिजन श्रमिकों से कहा कि वे भी दूसरी चारपाई पर बैठें। इस पर सभी के चेहरों पर भय मिश्रित उदासी छा गई। बार-बार पूछने पर बताया गया कि यहां चारपाई नहीं है।

"क्यों ?"

उत्तर था—"चारपाई या पीढ़ा रखना हमारे लिए सामाजिक जुर्म है। मालिक लोगों का कहना है कि चारपाई या पीढ़े पर हरिजन लोग नहीं बैठ सकते। यदि कोई बैठा पाया गया तो भूस्वामी के हाथों उसकी मरम्मत होती है।"

यदि स्कूल की तरफ जाने वाली सड़क पर चलते हुए देख लिए गए तो भी उनकी मरम्मत होती है। ज्ञान और बुद्धि उनके लिए नहीं है।

काफी मनाने के बाद, अनुरूप प्रसाद की विधवा अपने पति की हत्या का पूरा घटनाक्रम सुनाने को राजी हुई। कहानी इस प्रकार है : अनुरूप प्रसाद कन्हौली के भूमिहार के यहां पिछले 18 वर्ष से 700 रुपए में बंधक था। उसके परिवार ने भूमिहारों के यहां रात दिन काम किया। मजदूरी के रूप में थोड़ा बहुत धान व खेसारी दाल दी जाती थी। उससे ही परिवार का गुजारा चलता था। पिछले तीन वर्ष से इस मजूरी में भी कटौती होने लगी।

भूखे मरने की स्थिति आने लगी। इसी बीच बीस सूत्री कार्यक्रम के तहत उसने तय किया कि वह इस बंधन से मुक्त होकर रहेगा। कहते हैं, इस क्षेत्र में अनुरूप पहला मजूर था जिसने भूमिहारों को चुनौती दी। लेकिन उसके मालिक ने उसे मुक्त करने से मना कर दिया। उसे सताया जाने लगा। एक दिन वह मालिक का घर छोड़कर चला गया। काम छोड़ने के कुछ दिन बाद भूमिहार के यहां से उसे बुलावा आया। वह भूमिहार के आदमी के साथ वहां गया। उसे यह लालच दिया गया था कि बंधुआ मुक्ति अधिनियम के तहत उसे नई और अच्छी शर्त पर काम करने के लिए कहा जाएगा। मालिक उसे मुक्त मजूर के रूप में रखने को तैयार है। नए जीवन की उम्मीद लेकर वह पुराने मालिक के यहां गया था। फिर वह कभी नहीं लौटा।

जब वह कई दिनों तक नहीं लौटा तो पत्नी को चिंता हुई। एक दिन शाहपुर थाने के दरोगा ने कहा कि नहर में किसी की लाश तैर रही है। अयोध्या देवी अन्य हरिजनों के साथ नहर पर पहुंची। वहां उपस्थित दरोगा ने कहा कि यदि वह तुम्हारे पति का शव है तो उसे पानी से बाहर निकाल लाओ। पत्नी ने स्वयं पति का शव बाहर निकाला। उसे अपने पति का शव पहचानने में कोई झिझक नहीं हुई। गांव वालों ने भी इसकी पुष्टि की कि शव अनुरूप का ही है। इसके बावजूद दरोगा ने मानने से इनकार कर दिया और शव को वापस नहर में फिंकवा दिया।

समाज सेविका बनारसी देवी के पास गुहार की गई तो उन्होंने राय दी कि अयोध्या देवी अपने बच्चों समेत पुलिस अधीक्षक के कार्यालय के सामने धरने पर बैठ जाएं। उनका धरना पांच दिनों तक चला। दरोगा के रवैए के खिलाफ अर्जी दी गई, तब जाकर कहीं सुनवाई हुई। पुलिस अधीक्षक गुप्त स्वयं घटनास्थल पर गए और लाश को पहचानने की प्रक्रिया पूरी करवाई। दरोगा से जवाब तलब किया गया। कार्रवाई थोड़ी आगे भी बढ़ी।

अनुरूप प्रसाद का बड़ा बेटा गिरधारी 500 रुपए के लिए भूमिहार मालिक मोती पांडे के यहां बंधुआ मजदूर था। पांडे अनुरूप के मालिक का रिश्तेदार ठहरा। इसीलिए डर यह हुआ कि बेटे के साथ भी कुछ घट सकता है। इसीलिए पांडे से कहा गया कि गिरधारी को मुक्त कर दें। पहले अपने 'दास' को मुक्त करने से मना कर दिया। लेकिन गांव वालों के दबाव तथा देवीजी की अनवरत कोशिशों के चलते उसे मुक्ति मिल गई थी। लेकिन उसके परिवार और गांव वालों को गिरधारी की जान पर खतरा की आशंका बनी रहती है। इसीलिए गांव वालों ने उसकी सुरक्षा का विशेष प्रबंध कर रखा है। अयोध्या देवी और उसके लड़के को एक ही दुःख था कि पैसे के अभाव में वे स्वर्गीय अनुरूप प्रसाद के क्रिया कर्म की रीति नहीं निभा सके। अयोध्या देवी के आंखों में आंसू थे। वह कह रही थी "हमारे मर्द को मुक्ति भी नहीं मिलेगी।" मुक्ति भी कहां से मिलती, पूरा परिवार पिछली सुबह से भूखा था ?

हिंसा*

वर्ग विभाजित समाज में हिंसा कोई अजूबा नहीं है। यह ऐतिहासिक सिद्ध सत्य है कि हिंसा अनिवार्य रूप से वर्ग हितों के टकराव के कारण फूटती है। अगर राजसत्ता हिंसा के माहौल में हिंसक और दलित की पहचान नहीं करती है तो परिणामतः उसे हिंसक वर्ग के हित से जुड़ जाना पड़ता है। वह राजसत्ता दलितों के विरुद्ध जा खड़ी होती है। आरा से 30 किलोमीटर दूर सहार प्रखंड के गोरपा गांव का सच भी यही कहता है।

दूसरे दिन सायं पांच बजे हम देवीजी की कार में गोरपा गांव की ओर रवाना हुए। पवना बाजार तक डामर की पक्की सड़क पर कार चली। पवना बाजार पहुंचे तो सूरज विदा होने लगा। पवना बाजार से कच्चा रास्ता पकड़ना था। कार रोकी। दस-बारह लोग जमा हो गए। हममें से एक ने पूछा "गोरपा गांव को कौन सा रास्ता जाता है ?"

प्रश्न के साथ ही भीड़ में सनसनी सी फैल गई। भीड़ की नजरें प्रश्न बनकर हम पर ही जम गई। एक ने लड़खड़ाते स्वर में पूछा, "आप लोग इस समय वहां क्यों जा रहे हैं?"

हमने जाने का कारण बता दिया।

फिर प्रश्न हुआ "मगर अंधेरे में ?" यदि इस प्रश्न का विश्लेषण किया जाए तो उनका आशय रहा होगा कि आगे मत जाइए अन्यथा जीवित नहीं लौट सकेंगे, क्योंकि आप कार वाले हैं। तीन चार मिनट बाद एक ने रास्ता बतला दिया। कार स्टार्ट की। चलते चलते एक अर्धशहरी युवक, जो ट्रांजिस्टर को पंचम ताल में रखकर फिल्मी गाने का आनंद ले रहा था, ने ताकीद की, "नक्सल एरिया बा।" यानी आगे खतरा है।

कार दाहिनी तरफ मुड़ गई। अंगिया गांव पुलिस स्टेशन आया। अब कच्चा रास्ता शुरू हो चुका था। कुछ देर बाद हम सोन नहर के किनारे पहुंच चुके थे। नहर के किनारे पर बनी कच्ची सड़क पर कार गुजर रही थी। करीब पांच छः मील चलने के बाद कार फिर रोकी। किनारे खड़े गांव वालों, जो पोशाक और रंग-रूप से सवर्ण भूस्वामी परिवारों से लगते थे, से गंतव्य स्थान के बारे में पूछा। उनके चेहरों पर आतंक ग्रस्त विस्मय था। उन्होंने बताया, "कुछ दूर और जाना पड़ेगा। परंतु सफर खतरे से खाली नहीं है।"

हम चल पड़े। नहर शाम पर उतरने लगी थी। चारों तरफ अजीबोगरीब चुप्पी हुई थी। कुछ मिनट बाद फिर रुके। कुछ मजदूर बोरों में धान भर रहे थे। हमने गोरपा गांव के बारे में पूछताछ की। मजदूरों ने निस्संकोच गोरपा गांव का दिशा निर्देश दिया। बल्कि एक मजदूर हमें गांव तक छोड़ने के लिए सहर्ष तैयार हो गया। उसके चेहरे पर न कोई विस्मय का भाव था, न आतंक और अजनबीपन था। उसने हमें कोई ताकीद नहीं दी और न ही

---

* भोजपुर क्षेत्र में अभी भी हिंसा जारी है। सवर्णों ने भी अपनी हथियारबंद सेना तैनात कर रखी है। 1996 के आम चुनावों के मौके पर भी सवर्णों और दलितों में हिंसक झड़पें हुई थीं। पिछले डेढ़ दशकों से उत्पीड़न, शोषण और आतंक में कोई कमी नहीं आई है। सवर्ण यह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं कि दलित एक पूरे इंसान का जीवन जिएं।

यह दोहराया कि 'सबरे नक्सल एरिया बा!' क्यों वह रास्ते भर आत्मीयता बिखराता आ रहा था ? इसी उधेड़बुन में हमने तीन-चार फलांग तय किए और एक अन्य छोटी सी नहर पार कर गौरपा गांव पहुंच गए।

चारों तरफ अंधेरा था। मजदूर साथी ने एक और व्यक्ति को अपने साथ लिया और हमें निर्धारित स्थान पर पहुंचा दिया। सिर्फ उसे एक आश्चर्य अवश्य हुआ। हमने उससे कहा था कि पहले हमें हरिजन टोले में ले चलो, जहां पिछले दिनों भूमिहारों ने पांच हरिजनों को जिंदा जला दिया था।

उसका अनुभव था कि कार-जीप वाले लोग तो सबसे पहले बड़े किसानों तथा भूमिहारों के ही टीले में जाते हैं, फिर हमने पहले हरिजनों के टोले में जाना क्यों चुना?

गांव के आखिरी किनारे पर स्थित हरिजनों के टोले में हम जब पहुंचे तो हरिजनों को भी आश्चर्य हुआ कि सफेदपोशों की टोली इस अंधेरे में उन तक क्यों आई है ? हमने उद्देश्य स्पष्ट किया। एक चारपाई बिछा दी गई। एक लालटेन की व्यवस्था जैसे तैसे हुई। लगभग बीस-तीस लोग जमा हो गए। बातचीत का सिलसिला आरंभ हुआ।

11 मार्च 1977 को सांय पांच बजे के आसपास पांच हरिजनों को जिंदा जला दिया गया था। इनमें तीन पुरुष एवं दो युवतियां थीं। भूमिहारों ने घरों में इन लोगों को बंद कर दिया और आग लगा दी, फिर गोली चलानी शुरू कर दी।

दो महीने बाद भी हरिजनों की आंखों में घटना की प्रत्येक बारीकी ताजा थी। एक हरिजन ने बतलाया कि घटना के रोज 'फोरस' (गांव में पहले से तैनात पुलिस फोर्स) हटा ली गई थी। 'फोरस' को विदाई देने भूमिहार लोग नहर तक गए थे। 'फोरस' के हाकिम ने उनसे हाथ मिलाया था। जब फोरस की जीप चली गई तो गांव की दक्षिण दिशा में शोर शुरू हुआ। मारकाट की आवाजें आने लगीं। गोली चलनी शुरू हो गई। दो नग्न हरिजन औरतों को भूमिहार लोग बंदूक की नोक पर हांकते ले जा रहे थे। लगभग 50-60 भूमिहार थे। तीन ओर से हरिजन टोले पर आक्रमण शुरू हो गया। बंदूक की आवाज के साथ बम फटने की आवाज आई। देखते देखते कई झोंपड़ियों में आग दिखाई दी। चीखते चिल्लाते स्त्री-बच्चे नहर की तरफ भागने लगे।

लगभग तीन घंटे तक हरिजनों का टोला जलता रहा। गोरपा गांव के समस्त संपर्क शेष दुनिया से कटे रहे। कई घंटों के बाद 'फोरस' वापस आई। लगभग 15 भूस्वामी गिरफ्तार किए गए। जब जिलाधीश मुआयने पर आया, तब कहते हैं कि करीब दो हजार कारतूस, सात राइफलें और चार बंदूक भूस्वामियों से बरामद की गई। हरिजनों का कहना है कि आज भी भूमिहारों के पास भारी संख्या में अवैध बंदूकें हैं। पुलिस ने उन्हीं हथियारों को जब्त किया जिनके लाइसेंस थे। आज भी उत्पीड़ित वर्ग को इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिल सका है कि 'फोरस' अचानक क्यों हटाई गई ? भूमिहारों ने गरमजोशी के साथ उनकी विदाई क्यों की ?

गोरपा गांव में भूस्वामियों एवं खेतिहर श्रमिकों के बीच संघर्ष की स्थिति पिछली जून

1976 से है जब तीन व्यक्तियों की हत्या भूस्वामियों ने कर दी थी। संघर्ष की कहानी इस प्रकार है। इन व्यक्तियों की जमीन भूमिहारों के पास सात वर्षों से गिरवी थी। गिरवी जमीन बीस सूत्री कार्यक्रम के अंतर्गत मुक्त हो गई। जब ग्वाला परिवार के ये तीनों व्यक्ति जमीन जोतने लगे तो भूमिहारों ने उन्हें चुनौती दी। परंतु ग्वालों ने उनकी बात मागने से इनकार कर दिया। इस पर भूमिहारों ने उनकी हत्या कर दी। आश्चर्य है, किसी को गिरफ्तार तक नहीं किया गया।

लगभग दो महीने तक गांव में आतंकग्रस्त शांति रही। लेकिन इस घटना के बाद पिछड़ी जाति के लोगों ने रात को घर से बाहर निकलना बंद कर दिया। हर समय उन्हें अपनी जान और स्त्री की इज्जत पर खतरा महसूस होता था। अन्य श्रमिकों पर भी अत्याचार होने लगे। 16-16 घंटे तक काम लिया जाने लगा। चारों तरफ बेगार व्यवस्था छाई हुई थी। बनिहारी (मजूरी) के नाम पर एक-डेढ़ रुपया या एक सेर कच्चा धान। 'उफ!' करने पर भूस्वामी द्वारा पिटाई, स्त्रियों के साथ बलात्कार।

इसी माहौल में 12 अगस्त का दिन आया। उस रोज पांच भूस्वामियों (भूमिहार जिनके पास 100-100 बीघा तक जमीन थी) का अज्ञात व्यक्तियों ने 'सफाया' कर दिया। मृतक भूमिहार पांडे थे। इस सिलसिले में सात हरिजन एवं 11 यादवों के विरुद्ध मुकदमा दायर हुआ। सबूत के अभाव में सबों को छोड़ दिया गया। हरिजन टोले के व्यक्ति निर्दोष पाए गए। इस घटना के बाद भूस्वामियों को और बंदूकों के लाइसेंस दिए गए। तब से दो वर्गों के बीच संघर्ष चल रहा था।

यहां प्रश्न उठता है कि जब ग्वाले या हरिजन मारे जाते हैं तो उत्पीड़ित टोले को आत्मरक्षा के लिए हथियार नहीं दिए जाते। भूमिहारों के विरुद्ध कोई प्रतिरोधात्मक कार्रवाई की कोशिश होती है तो उत्पीड़क वर्ग को आत्मरक्षा के लिए हथियार बांटे जाते हैं जो कि पहले से ही सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टि से ताकतवर हैं।

सबसे विचित्र बात यह है कि गोरपा गांव में हरिजन टोला जलाया गया, उनकी हत्याएं की गईं, परंतु सशस्त्र पुलिस 'फोरस' हरिजन टोले में न होकर भूस्वामियों के टोले में थी। गो कि हरिजन भूमिहारों से अधिक ताकतवर हैं और कभी भी हमला कर सकते हैं। इसी रोशनी में प्रधानमंत्री की चेतावनी की ओर ध्यान चला जाता है। क्या राजसत्ता को यह समझने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए कि कौन किसके विरुद्ध हिंसा करता है और क्यों करता है ? राजसत्ता की हिंसा किस के समर्थन में होनी चाहिए ?

टोले के लोगों ने बताया कि मृत भूमिहार अत्याचारी और चरित्रहीन थे। किसी भी हरिजन युवती का सतीत्व उनके लिए शाम के खाने से अधिक नहीं था।

आमने-सामने

रात काफ़ी हो चली थी। दस बज चुके थे। टोले के लोगों ने हमसे अनुरोध किया कि आप भूमिहारों के टोले में स्थित 'फोरस' से जरूर मिलें। वरना, कल हमें वे पीटना शुरू कर देंगे। हम पर 'नक्सली' होने का आरोप लगा कर जेल भिजवा देंगे।

एक हरिजन युवक ने घृणा से कहा, "फोरस को जब पेट की भूख लगती है तो भूमिहारों के पास पूंछ हिलाते हैं, लड़की की भूख लगती है तो हम पर गुर्राने चले आते हैं।"

बड़ी मुश्किल से डरता डरता एक व्यक्ति हमें 'फोरस' के पास पहुंचाने को तैयार हुआ। लालटेन टोले में ही छोड़ दी। हम संकरी गलियों से गुजरते जा रहे थे। चारों तरफ अंधेरा था। रास्ते में गाय, बैल व दीवारों से टकराते जा रहे थे। दस मिनट चलने के बाद अचानक हमारे सिरों पर सर्चलाइट का आक्रमण हुआ। रोशनी भूमिहारों के मकानों पर से फेंकी जा रही थी। ठीक भारत-पाक सीमा की तरह, जहां पुलिस चेक पोस्ट द्वारा दूर दूर तक लाइट फेंकी जाती है। यहां अंतर सिर्फ इतना था कि हरिजनों के पास लालटेन की रोशनी भी पर्याप्त नहीं थी। दूसरे पक्ष के पास सब कुछ था। कुत्तों के भौंकने की आवाजें आने लगीं। कड़कती आवाज आई, "कौन है, जहां भी हो, खड़े हो जाओ, वरना..." और फिर एक साथ अनेक टार्च लाइटों में हमारी आंखें चुंधियाने लगीं। सामने एक दर्जन सशस्त्र पुलिस पोजीशन लिए खड़ी थी। उनसे करीब सौ कदम की दूरी पर हम सावधान मुद्रा में खड़े हो गए।

फिर आवाज आई, "कहां से आए हो ? क्या चाहिए ?"

हमने उत्तर दिया, "दिल्ली व पटना से आए हैं। हम पत्रकार हैं। आपके आफिसर से मिलना चाहते हैं।"

कुछ क्षणों के बाद फिर आवाज आई, "ठीक है, एक आदमी पहले मिले। बाकी वहीं खड़े रहें।" मैं आगे बढ़कर उनसे मिलने गया। जैसे ही करीब पहुंचा, एक दर्जन सशस्त्र जवानों ने मुझे घेर लिया और अपने अफसर मिश्रा के पास ले गए। चार-पांच मिनट तक सवाल जारी रहे। कहा गया, यदि जरा सी भी गलतफहमी हो जाती या जरा सी देर हो जाती तो व्यर्थ में अप्रिय घटना घट सकती थी। हम अब आप लोगों की तलाश में जा रहे थे। हमें सूचना मिली थी कि कुछ बाहरी लोग हरिजन टोले की ओर गए हैं।

इसके बाद हमारे अन्य साथी भी आ गए। बारी बारी से सबका विस्तार से परिचय लिया गया। यहां तक पूछा गया कि आपके जिले के जिलाधीश या कमिश्नर का नाम क्या है ? आपकी जाति या गोत्र कौन सा है ? जिस बस्ती में रहते हैं, उसका नाम ? अनेक ऊटपटांग सवाल पूछे गए। कुछ भूमिहार भी जमा हो गए। एक भूमिहार ऐसा भी था जिसका लड़का हत्याकांड के सिलसिले में बंद था। मगर उस पिता के चेहरे पर चिंता की कोई धुंधली रेखा नहीं थी जिससे आभास हो सके कि हरिजनों की हत्या पर ग्रामवासी के नाते उसे दुःख

है या उसके बेटे को कुछ भी हो सकता है। संभवतः वह राजसत्ता के मिजाज के प्रति पूरी तरह आश्वस्त था।

आपसी चर्चा के दौरान पता चला कि 25-30 पुलिस जवान सुरक्षा के लिए तैनात किए गए हैं। गोरपा के निकटवर्ती अनेक गांवों—सहार, एकवारी, हनुमान चौरी आदि में भी 'फोरस' तैनात है। लगभग 45 मिनट के पश्चात हमने विदा लेना चाहा। औपचारिकतावश उन्होंने कहा कि हम आपको कुछ दूर तक छोड़ आते हैं। हमने उनका आग्रह स्वीकार कर लिया। भूमिहारों के टोले से गुजरते हुए हम गांव से बाहर निकले।

रास्ते में पुलिस वालों ने कहा कि यहां चंद बाहरी तत्व हैं जो हरिजनों को भूमिहारों के विरुद्ध भड़काते हैं। अनेक गांवों में पुलिस वालों पर हमला किया गया है। बारूदी सुरंगे बिछाई गई हैं।

एक सिपाही बोला, "अब आप ही बताइए, हम भूमिहारों की भी रक्षा करें और हरिजनों की भी। परंतु हमारी सुरक्षा की गारंटी कौन लेता है ?" गांव की सीमा समाप्त हो चुकी थी। हमने 'फोरस' से आग्रह किया कि वह हमें मुख्य नहर पर खड़ी कार तक छोड़े। मैंने चुटकी लेते हुए कहा, "हो सकता है, वो (नक्सली) हम पर हमला कर दें।" तपाक से एक सिपाही बोला, "नहीं बबुआ, डरने की कोई बात नहीं।"

मगर 'फोरस' की हिम्मत नहीं पड़ी कि वह दो खेत की दूरी तय कर हमें कार तक छोड़ सके।

छह

कनाड़िया की त्रासदी

रतलाम जिला। कनाड़िया गांव। 4 अगस्त 1977 को सूरज उगा। उसका स्वागत भी गांव वालों ने किया। लेकिन हवा में एक नामालूम सी खुनक थी। गांव के अंदर बाहर विचित्र, रहस्यमय हरकतें चल रही थीं। सुबह ग्यारह बजे के आसपास त्रासदी ऐसी आसान हो गई थी कि लोगों को भागने का मौका नहीं मिला। भूस्वामियों और उनके लठैतों ने चार चमारों को बर्बर तरीके से मार डाला। वे लठैत भाले, बर्छियों और अन्य देसी हथियारों से लैस थे। चमारों को मारने के पहले भूस्वामी उनके खेतों में गए, उनके मवेशियों को हांक कर ले गए। उन्होंने खेतों में खड़ी पकी फसल भी लूटने की कोशिश की। इस गुंडागर्दी और उकसावे को हरिजनों ने चुनौती दी। उन पर लाठियां बरसाई गईं। तीन चमार तो घटनास्थल पर ही मारे गए। एक बेहोश पड़ा था। होश आया तो वह मदद के लिए चिल्लाया। पानी-पानी। कोई सहायता के लिए नहीं आया। हरिजन भी नहीं। हरिजन कहां से आते? वे तो भूस्वामियों द्वारा हमले की आशंका से, औरतों की बेइज्जती के डर से पहले ही घर छोड़कर भाग गए थे।

इस त्रासदी को समझने के लिए हमें कनाड़िया गांव की सामाजिक-आर्थिक सरंचना की तह में जाना होगा। कनाड़िया गांव को उसकी ही जिंदगी में झांककर समझा जाए।

यद्यपि यह गांव बंबई-दिल्ली मेन लाइन पर धूरिया रेलवे स्टेशन से दो किलोमीटर तथा तहसील मुख्यालय आलोट से करीब दस किलोमीटर की दूरी पर स्थित है परंतु वहां तक पहुंचने के लिए कोई सुगम मार्ग नहीं है। वर्षा के दौरान स्थिति और भी विकट हो जाती है। दो बड़े-बड़े नालों और खेतों में भरे कीचड़ से गुजरकर गांव तक पहुंचना होता है।

गांव की आबादी 321 परिवारों की है जिसमें बहुमत ऊंची जातियों का है। अनुसूचित जातियों की संख्या 115 है।

भौगोलिक दृष्टि से पूरा गांव तीन भिन्न दुनिया में विभाजित है। इसकी आबादी तीन खेड़ों (मौहल्ला) में बसी हुई है। वास्तविकता यह है कि गांव का विभाजन वर्ण और वर्ग के आधार पर है। गांव के प्रथम खेड़े में सवर्ण भू-स्वामी व गैर-भूस्वामी बसे हुए हैं। खेड़ा-दो में बंधक हरिजन श्रमिक, खेतिहर मजदूर और गरीब किसान हैं। और अंतिम खेड़ा-तीन में तुलनात्मक दृष्टि से अधिक संपन्न हरिजन, अन्य पिछड़ी जाति के लोग और दस्तकार बसे हुए हैं। उल्लेखनीय पक्ष यह है कि खेड़ा तीन के हरिजन परिवारों को खेड़ा एक के सामाजिक

जीवन में प्रवेश नहीं दिया गया है। यद्यपि इन हरिजन परिवारों की स्थिति अच्छी है। इसके विपरीत खेड़ा एक ही निर्धन सवर्ण परिवारों को सभी प्रकार के परंपरागत विशेषाधिकार प्राप्त हैं। सम्पन्न हरिजनों को इनसे वंचित रखा गया है। देश के दूसरे हिस्सों में भी ऐसी ही स्थिति बनी हुई है। हरिजनों को गांव की मुख्यधारा का हिस्सा नहीं समझा जाता है।

जहां तक गांव के 50 परिवारों की आर्थिक बनावट का प्रश्न है, सवर्णों के पास सबसे अधिक भूमि है। एक संयुक्त ब्राह्मण परिवार के पास 200 बीघा भूमि है। सवर्णों को गांव में 'उत्तम वर्ग' कहा जाता है। इसी तरह गायरी जाति के पास भी अधिकतम भूमि है। इसे भी ऊंची जाति माना जाता है। दूसरे 18 परिवारों में से 5 के पास 500 बीघा भूमि है। इसके बाद स्थान ठाकुरों का है।

गांव के इन विभिन्न समुदायों के अतिरिक्त हरिजनों के पास भी भूमि है। भूधारी हरिजनों में मुख्य रूप से चर्मकार और मोची प्रमुख हैं। हरिजन समुदाय में जाति-श्रेणीकरण की दृष्टि से मोचियों को चर्मकारों से उच्च माना जाता है। आर्थिक दृष्टि से भी मोचियों की स्थिति चर्मकारों से अच्छी मानी जाती है। संक्षेप में, मोची-जाति खुद को सवर्णों के अधिक करीब समझती है। इस जाति के सदस्यों का विचार है कि वे चर्मकारों तथा अन्य हरिजनों से अधिक सोच-समझ सकते हैं। वे अधिक विकसित व परिष्कृत हैं। इन दोनों जातियों में मुख्य अंतर यह है कि मोची समुदाय का संबंध मूलतः जूते बनाने से है। ये जूते बनाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करते हैं। इस क्षेत्र का स्थानीय विधायक भी इसी जाति का है। इसके विपरीत चर्मकारों का व्यवसाय मृत मवैशियों की खाल निकालना और उसका जूते बनाने के लिए परिष्कार करना है।

गांव के चर्मकार परिवारों में मृतक ओंकार के परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी है। इसके पास 25 बीघा ज़मीन, 3 बैल, 5 गायें, 2 भैंसे हैं और 15 बकरियां हैं। दूसरे मृतक गुलाब के परिवार के पास भी लगभग ओंकार परिवार जितनी भी ज़मीन है। इसके अलावा इसके पास 4 बैल, 10 गायें और 2 भैंसे हैं। गांव के दूसरे निर्धन किसान व खेतिहर श्रमिकों के अलावा खेड़ा 2 व 3 में 11 और परिवार भी हैं। इन 11 परिवारों में से 3 परिवारों के पास 10 बीघा, एक परिवार के पास 6 बीघा, 4 परिवारों के पास 5 बीघा और 3 परिवारों के पास 2 बीघा भूमि है। गांव के अधिकांश मवैशी सवर्ण हिंदुओं के पास हैं। कुछ के पास तो 20 गाएं, 10 बैल, 60 बकरियां तथा 100 भेड़ें हैं। वे गेहूं, ज्वार, चना, बाजरा तथा अन्य नकदी फसलें जैसे कपास, सरसों, गन्ना तथा तिलहन उगाते हैं।

नकदी फसलों की वजह से सवर्ण भूस्वामी आलोट, जावारा तथा रतलाम के संगठित बाजारों से सीधे जुड़े हुए हैं। सवर्णों के बच्चों ने शहरों में शिक्षा प्राप्त की है। उनके पास वित्त से जुड़े व्यावसायिक मामलों को समझने की बेहतर क्षमता है। इससे उनके वर्ण एवं वर्ग हितों को मजबूत करने में मदद मिली है। सवर्णों के शहरों में शिक्षित बच्चे उनके उत्थान की एक और सीढ़ी हैं।

चमारों की स्थिति दयनीय है। वे गरीबी की रेखा से नीचे हैं। पेट भरने के लिए उन्हें आलोट, जावड़ा, रतलाम तथा अन्य स्थानों पर जाकर समय-समय पर काम करना पड़ता है। इनके पास असिंचित भूमि है। मृतक कान्हा ने अपनी असिंचित भूमि के लिए कुआं खुदवाने की कोशिश की थी। उसने सूदखोरों और सहकारी बैंक से कर्ज लिया, लेकिन पैसे के अभाव में कुआं खुदवाने का काम पूरा नहीं हो सका। एक या दो हरिजन परिवार नकदी फसल भी उगाते हैं। लेकिन, इससे उन्हें मुनाफा नहीं होता क्योंकि भूस्वामी नियंत्रित मंडी में उनके साथ भेदभाव बरता जाता है।

यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि मृतक ओंकार के परिवार के पास सिंचित भूमि भी है। आम फसलों के उगाने के अलावा यह परिवार नकदी फसल—कपास व सरसों भी पैदा करता है। कृषि से इसकी सालाना आमदनी 2500 से 3000 रु. के बीच है।

जहां तक अन्य किसान परिवारों का संबंध है, उनकी स्थिति बदतर है। 90 खेतिहर श्रमिकों में से 10 बंधुआ मजदूर हैं। उनकी उम्र 8 से 30 साल के बीच है। और वे एक से पांच वर्ष तक की अवधि के लिए बंधुआ हैं। बाल बंधुआ श्रमिक को 100 रुपए तथा बंधुआ को 200 से 300 रुपए वार्षिक मजदूरी मिलती है। उन्हें कम से कम 12 घंटे काम करना पड़ता है। खेतों में काम के अलावा उन्हें भूस्वामी का घरेलू काम भी करना पड़ता है। सभी बंधुआ मजदूर कर्ज में आकंठ डूबे हैं। 1975-76 में भूस्वामियों ने कुछ को स्वेच्छा से मुक्त कर दिया था। कुछ महीने पहले तक एक पूरा चमार परिवार एक सवर्ण हिंदू मालिक के यहां बंधुआ था। उसी परिवार का मुखिया आज भी आशंकित है कि उसे फिर से बंधुआ बनना पड़ेगा क्योंकि कनाड़िया और पड़ोस के गांवों में न तो काम है और न ही कर्ज मिलता है। उसके परिवार को सप्ताह में कम से कम दो बार खाली पेट सोना पड़ता है। उस पर आज भी 1,500 रुपए का कर्ज है।

हरिजनों में कोई भी शिक्षित नहीं है। खेड़ा-एक में ही प्राथमिक पाठशाला स्थित है। विद्यालय के 10 छात्रों में कोई भी हरिजन नहीं था। दो वर्ष पूर्व दो छात्र पढ़ने जरूर आए थे। लेकिन उन्हें हतोत्साहित किया गया। उन दोनों बच्चों को विद्यालय आने से रोक दिया गया। एक सवर्ण शिक्षक का कहना है कि इन हरिजन छात्रों को बंधुआ मजदूर बनना पड़ा। दूसरी बात यह भी है कि मंदिर में स्थित पाठशाला में हरिजन बच्चों को पढ़ने भी नहीं दिया जाता है।

ऐसी शिक्षा और सामाजिक-आर्थिक स्थिति को नजर में रखें तो यह तथ्य स्वतः हो जाता है कि देश के आधुनिक राजनीतिक शासनतंत्र की कार्यशीलता सीमित है। इसके दो कारण स्पष्ट हैं। पहला यह की परंपरागत शक्तियां मौजूदा आर्थिक संरचना में कोई भी परिवर्तन होने देना नहीं चाहतीं। दूसरे यह कि आधुनिक व्यवस्था दलित वर्गों के समर्थन में सौहार्दपूर्ण माहौल बनाने में अक्षम रही है। इसीलिए आधुनिक शासन तंत्र की कार्यशीलता बाधित होती है।

सामाजिक माहौल को देखें तो भूस्वामियों और हरिजनों के बीच संवाद की स्थिति नहीं

है। मृतक ओंकार के परिवार जैसे खाते-पीते हरिजन भी गांव की सामाजिक-आर्थिक बुनावट की मुख्य धारा से कटे हैं। यह मामूली समृद्धि उन्हें उनके पारंपरिक सामाजिक स्तर से ऊपर नहीं उठा पाई जबकि वर्ग के रूप में उनका स्तर ऊंचा उठ चुका है। हां, बाकी चमारों के बीच में ओंकार का परिवार जरूर समृद्ध माना जाता है।

पृष्ठभूमि

1975-76 के दौरान चमारों की स्थिति सुधारने के लिए कुछ आधी-अधूरी कोशिशें हुईं। कुछ बंधुआ मजदूरों को सवर्ण हिंदू मालिकों के शिकंजे से मुक्त कर दिया गया। आलोट तहसील में कुछ व्यापारी बने भूस्वामी मीसा के अंतगर्त गिरफ्तार किए गए। इसके अतिरिक्त खेतिहर श्रमिकों तथा बंधुआ मजदूरों की चेतना को उन्नत करने के प्रयास भी किए गए ताकि वे अपनी दुरावस्था के कारणों तथा शोषकों को पहचान सकें। इसके लिए राष्ट्रीय श्रम संस्थान तथा राज्य के श्रम विभाग ने शिविरों का आयोजन किया। इन शिविरों में चुने गए हरिजनों को आमंत्रित किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि रतलाम, सैलाना, जावरा तथा आलोट के हरिजनों एवं आदिवासियों का आत्मविश्वास बढ़ा। नए अभिजन वर्ग तथा भूस्वामियों के विरुद्ध प्रतिरोध करने की क्षमता बढ़ी।

यह जिला बड़े पैमाने पर अफीम की खेती के लिए जाना जाता है। पैसे की निरंतर आमद की वजह से हर गांव में एक नवधनाढ्य वर्ग पैदा हो गया। लेकिन वास्तव में श्रम संबंधों में कोई बदलाव नहीं आया है। बल्कि ग्रामीण इलाकों में विशेषकर जावरा और आलोट तहसीलों में वेश्यावृत्ति शुरू हो गई है। देहात के नवधनाढ्यों के शौक को पूरा करने के लिए हरिजनों, आदिवासियों तथा अन्य पिछड़ी जातियों की सुंदर-जवान लड़कियों को बलात् वेश्यावृत्ति में उतारा जा रहा है।

हाल में कुछ हरिजनों, जिन्होंने पहले शिविरों में हिस्सा लिया था, ने खेतिहर मजदूरों को संगठित करने की कोशिश की। इसमें आदिवासियों को भी शामिल करने की चेष्टा थी। आलोट तहसील में 'हरिजन-आदिवासी खेतिहर मजदूर संघ' की स्थापना की गई। तहसील के विभिन्न गांवों के भूमिहीन-अशिक्षित परिवारों से आए लोग इसके नेता चुने गए। उन्होंने इस संगठन के माध्यम से खेतिहर श्रमिकों की मजदूरों में वृद्धि की मांग की। तहसील के विभिन्न गांवों में सभाएं आयोजित की गईं। संबंधित अधिकारियों को मांगपत्र भी दिया गया जिसमें अन्य मांगों के अतिरिक्त अत्याचार पीड़ित हरिजन श्रमिकों की सुरक्षा की मांग भी थी।

कुछ संगठित प्रयासों और बढ़ती जागरूकता के चलते खड़े होते दलितों को भूस्वामी सह नहीं पाए। भूस्वामी तो इसकी प्रतीक्षा कर रहे थे कि उन्हें हरिजनों को सबक सिखाने का मौका मिले और फिर हरिजन भविष्य में अपना हक मांगने की हिम्मत नहीं करें। चुनाव के बाद की बदली स्थिति उनके लिए वरदान बनी। भूस्वामियों ने खेतिहर श्रमिकों एवं गरीब

किसानों के विरुद्ध जेहाद छेड़ दिया, जिसकी परिणिति कनाड़िया के चार हरिजनों की मौत में हुई।

विवाद नौ हैक्टेयर भूमि को लेकर शुरू हुआ। 1976 में तत्कालीन सरकार द्वारा गठित जन समितियों ने गांव की अतिरिक्त जमीन चार हरिजनों तथा एक गैर-हरिजन को आवंटित कर दी थी। परंतु खेड़ा-1 के भूस्वामियों ने आरंभ से ही इस भू-वितरण को अस्वीकार किया। उन्होंने इसे प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया। आवंटियों में दो आलोट कसबे में रहते थे। उनमें एक रामजी लाल आलोट नगरपालिका का सदस्य था तथा गैर-हरिजन आवंटी तो जन-समिति में ही चपरासी के पद पर था। रामजीलाल ने मृतकों में से एक से कहा था कि आधा बटाईदारी पर वह उसका खेत जोते क्योंकि लाल के पास खेती के लिए पैसा नहीं था।

भूस्वामियों ने आवंटन पर आपत्ति की। उनका कहना था कि उनके मवेशियों के लिए चारागाह नहीं है। इसलिए इस अतिरिक्त भूमि का आवंटन न हो। मौके पर जांच से यह स्पष्ट हो गया कि मवेशियों के चराने के लिए काफी भूमि है। उत्तम वर्ग के खेत वहां से काफी दूर हैं। रामलाल का खेत ऊबड़-खाबड़ था, उसे खेती योग्य बनाने के लिए काफी पैसा लगाना पड़ता। चपरासी को दी गई जमीन भी खेती की दृष्टि से बेकार है। चपरासी राजपूत है। आश्चर्य है कि सवर्ण भूस्वामियों ने सवर्ण चपरासी को हुए भूमि-आवंटन का कोई विरोध नहीं किया। ऐसा क्यों हुआ ? इसके कारण स्पष्ट हैं।

इस त्रासद घटना के पहले भूस्वामियों ने मृतकों को सख्त धमकी दी थी। उन लोगों ने अधिकारियों तक चिट्ठी के माध्यम से गुहार पहुंचाई। भूस्वामियों से अपने जान-माल की रक्षा की मांग की। ऐसा ही आवेदन आलोट पुलिस थाना में दिया गया। राजस्व विभाग को सूचना दी गई। लेकिन सब सोते रहे। और इस प्रकार त्रासद घटना घटी। जबकि इसे टाला जा सकता था।

वास्तविकता यह है कि उत्तम वर्ग कभी यह सहन नहीं कर सकता कि सामाजिक दृष्टि से दलित व्यक्ति आर्थिक क्षेत्र में उसकी बराबरी करे। जब ओंकार और गुलाब ने नकदी फसल उगाना और आलोट की मंडी में उन्हें बेचना शुरू किया तो उनके मार्ग में अनेक अड़चने पैदा की गईं। ओंकार द्वारा अपनी जाति के लोगों को रुपया उधार देना भी खेड़ा-1 के महाजनों को नापसंद था। स्वयं जिलाधीश का कहना था कि कनाड़िया के हरिजनों की मामूली संपन्नता भी वहां के उत्तम वर्ग के लिए हमेशा ईर्ष्या का कारण बनती रही है। उसे हमेशा डर रहा है कि 'आर्थिक बराबरी को एक बार पनपने दिया गया तो निश्चित ही उसका परंपरागत सत्ता-तंत्र छिन्न-भिन्न हो जाएगा।'

जब मैं वहां पहुंचा तो नंदा का घर अजीब सी खामोशी में डूबा था। स्त्रियों के चेहरे पर पीड़ा और आशंका की लकीरें स्पष्ट दीख रही थीं। उनके आंसू सूख गए थे। उस असहाय स्थिति में शब्द जम गए थे और अर्थ ओछे हो चले थे।

मृतक कान्हा के परिवार की स्थिति और भी दयनीय थी। उसके परिवार में बूढ़ा मा, पत्नी और तीन वर्षीय विकलांग बेटा है। जब हम उनसे मिले तो उन्होंने पिछले दो दिनों

से खाना भी नहीं खाया था। परिवार के अकेले कमाने वाले की मृत्यु के बाद घर में अन्न का दाना कहां से आता ? कभी हरिजन स्त्रियों को छोटे-मोटे काम करने को मिल जाते थे। अब तो वह भी नहीं था। उसकी पत्नी काल बाई का कहना था, "उत्तम लोग कहते हैं, हम फिर से बंधुआ मजदूरी करें। आज गांव का कोई व्यक्ति हमें काम नहीं देता। न ही उधार देता है। हमारे सामने एक ही रास्ता बच गया है—गांव छोड़कर कहीं चले जाना।" काल बाई के पास एक ही विकल्प है कि वह अपने आश्रितों के साथ हलित (बंधुआ) बन जाए। अगर यह परिवार भूस्वामियों के समक्ष झुकने से इनकार करता है तो उसे गांव से खदेड़ दिया जाएगा। और उसे शहरी श्रमिकों की गलीज वाली दुनिया में खो जाना पड़ेगा।

उत्तम वर्ग और हरिजनों के बीच तनाव की स्थिति केवल कनाड़िया गांव तक सीमित नहीं थी। बल्कि अन्य गांवों—पार नागरा, चपाना, देवगढ़, रिचा, बारु खेड़ी, दुनिया, माधोपुर, ईयारवस, मूंदल कलां, सारंगा खेड़ी, माना खेड़ी, गुड़बेली आदि में भी व्याप्त थी। अगस्त मास में करीब 12 गांव उत्तम वर्ग के आतंक से ग्रस्त थे। कुछ गांवों को तो अस्थायी पुलिस संरक्षण भी प्राप्त था। कनाड़िया में भी पुलिस चौकी स्थापित की गई थी। कुछ गांवों में ऐसा भी हुआ कि हरिजन परिवारों को जबरन निकाल दिया गया। पिछले अगस्त में मैं कालू गांव के एक हरिजन परिवार से मिला था। उक्त परिवार ने आलोट-जावरा-रतलाम मार्ग पर स्थित कसबा ताल की एक गौशाला में शरण ले रखी थी। सांगा खेड़ा गांव के ठाकुर भूस्वामियों ने इस परिवार को गांव से खदेड़ दिया था। उनकी सारी संपत्ति हड़प ली गई थी। ऐसी कई घटनाएं कई गांवों में हुईं।

सुझाव

दलित वर्ग विशेषकर हरिजन खेतिहर श्रमिकों तथा किसानों के आत्मविश्वास को पुख्ता करने तथा प्रभावित परिवारों को तत्काल राहत देने के लिए राज्य तथा केंद्र सरकार द्वारा विभिन्न तबके के लोगों द्वारा सुझाए गए निम्न कदम उठाए जाने चाहिए :

1. खेतिहर श्रमिकों, मुक्त बंधुआ मजदूरों, गरीब किसानों तथा अतिरिक्त भूमि के दलित आवंटियों के बीच असुरक्षा की आशंका खत्म करने तथा उनका आत्मविश्वास बढ़ाने के लिए कदम उठाए जाएं। ग्रामीण इलाकों में भयमुक्त तथा सौहार्द्रपूर्ण वातावरण बनाने के लिए सत्ताधारी दल द्वारा प्रखंड स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक अभियान चलाना जाए।

2. हरिजनों पर अत्याचार करने वाले गांव तथा शहर के भूस्वामियों, सवर्ण हिंदुओं तथा अन्य नवधनाढ्यों को सख्त चेतावनी दी जाए।

3. स्थिति के वास्तविक आकलन के लिए निचले स्तर के कार्यकर्ताओं को प्रभावित गांवों में भेजा जाए। उन्हें हरिजन वस्तियों में ही ठहरने को कहा जाए। इस कार्य में स्वयंसेवी संस्थाओं को भी लगाया जा सकता है।

4. ऊपर वर्णित तीन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भूमि वितरण अधिनियम, बंधुआ मजदूर

मुक्ति अधिनियम तथा कर्ज मुक्ति अधिनियम को राष्ट्रीय नीति वक्तव्य में शामिल किया जाए।

5. प्रभावित क्षेत्रों में संवेदनशील एवं प्रतिबद्ध अधिकारी भेजे जाएं।

6. जमीन पाने वालों को उसका पट्टा दिया जाए तथा आवंटन को नियमित किया जाए।

7. जिले के अधिकारी नियमित रूप से प्रभावित गांवों का दौरा करें।

8. मुक्त बंधुआ मजदूरों के पुनर्वास के लिए एक समग्र योजना तत्काल बनाई जाए। इस बीच में उन्हें तकावी कर्ज दिया जाए ताकि वे खाद, बीज तथा खेती के उपकरण खरीद सकें।

9. जहां भी भूमि वितरण, कर्ज मुक्ति तथा बंधुआ मजदूरों की मुक्ति के कार्यक्रम को लागू करना हो वहां पुलिस बल की विशेष तैनाती हो।

10. उत्पीड़कों को सख्त सजा दी जाए।

निष्कर्ष

इस प्रकार देश में हो रहे परिवर्तन के चलते उपजी हिंसा पर विमर्श के दौरान ये निष्कर्ष निकलते हैं :

1. भारतीय संदर्भ में वर्ग और जाति एक दूसरे के पूरक हैं। वर्तमान ग्रामीण हिंसा में वर्ण और वर्ग दोनों प्रकार के संघर्षों के तत्व मौजूद हैं।

2. राजनीति परिवर्तन के बावजूद संरचना में कोई बदलाव नहीं आया है। नौकरशाही अभी तक इस परिवर्तन से अप्रभावित है।

3. आपातकाल के बाद राजनीतिक उद्देश्य से चली सामान्यीकरण की प्रक्रिया के कारण भूस्वामी तथा नवधनाढ्य अपने को सत्ताधारी दल के निकट महसूस कर रहा है। उनके पुराने समीरकरणों में बदलाव का यही कारण है।

4. बीस सूत्री कार्यक्रम का कोई प्रभाव यहां के बड़े भूस्वामियों पर नहीं पड़ा। इसीलिए संघर्ष की स्थिति वहीं आई जहां मझोले तथा छोटे भूस्वामी तथा नवधनाढ्यों का आर्थिक वर्चस्व है।

5. हरिजनों तथा अन्य श्रमिक वर्गों में बढ़ती सामाजिक-आर्थिक चेतना के कारण संघर्ष बढ़ा है। भूस्वामी इस बढ़ती चेतना को बरदाश्त नहीं करते हैं।

6. केवल भूमि सुधार काफी नहीं है। इसके साथ ही मौजूदा सामाजिक-आर्थिक संरचना पर निर्णायक हमला होना चाहिए।

सात

तनाव से कसे भारत के गांव

पिछली अगस्त में मध्य प्रदेश के रतलाम जिले में हुए कनाड़िया कांड में चार हरिजन खेतिहर श्रमिक मार दिए गए थे। वह हरिजनों के विरुद्ध भूस्वामियों के गुस्से का कोई अकेला उदाहरण नहीं था। इस तरह की कई घटनाएं अन्य राज्यों में भी हुई हैं जिसमें अनेक भूमिहीन, खेतिहर श्रमिकों एवं गरीब किसानों की जाने गई हैं। परिणामतः असुरक्षा की भावना, घृणा और अविश्वास का वातावरण फिर से बन गया है। कनाड़िया कांड बिहार के बेलछी कांड के कुछ समय बाद ही हुआ, इसीलिए इसका आकलन अलग से नहीं किया जा सकता।

हरिजनों के साथ अत्याचार आपातकाल के बाद ही होना शुरू हुआ, ऐसा नहीं है। अलबत्ता आपातकाल के बाद हरिजन उत्पीड़न को नया आयाम मिल गया है। ये अत्याचार उस राजनीतिक शक्ति द्वारा किए गए हैं जो कल तक गुमनाम थी। दबी ढकी हुई थी।

इन घटनाओं के साथ ही ग्रामीण भारत में सामूहिक हिंसा का लावा फूटा है। इसके ठीक पहले देश के राजनीतिक नेतृत्व में परिवर्तन हुआ है। इसीलिए सामाजिक-आर्थिक विश्लेषक इस हिंसा की व्याख्या एक भिन्न रूप में कर रहे हैं जैसे वह भूस्वामियों और भूमिहीनों के बीच वर्ग संघर्ष हो। वर्ण और वर्ग संघर्ष साथ साथ हो रहे हैं। सत्ता में नए राजीतिक शक्तियों के आने से भूस्वामियों को बल मिला है कि वे सत्ता के परंपरागत ढांचे में कुछ समय पहले आए क्षणिक बदलाव को फिर से समायोजित कर लें। असल में यह 1947 से सत्ता में रही सरकार द्वारा चलाई गई गलत नीतियों की ही परछाईं है। और इस तरह की घटनाओं के मूल में ब्रिटिश शासन द्वारा पोषित सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था की अंतर्धाराएं ही हैं।

कुछ व्याख्याएं अंतर-रचना से संबंधित हैं तो कुछ व्यवस्था की अधिरचना से संबंधित हैं। लेकिन दोनों व्याख्याएं सत्ता की समग्र क्रिया शीलता से ही संबंधित हैं। उनका इन विभक्त चरणों—आपातकालपूर्व, आपातकाल और उत्तर आपातकाल—के मद्देनजर कोई विशेष व्याख्यात्मक अंतर यहां नहीं दीखता।

मतांतरों के बावजूद ये विश्लेषक सहमत होते दीखते हैं कि हमारी व्यवस्था में कुछ निश्चित झोल हैं जिसकी वजह से यह एक 'गोपनीय कार्यात्मक प्रणाली' में बदल गई है। इसलिए व्यवस्था का उपयोग समाज के उसी प्रभुत्वशाली हिस्से द्वारा हो पाता है जिनके पास परंपरागत रूप से संसाधनों की शक्ति है जो सत्ता के ढांचे का उपयोग अपने वर्ग-हितों

के लाभ के लिए कर सकें। यह सही है कि सत्ता में आए राजनीतिक बदलाव का लक्ष्य और सत्ताधारी दल की प्रतिबद्धता यह है कि समाज के सबसे निचले स्तर की पहुंच शीर्ष सत्ता तक हो सके। लेकिन यह इच्छा हो सकती है, यथार्थ नहीं। क्योंकि इस सदिच्छा को बेलछी तथा कनाड़िया जैसे कांडों से चुनौती मिल रही है। यह चुनौती भी वही दे रहे हैं जो नई सरकार का नेतृत्व कर रही पार्टी को सत्ता में लाए थे। क्या हम इसे विडंबना समझें या परिवर्तन के क्रम में आया संतरण-संयोग ? कुछ लोग यह तर्क दे सकते हैं कि यह परिवर्तन हुआ ही इसलिए है कि ताकि ग्रामीण भारत की परंपरागत शक्तियां अपनी गिरती विश्वसनीयता और प्रभुत्व को फिर से जमा सके। इसलिए इस अनोखी स्थिति की व्याख्या स्वतंत्र भारत के सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक आदर्शों के परिप्रेक्ष्य में ही हो सकती है।

वर्तमान व्यवस्था तो अपनी कुछ अंतर्निहित विडंबनाओं से ही पीड़ित है। इसकी कार्यपालिका पूंजीवादी देशों की जनतांत्रिक पद्धति के प्रारूप के अनुरूप बनाई गई है। वहीं इसका सामाजिक ढांचा आधुनिक, आर्थिक एवं राजनीतिक मूल्यों से अछूता रहा है। सामाजिक एवं आर्थिक रूप से भारत एक पूर्व-औद्योगिक समाज है जबकि इसकी राजनीतिक प्रणाली आधुनिक विश्व से मिलती है। राज सत्ता का यह दोहरा चरित्र ही ग्रामीण भारत की सत्ता के ढांचे में पल रहे तदर्थवाद के लिए उत्तरदाई है। यह स्थिति औपनिवेशिक शासन से लेकर आज तक चली आ रही है। सत्तासीन अभिजन वर्ग जब भी इस दोहरे चरित्र को सुधारने की कोशिश करेगा, ग्रामीण समाज से उसे हिंसक प्रतिरोध का सामना करना पड़ेगा। भूमि सुधारों की विफलता इसका प्रमाण है।

भूमि सुधार का यथार्थ क्या है ? परंपरागत भूस्वामी वर्ग से अधिशेष भूमि कभी भी बड़े पैमाने पर मुक्त नहीं हो सकी, न ही वह उत्पीड़ित जातियों तक पहुंची। सवर्ण हिंदुओं का कृषि क्षेत्र में दबदबा बरकरार है। उन्नीसवीं सदी से लेकर आज तक देश के विभिन्न इलाकों में चले किसान आंदोलनों के बावजूद कृषि अर्थव्यवस्था पर भूस्वामियों, धनी किसानों तथा महाजनों का प्रभुत्व है। आज भी कृषि संबंध वही है जो कभी बरतानवी उपनिवेश के जमाने में थे। विदेशी शासकों ने यह भांप लिया था कि मौजूदा सामंती सामाजिक संरचना को बनाए रखने में ही उनका लाभ है। इसीलिए आधुनिक जनतांत्रिक व्यवस्था की परिवर्तकारी क्षमता को सामाजिक ढांचे को प्रभावित करने का मौका ही नहीं दिया गया। कोई प्रगतिशील परिवर्तन इसलिए हो ही नहीं सका। यही कारण था कि ग्रामीण भारत का परंमरागत सत्ताधारी वर्ग आम तौर पर साम्राज्यवादियों का पिट्ठ बना रहा। भूमिहीन लोगों के श्रम का शोषण करने पर अनौपचारिक या औपचारिक प्रतिबंध कभी रहा नहीं, इसलिए भी परंपरागत सत्ताधारी वर्ग बने रहे। बंधुआ और जबरिया मजदूरी यानी बेगार जैसी घृणित प्रथाएं फलती फूलती रहीं। मेहनत करने वाले किसान वर्ग द्वारा उत्पादित आर्थिक अधिशेष को शासकों, भूस्वामियों और महाजनों के गिरोह ने हड़प लिया। राज्य के शासकीय औजार तो आधुनिक बनते गए जबकि उत्पादक शक्तियां और उत्पादन संबंध आधुनिक हो ही नहीं पाए। इन अंतर्विराधों के कारण ही व्यवस्था की कार्यकारी उपयोगिता में तालमेल का अभाव रहता है।

सामंती व्यवस्था

शुद्ध आर्थिक संदर्भ वाला वर्ग ही नहीं वर्ण भी सामंती सामाजिक संरचना को बनाए रखने में सहायक रहा है। यूरोप तथा अन्य एशियाई देशों से अलग, जाति एक शुद्ध भारतीय परिघटना है। राजसत्ता पर अपनी पकड़ बनाए रखने में इसने काफी अहम भूमिका अदा की है। ग्रामीण भारत की परंपरागत सत्ता-संरचना में सवर्ण ही हमेशा अगुआ बने रहे हैं। अधिकांश भूमि सवर्णों—ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय तथा अन्य उच्च जातियों, के पास ही रही है। वर्ण-व्यवस्था सामाजिक या सांस्कृतिक जीवन तक ही सीमित नहीं है, यह गांवों की अर्थव्यवस्था को भी नियंत्रित करती है। हिंदू धर्म ने जाति की सुस्पष्ट व्यवस्था दे रखी है। इसीलिए हिंदू समाज में जातिगत विभाजन न केवल आपसी मेलजोल बल्कि मूल्य-विधान को भी निर्धारित करता है। गांवों में रहने वाले समुदाय को यह वर्ग के रूप में जाति व्यवस्था संगठित करती रही है। उसे निश्चित नाम तथा दायित्व सौंपती रही है। लेकिन उसे आज तक कभी भी किसी गंभीर चुनौती का सामना नहीं करना पड़ा। मुगलों के जमाने से आज तक ग्रामीण समुदाय की सांस्थानिक जटिलता को जाति ही नियंत्रित करती है। निचली जातियों का शोषण होता है। उन्हें गांव की सत्ता संरचना में हिस्सा लेने नहीं दिया जाता। हर कहीं, बंधुआ मजदूर, सेवकिया, जीता गाडू, बेगार मजदूर या गरीब किसान हरिजन, पिछड़ी जाति या आदिवासी समुदाय के ही होते हैं। सवर्णों ने ही गैरपारंपरिक आर्थिक और राजनीतिक संस्थाओं, मसलन, सहकारी बैंक, भूमि विकास बैंक, लघु कृषि विकास एजेंसी, जिला परिषद, राज्य विधान सभा आदि, पर कब्जा जमा रखा है। गांवों में जाति का विभाजन ऐसा कठोर है कि किसी केंद्रीय या राज्य स्तरीय आधुनिक प्रशासनिक प्रणाली की पैठ स्थानीय मामलों में हो नहीं सकती। आपातकाल के दौरान बंधुआ मजदूर मुक्ति अधिनियम तथा ऋण मुक्ति अधिनियम को लागू करने में मिले व्यावहारिक अनुभव इसके प्रमाण हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय संदर्भ में जाति और वर्ग एक दूसरे के पूरक हैं। ये आंतरिक और बाह्य दोनों रूप में घुले-मिले हैं।

राष्ट्रीय आंदोलन के दरम्यान गावों के परंपरागत संरचना और शहरी क्षेत्रों में केंद्रित आधुनिक राजनीति के बीच की खाई को पाटने की कोशिशें हुई थीं। लेकिन किसानों को एक सीमा से आगे जाने की छूट नहीं दी गई। जब भी भूमिहीन किसानों ने सत्ता के बुनियादी समीकरण को बदलने की कोशिश की, उसे चारों तरफ से विरोध का सामना करना पड़ा। दमन के जरिए भूमिहीन किसानों को नियंत्रित कर उन्हें दरबानुमा झोंपड़ियों में धकेल दिया गया। देश में सत्ता की सीढ़ियों पर से भूस्वामियों को जब भी नीचे उतारने की कोशिश होगी, उसे विफलता ही मिलेगी। भूमि सुधारों की विफलता से यह सिद्ध हो चुका है। जब भी भूमि सुधार की बात होती है, कांग्रेस पार्टी के भीतर से ही विरोध की सबसे तीखी आवाजें उभरने लगती हैं। ऐसे कांग्रेसी मानते हैं कि भूमि सुधार परंपरागत भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए इतना घातक होगा कि अकाल का साया देश पर मंडराने लगेगा।

वास्तव में भूमि सुधार का अर्थ सिर्फ यह नहीं होता कि जोत के परंपरागत स्वामित्व में परिवर्तन किया जाए। बल्कि भूमि सुधार वर्गों तथा सवर्ण हिंदुओं एवं सदियों से दलित-उत्पीड़ित जातियों के बीच शक्ति-समीकरण में मौलिक बदलाव भी लाता है।

नव धनिक

आजादी के बाद ऐसी कोशिशें शुरू हुई कि विभिन्न योजनाओं तथा कार्यक्रमों के जरिए आधुनिक राजनीति की व्यावहारिक उपयोगिता का लाभ गांवों तक पहुंचे। लेकिन ये कोशिशें गांवों में सिर्फ एक नवधनाढ्य अभिजन वर्ग को ही पैदा कर सकीं। नए अभिजनों और पुराने अभिजनों में एक बड़ा फर्क यह है कि नए अभिजन सत्ता के प्रशासनिक ढांचे से घनिष्ठ संबंध बनाए रखते हैं जबकि पुराना अभिजन वर्ग नए ढांचे में घुलने मिलने में अपनी हेठी समझता है। इस नवधनाढ्य वर्ग ने आधुनिक उपकरणों तथा साधनों के साथ खेती शुरू कर दी है, नकदी फसलों को शहरी बाजारों में बेचना आरंभ कर दिया है। साथ ही वह बाजार अर्थव्यवस्था से परिचय बढ़ाकर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से सीधे जुड़ गया है। इस प्रकार ग्रामीण नवधनाढ्य वर्ग क्षेत्रीय, राज्य तथा राष्ट्रीय स्तर पर काम कर रहे आर्थिक शक्तियों के जटिल एवं सांस्थानिक रूपों के भी संपर्क में हैं। औद्योगिक बुर्जुआ वर्ग के निरंतर विरोध के बावजूद यह नवधनाढ्य वर्ग परंपरागत ग्रामीण श्रमिकजनों के साथ मिलकर आधुनिक सत्ता संरचना में अपनी जगह बनाने की लगातार कोशिश कर रहा है।

लेकिन इस परिदृश्य में सबसे बड़ा विरोधाभास यह है कि नवधनाढ्यों ने ग्रामीण भारत की सामाजिक संरचना को आधुनिक बनाने की कोई सार्थक कोशिश नहीं की। भूमि और उत्पादन संबंध आज भी पूर्व-ट्रैक्टर युग के ही हैं। कई सर्वेक्षणों से यह स्पष्ट हो चुका है कि कृषि के आधुनिक साधनों का उपयोग करने वाला धनी किसान भी पुराने जमींदार-मजदूर श्रम संबंध को बनाए रखना चाहता है। ट्रैक्टरीकरण की प्रक्रिया बंधुआ तथा जबरिया मजदूरी प्रथा के व्यूह में प्रवेश नहीं कर पाई है।

आपातकाल के पूर्व दीख रहा था कि ग्रामीण नवधनाढ्य वर्ग नगरोन्मुख सामाजिक-आर्थिक राजनीतिक शक्तियों से अलग हटकर अपने वर्ग-हितों की रक्षा के लिए फिर से सक्रिय हो गया है। संपूर्ण क्रांति के पहले चले गुजरात आंदोलन में भूस्वामियों, धनी किसानों तथा उनके शहरों में शिक्षित बेटों ने प्रमुख भूमिका अदा की थी। हालांकि इस आंदोलन में जमींदारों, धनी किसानों तथा अन्य परंपरागत शक्तियों के संगठन खेड़ुत समाज की भी उल्लेखनीय भूमिका थी। इसी समाज ने भूस्वामियों की अधिशेष भूमि को भूमिहीनों के बीच बांटने के हर प्रस्ताव का विरोध किया था। वास्तव में कांग्रेस सरकार दोहरी चाल चल रही थी। एक ओर तो इसने भूमि हदबंदी बिल सामने रखा वहीं दूसरी तरफ वह उसे लागू नहीं करना चाहती थी। दरअसल वह इस बिल को लाकर भूस्वामियों के मन में भय पैदा करना चाहती थी। भूस्वामी खेड़ुत समाज के मंच पर संगठित हो गए। नवधनाढ्यों ने पढ़े-लिखे हरिजनों

को पीटना शुरू कर दिया। गांवों में तनाव व्याप्त हो गया। गुजरात आंदोलन से होने वाले लाभ को देखते हुए खेड़ुत समाज उसमें शामिल हो गया। देखते देखते वह जयप्रकाश नारायण की 'संपूर्ण क्रांति' का समर्थक हो गया। 1974 में जयप्रकाश नारायण गुजरात के दौरे पर आए तो खेड़ुत समाज ने उन्हें 50,000 रुपए की थैली भेंट की। आश्चर्यजनक नहीं था कि संपूर्ण क्रांति के समर्थक जयप्रकाश नारायण ने भी भूमि हदबंदी कानून, लेवी की वसूली तथा हरिजनों-भूमिहीनों के बीच अधिशेष भूमि बांटने के मामले में खेड़ुत समाज द्वारा किए जा रहे विरोध का समर्थन किया था।

गांधी जी से लेकर जयप्रकाश नारायण तक भारतीय राजनीति की त्रासदी रही है कि जब भी किसी आंदोलनों में परस्पर विरोधी शक्तियों की भूमिका किसी परिवर्तनकारी दिशा की ओर उन्मुख होती है कि इसके नेता इसे आध्यात्मिक मोड़ दे देते हैं। देखिए भूदानी नेता विनोबा भावे क्या कहते हैं : 'दुनिया में समृद्ध और निर्धन नहीं होते। कुछ के पास भूमि तथा अन्य संपत्तियां हैं तो कुछ के पास शारीरिक बल और बुद्धि है।' यह संपूर्ण क्रांति भी उसी रास्ते पर चल रही है। वैसे 5 जून 1975 के बाद जयप्रकाश नारायण ने 'समग्र क्रांति' का आह्वान किया है। संपूर्ण क्रांति की तुलना में समग्र क्रांति की अवधारणा अधिक व्यापक और परिवर्तनमूलक है। लेकिन यह समग्र क्रांति हवा में नहीं होगी। इसमें भी दुविधा छिपी है। जयप्रकाश नारायण ने वहीं यह भी कहा कि राजनीति को सामाजिक शक्तियों से ऊपर उठकर कार्य करना चाहिए। फिर पुराना आध्यात्मिक रुझान सामने आ गया। लिहाजा देश में सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक-नैतिक-सांस्कृतिक क्रांति से प्रतिबद्धता घोषित करने के बावजूद आदिवासी, हरिजन, गरीब किसान, भूमिहीन श्रमिक और शहरी श्रमिक वर्ग इस समग्र क्रांति की ओर आकृष्ट नहीं हुआ। बिहार में तो यह गांव स्तर तक भी नहीं पहुंच सका। पिछली मई में जब मैं बिहार के भोजपुर और पूर्णिया जिले के गांवों में गया तो मजदूरों और गरीब किसानों से बातचीत के क्रम में यह स्थिति सामने आई। विचित्र बात यह थी कि भूस्वामियों और जमींदारों को समग्र क्रांति ही नहीं उसके नेतृत्व में वर्ग और जाति की हिस्सेदारी के बारे में भी पता था।

इस आंदोलन में जमींदार, धनी किसान, नवधनाढ्य और व्यापारी शामिल थे, लेकिन सारे जमींदार इसमें शामिल नहीं थे। मुझे यह अनुभव हुआ कि 200 एकड़ से अधिक जोत वाले भूस्वामी कांग्रेस के प्रति अपनी पुरानी वफादारी को छोड़कर इस आंदोलन के साथ जाने को तैयार नहीं थे। यह स्थिति आपातकाल के पूर्व और उसके बाद भी थी। वे अभी भी कांग्रेस के साथ हैं। लेकिन छिपे तौर पर वे इस आंदोलन के कुछ कार्यक्रमों को समर्थन भी देते थे। वास्तव में यह आंदोलन जैसे जैसे आगे बढ़ता गया, आर्थिक मुद्दे गौण होते गए और आखिर में तो यह केवल राजनीतिक तथा नैतिक मुद्दों तक सीमित रह गया।

संपूर्ण क्रांति को लेकर जे. पी. के बदलते बयानों में इसका प्रमाण मिलता है। बाद में तो उन्होंने स्वीकार भी कर लिया कि आंदोलन अपने मूल लक्ष्य से भटक गया है। वैसे देखें तो यह आंदोलन अपने मूल लक्ष्य से भटकने के लिए शुरू से ही अभिशप्त था। क्योंकि

जे. पी. और उनके समर्थकों ने इतिहास की धारा को मोड़ने में सामाजिक शक्तियों की भूमिका को बिलकुल नजरअंदाज किया था। इतना ही नहीं, मजदूर वर्ग समर्थक शक्तियों ने समय समय पर इस मामले को लेकर जो चेतावनी दी थी, उसे जे. पी. ने जानबूझ कर अनदेखा किया था। इस प्रकार आधारभूत सामाजिक संरचना को छुआ भी नहीं गया। आज भी वही स्थिति है। भारतीय सत्ताधारी वर्ग के विभिन्न हितों वाले समूहों के दबावों और झटकों के बावजूद आधारभूत सामाजिक संरचना पुरानी ही है।

सत्ताधारी वर्गों के इतिहास में ऐसे दौर भी आते हैं जब इसके राजनीतिक नेतृत्व को किसी वर्ग हित के द्वारा यांत्रिक रूप में नियंत्रित नहीं किया जा सकता। सत्ता में अपने वजूद अथवा अपने गुट को बनाए रखने के लिए सत्ता में बैठे नेता सत्ताधारी वर्ग के हितों पर मामूली चोट पहुंचा सकते हैं।

राजनीतिक नेतृत्व के ऐसे स्वेच्छाचारी व्यवहार से परंपरागत सत्ताधारी वर्ग के हितों पर कुछ बुरा असर पड़ा जब आपातकाल में बीस सूत्री कार्यक्रम के अंतर्गत भूमि वितरण, ऋण मुक्ति, बंधुआ मजदूर मुक्ति अधिनियम आदि लागू किए गए। निश्चय ही कुछ क्षेत्रों में प्रतिबद्ध नौकरशाहों तथा अफसरों द्वारा इन कार्यक्रमों को लागू करने के ईमानदार प्रयास किए गए। यह भी उतना ही सच है कि ये उपलब्धियां टिकाऊ नहीं बन पाई। वास्तव में राजनीतिक नेतृत्व की मंशा भी यह नहीं थी कि देश के बुनियादी सत्ता समीकरण में कोई असंतुलन लाया जाए। बावजूद इसके ग्रामीण भारत के सत्ताधारी बुर्जुआ वर्ग में खौफ तो था ही। उसे लग रहा था कि सत्ता की संरचना पर से वह अपना नियंत्रण खो बैठेगा।

आपातकाल की घोषणा तथा गरीबों की सहानुभूति बटोरने के लिए बीस सूत्री कार्यक्रम को अपनाने के बाद इंदिरा गांधी स्वयं को सभी वर्गों की अकेली त्राता बता रही थीं। एक तरफ तो वे भूमि वितरण, कर्ज एवं बंधुआ मजदूरों को मुक्ति की बात कर रही थीं तो दूसरी तरफ बुर्जुआ लोगों को उदारतापूर्वक छूट देती जा रही थीं। आपातकाल के दौरान लाखों मजदूरों की नौकरी चली गई।

फिर भी केंद्र और राज्य स्तर पर सत्ता संरचना से नाममात्र के अलगाव ने भी ग्रामीण बुर्जुआ को परेशान कर दिया तथा वे राजनीतिक नेतृत्व के प्रति आशंकित हो उठे। चुनाव की घोषाणा के बाद उन्हें फिर मौका मिला कि सत्ता संरचना से अपने उखड़े संबंधों को फिर जोड़ सकें। लेकिन ग्रामीण बुर्जुआ ने तीस वर्ष पुराने राजनीतिक नेतृत्व के प्रति विरोधी रुख अपनाया। पारंपरिक निष्ठाएं टूट गईं और उनमें से अधिकांश जनता पार्टी के साथ हो गए।

ऐसे में यदि आज वे तत्व, हाल में राजनीतिक मान्यता प्राप्त करने के बाद, पुराने सत्ता समीकरण को बहाल करने के लिए दबाव डाल रहे हैं तो कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। उनकी यह मांग स्वाभाविक है और हर हालत में जाति पर टिकी बुर्जुआ शक्तियों की मांग ग्रामीण भारत के सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़े, उत्पीड़ित, दलित जातियों के विरुद्ध ही जाएगी।

आठ

काठ की राजनीति

हालांकि आदिवासियों की भूमि हड़पने तथा गैर-आदिवासी सूदखोर महाजनों द्वारा शोषण के बारे में समाचार माध्यमों में बराबर काफी कुछ छपता रहा है। लेकिन, इमारती लकड़ी के व्यापार के जरिए आदिवासियों के शोषण की तरफ लोगों का ध्यान अधिक नहीं गया है। शोषण का यह रूप मालिक मकबूजा प्रथा पर आधारित है। बस्तर के आदिवासी क्षेत्रों में व्याप्त इस प्रथा का इतिहास दो दशक पुराना है। इस प्रथा के अंतर्गत आदिवासियों का भयंकर शोषण होते देखकर ही राज्य सरकार इस क्षेत्र में चल रहे इमारती लकड़ी के व्यापार की विस्तृत छानबीन करने पर सहमत हुई है।

इस क्षेत्र में बसे सरकार द्वारा घोषित अनुसूचित जनजाति के लोगों को यह अधिकार दिया गया कि उनको आवंटित जमीन पर लगे इमारती लकड़ी के सभी तरह के पेड़ों पर उन्हीं का एकमात्र अधिकार होगा। जल्दी ही ठेकेदारों ने इमारती लकड़ी के आदिवासी मालिकों के जरिए मुनाफा बटोरने की योजना बना ली। वे अपने पैसे तथा बुद्धि के बल पर आदिवासियों के इस अधिकार का दोहन करने लगे। आदिवासी भोले, गरीब, अशिक्षित और असहाय हैं। कानून एवं प्रशासन के समक्ष वे लाचार हैं। इसलिए वे जल्दी ही ठेकेदारों के चंगुल में फंस गए। मालिक मकबूजा प्रथा चल पड़ी। 1950 से 1975 के बीच में यह प्रथा सरकारी अधिकारियों के सहयोग से खूब फली फूली। गैर-आदिवासी ठेकेदारों ने जमकर इमारती झाड़ों का दोहन किया। उनकी खरीद-फरोख्त की।

लेकिन, 1975 में इस प्रथा से कमाई करने वाले सोलह ठेकेदार गिरफ्तार किए गए। जिला के अधिकारियों, तहसील के अधिकारियों तथा जिला वन अधिकारी के विरुद्ध भी कार्रवाई की गई।

दरअसल भारतीय संघ में देसी रियासतों के विलय के बाद ही मालिक मकबूजा प्रथा शुरू हो गई थी। इसके पहले जंगल के सभी पेड़ों पर मालिकाना हक उस जिले के सामंत प्रमुख का हुआ करता था। देसी रियासत की समाप्ति के बाद सामंत प्रमुख का हक भी समाप्त हो गया। आदिवासियों को यह अधिकार दिया गया कि उनको आवंटित भूमि में लगे पेड़ों पर भी हक उन्हीं का होगा। जब बहिरागत ठेकेदारों ने आदिवासियों के इस अधिकार की आड़ लेकर मुनाफा बटोरना शुरू किया तो वृक्ष अधिनियम पारित किया गया जिसके अंतर्गत लुटेरे व्यापारियों के विरुद्ध कार्रवाई करने का अधिकार अधिकारियों को मिल गया।

ऐसे सुरक्षात्मक प्रावधानों के बावजूद मालिक मकबूजा प्रथा 25 वर्षों तक फलती फूलती रही। पांचवें दशक के पूर्वार्ध में कांकेर तथा भानुप्रतापपुर तहसीलों में इस प्रथा ने पहले पहल अपनी जड़ें जमाईं। इसके बाद बस्तर जिला के मुख्यालय जगदलपुर से 80 किलोमीटर दूर दंतेवाड़ा तहसील में ठेकेदारों तथा व्यापारियों ने इस प्रथा को जमाया। सागवान, बीजा, शीशम, साल, तेंदू आदि इमारती लकड़ी के पेड़ों से ठेकेदार ने अकूत मुनाफा कमाया है। जो हाल दंतेवाड़ा का है, वही कांकेर तथा भानुप्रतापपुर का भी सच है। इन क्षेत्रों की यात्रा के दौरान शोषण की इस घिनौनी तस्वीर से मेरा सामना हुआ।

आदिवासियों से इमारती लकड़ी के पेड़ दो से पांच रुपए में खरीदे गए और उन्हें खुले बाजार में 200 से 300 रुपए में बेच दिया गया। पेड़ को गिराने, काटने, टुकड़ों में बांटने तथा ढोने का काम ठेकेदारों ने करवाया। इसके लिए तहसीलदार तथा वन विभाग के रेंजर से अनुमति लेनी पड़ती थी। पांच से दस रुपए प्रति पेड़ की दर से रिश्वत देने पर अनुमति आराम से मिल जाती थी। ठेकेदार पेड़ के आदिवासी मालिक से दरख्वास्त डलवाता था और आफिस में उस पर आर्डर करवाने का जिम्मा खुद ले लेता था। पेड़ के असली मालिक को पेड़ कटवाने की अनुमति प्राप्त करने के बारे में कुछ ज्ञात नहीं था। क्या रिश्वत देनी पड़ती थी या अनुमति प्राप्त करने की क्या शर्तें थीं, इससे आदिवासी बेखबर होता था। कभी-कभार उसे असलियत का पता चल भी गया और उसने विरोध किया तो उस पर आर्थिक दबाव डाला जाता, धमकी दी जाती थी। परमिट लेने से लेकर ढुलाई तक ठेकेदार को प्रति पेड़ 20-30 रुपए खर्च बैठता था। इसमें आदिवासी मालिक को दी जाने वाली पेड़ की कीमत भी शामिल थी।

यह घपला बरसों तक जारी रहा। जिले के कुछ लोगों ने जब इसके विरुद्ध आवाज उठाई तो वृक्ष अधिनियम लागू कर दिया गया। पेड़ की खरीद तथा बिक्री के लिए जिला कलक्टर से पूर्व अनुमति लेना आवश्यक कर दिया गया। कलक्टर तथा एडीशनल कलक्टर को ऐसे आवेदनपत्रों पर आदेश देने के लिए विशेष अधिकार दिया गया। इस अधिनियम के दो उद्देश्य थे : (i) ठेकेदारों से आदिवासियों का बचाव, तथा (ii) इमारती लकड़ी के पेड़ों की अनधिकृत, अंधाधुंध कटाई पर रोक। अधिनियम में स्पष्ट लिखा था, 'कलक्टर तब तक पेड़ की बिक्री-खरीद का आदेश नहीं देगा जब तक वह संतुष्ट न हो जाए कि पेड़ के आदिवासी मालिक को ठेकेदार द्वारा उचित मूल्य दिया जाएगा।'

कागज पर बरती गई इतनी सावधानी के बावजूद व्यापारियों का मुनाफा 1958 से 1975 के बीच लगातार बढ़ता गया। पहले 15 करोड़ रुपए की लकड़ी कांकेर तथा भानुप्रतापपुर तहसीलों से काटी गई थी जिसमें मात्र 1.5 करोड़ रुपए आदिवासियों को मिले थे। लेकिन 1958 से 1975 के बीच 35 करोड़ रुपए की लकड़ी व्यापारियों ने बेची और इसमें से आदिवासियों को महज 3 करोड़ रुपए मिले। आखिर पिछले वर्ष लकड़ी के व्यापार पर पूरी पाबंदी लगा दी गई।

वास्तविकता तो यह है कि जैसे-जैसे सरकारी महकमा फैलता गया, पेड़ कटवाने के

लिए अनुमति प्राप्त करने में आदिवासी निरंतर ठेकेदारों पर निर्भर होते गए। क्योंकि आदिवासियों को अर्जी देने के लिए पैसा चाहिए था, आवश्यक दस्तावेज तथा अनापत्ति प्रमाणपत्र जुटाने, पेड़ को गिराने तथा ढुलाई के लिए पैसे की जरूरत थी। बहुत मामलों में आदिवासियों को सूचना भी नहीं दी जाती थी। आदिवासियों के नाम पर फर्जी आवेदनपत्र तथा दस्तावेज तैयार किए जाते और पेड़ की बिक्री तथा कटाई के लिए ठेकेदारों के गुर्गे सरकारी अफसरों से अनुमति ले लेते थे। कलक्टर के सामने पेड़ों का नकली मालिक पेश कर दिया जाता। इस तरह के कई मामले दंतेवाड़ा तहसील के समाली गांव में प्रकाश में आए हैं और उनकी जांच चल रही है।

गनेनार गांव में तो ऐसे मामलों का पता चला है जिसमें सरकारी नक्शे में इस तरह हेराफेरी की गई जिससे सरकारी पेड़ भी आदिवासियों को आवंटित जमीन में दिखला दिए गए। इस तरह की हेराफेरी बगैर सरकारी मिलीभगत के संभव नहीं है। प्रारंभिक सरकारी छानबीन में सरकारी तथा आदिवासियों के पेड़ अवैध रूप से काटने के 40 मामले मिले हैं। सरकारी भाड़े के टट्टू बुरी तरह बेनकाब हो गए हैं। ये वही लोग हैं जिन्होंने सरकारी नक्शे में हेराफेरी की, आदिवासियों को आवंटित जमीन के साथ उलटा-पुलटा किया ताकि ठेकेदारों की मदद की जा सके। सहायक वन संरक्षक, राजस्व निरीक्षक तथा पटवारी को निलंबित कर दिया गया है।

स्वयं कानून में ही कई झोल हैं। मध्य प्रदेश भूमि राजस्व अधिनियम, 1959 की धारा 241 के अनुसार 'अगर पेड़ बेचने की अर्जी (आवेदनपत्र) पर छः महीने तक अनुमति नहीं दी जाती तो यह माना जाएगा कि अनुमति स्वयमेव प्राप्त हो गई है।' 'स्वयमेव प्राप्त अनुमति' के प्रावधान से ठेकेदारों ने काफी फायदा उठाया। उनका तरीका यह होता था कि आदिवासी मालिकों की ओर से वे अर्जी वर्षा ऋतु के प्रारंभ से पहले दिलवा देते थे। वर्षा के कारण तीन महीने तक पेड़ों की वास्तविक स्थिति चिह्नित नहीं की जा सकती थी। इसमें ही तीन महीने की देर होती थी। बाकी तीन महीने और ऐसे निकल जाते थे। फिर पेड़ों की वास्तविक स्थिति को चिह्नित किए बगैर अनुमतिपत्र मिल जाता था।

अधूरे और भ्रामक भूमि रिकार्ड तथा जंगल के नक्शे इस व्यापार में हेराफेरी के मुख्य कारण हैं। राज्य सरकार को सुझाव दिया गया है कि 300 वर्गमील के इलाके का नक्शा तत्काल फिर से बनवाया जाए। जिले के कई हिस्सों में मानचित्र बनाने के लिए भूमि सर्वेक्षण किया ही नहीं गया। आठ तहसीलों यथा दंतेवाड़ा, बीजापुर, कोंटा, जगदलपुर, कोंडागांव, नारायणपुर, कांकेड़ तथा भानुप्रतापपुर के 3,328 गांवों में से सिर्फ 1,248 गांवों का ही सर्वेक्षण हुआ है। सर्वेक्षण गांवों में भी केवल 1,029 गांवों में ही भूमि का पूरा रिकार्ड उपलब्ध है। व्यापारी इस स्थिति का फायदा मजे में उठाते हैं।

छठे दशक के उत्तरार्ध में आदिवासियों के हितों की सुरक्षा के लिए विशेष कदम उठाए गए। कलेक्टर के सामने आदिवासियों को पेड़ की कीमत का पूरा भुगतान करना आवश्यक कर दिया गया। जिला वन विभाग की राय पर कलक्टर स्वयं पेड़ की कीमत तय करने

लगे। कीमत तय करने में ठेकेदारों की मनमानी बंद हो गई। लेकिन इन कदमों का भी वही हश्र हुआ। अब ठेकेदार आदिवासियों को अपनी जीप में बिठाकर कलक्टर के कार्यालय तक ले जाता। वह कलक्टर के सामने आदिवासियों को बड़े-बड़े नोटों में नकद भुगतान करता। फिर आदिवासियों को कलक्टर के आफिस से बाहर लाता। गांव लौटने के पूर्व आदिवासियों से अधिकांश पैसे वापस ले लिए जाते। तरीका सरल था। आदिवासियों ने सौ-सौ रुपए का नोट देखा नहीं था। गांव में उसे कौन स्वीकार करता ? पांच सौ-सौ के नोट के बदले उन्हें एक रुपए के सौ नौटों की गड्डी थमा दी जाती। उनके पास बस एक रुपए के नोट की पहचान थी। वे खुश हो जाते कि उन्हें पांच बड़े लेकिन 'बेकार' नोटों के बदले एक-एक रुपए के सौ नोट मिल गए। ऐसे ठगने के हजारों मामले सामने आए। गरीबी और अशिक्षा क्या-क्या खेल दिखाती है। भोले, गरीब, अशिक्षित लोगों का शिक्षितों और धनी लोगों द्वारा शोषण का यह अजूबा तरीका भारत में ही मिलता है।

खैर, लकड़ी के व्यापार का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। लेकिन इससे ठेकेदारों की ही स्थिति मजबूत हुई। राष्ट्रीयकरण के बाद जिले में लकड़ियों का एकमात्र खरीदार जंगल विभाग हो गया। गुणवत्ता के हिसाब से पेड़ों को तीन श्रेणियों में बांटा गया। प्रत्येक श्रेणी के लिए मूल्य निर्धारित कर दिया गया। अगर अफसर खुश नहीं रहा तो अच्छी लकड़ी का पेड़ भी घटिया श्रेणी में डाल दिया जाता और आदिवासियों को कम पैसा मिलता। इसके चलते आदिवासी फिर ठेकेदारों के पास जाने लगे जो जंगल विभाग के कर्मचारियों-अफसरों से ठीक से निबटना जानते थे। चूंकि जंगल विभाग ऐसे पेड़, जिसमें दो घनमीटर से कम लकड़ी हो, को नहीं खरीदता था, इसलिए ठेकेदारों ने होशियारी से लकड़ी के दो घनमीटर से छोटे टुकड़े करने शुरू कर दिए। वे पेड़ काटने के पैसे भी आदिवासी से लेते और लंबाई छोटी कर उस लकड़ी को 'रिजेक्टेड' घोषित करवा देते। फिर सस्ते दामों में उसे खरीद लेते। लकड़ी के व्यापार पर पूर्ण बंदी हो जाने के बाद भी दंतेवाड़ा तहसील के विभिन्न इलाकों में 'रिजेक्टेड' लकड़ी के ढेर देखे जा सकते हैं।

इस इलाके में कुल सोलह ठेकेदार हैं। इनमें से एक भी बस्तर जिले का नहीं है। सब देश के दूसरे राज्यों से आए हैं। दस ठेकेदार तो पड़ोसी उत्तर प्रदेश के हैं। उन्नीसवीं सदी में भारी संख्या में उत्तर प्रदेश के ब्राह्मण तथा ठाकुर मध्य प्रदेश के रायपुर, जबलपुर, बिलासपुर, बस्तर तथा अन्य जिलों में आकर बस गए। तभी से वे इस इलाके में अपना आर्थिक प्रभुत्व बनाए हुए हैं। इनमें बहुत सारे ठाकुर तो बस्तर से सामंत-प्रमुख द्वारा उत्तर प्रदेश से लाकर बसाए गए थे। उसका कारण यह था कि तब चालीस वर्षों में सामंत-प्रमुख के विरुद्ध दो बार विद्रोह हो चुका था। प्रमुख पड़ोस के उत्तर प्रदेश तथा उड़ीसा के सवर्ण हिंदुओं को राज काज चलाने में सहायता देने तथा आदिवासियों में फूट डालकर उन्हें नियंत्रण में रखने के लिए ले आया था। इन सवर्ण हिंदुओं को दान अथवा नाममात्र की कीमत पर भूमि के बड़े-बड़े टुकड़े दिए गए। इस तरह से सवर्ण हिंदू बस्तर के तत्कालीन राजा (सामंत प्रमुख) के एजेंट बन गए। एक तरफ तो वे राज्य की मशीनरी तथा आर्थिक संसाधनों पर नियंत्रण

रखते रहे, दूसरी तरफ वे अवैध तरीकों, जालसाजी आदि के जरिए आदिवासियों को उनकी भूमि से बेदखल भी करते गए। ये बहिरागत ब्राह्मण, जैन और गुप्ता (वणिक वर्ग) स्थानीय कांग्रेस संगठन में भी घुसते गए। इनका बहुमत तो कांग्रेस में गया और बचे लोग जनसंघ में घुस गए। उनमें से एक तो एक बार राज्य विधान सभा के लिए भी चुना गया था।

इमारती लकड़ी के व्यापार के अलावा कुछ ठेकेदार तेल मिल या आरा मिल भी जगदलपुर में चलाते हैं। आदिवासियों के साप्ताहिक हाट तक को उन्होंने नहीं बख्शा। इन हाटों में सप्ताह में एक दिन आदिवासी अपनी वनोपज तथा कृषि उत्पादों मसलन धान, मक्का, महुआ, हल्दी, फलों आदि की खरीद फरोख्त करते हैं। ठेकेदारों के एजेंट इन हाटों को नियंत्रित करते हैं। वे स्थानीय उत्पादन को सस्ते में खरीद लेते हैं और बाद में उसे महंगा बेचते हैं। ये एजेंट उन हाटों में शहरी उत्पादनों, मसलन सिले-सिलाए वस्त्र, कपड़े, बरतन, नमक आदि को काफी महंगे दामों पर बेचते हैं। कुछ ठेकेदार तो देसी शराब के भी ठेके चलाते हैं। उनमें से कुछ तो जिले के विभिन्न इलाकों में शराब के कारखाने चलाते हैं।

व्यापार में इतनी विविधता और व्यापकता के चलते ये व्यापारी इमारती लकड़ी के मामले में आदिवासियों की सुरक्षा के लिए उठाए गए सारे उपायों पर पानी फेर देते हैं। संपूर्ण बस्तर में वन-कटाई थमी नहीं है। पिछले 15-16 वर्षों में विभिन्न विकास योजनाओं के नाम पर कटाई जारी है। इसके अलावा निजी ठेकेदारों का काठ-कारोबार जारी है। एक अंतर जरूर आया है। अब वे भयभीत हो कर यह कारोबार करते हैं। इसकी वजह यह है कि बस्तर जिले में आदिवासी नई चेतना से लैस दिखाई दे रहे हैं। जिले के कई क्षेत्रों में आदिवासियों ने बाहरी शोषकों के खिलाफ हथियार उठाने शुरू कर दिए हैं। दक्षिण बस्तर में 'पीपुल्स वार ग्रुप' खासा सक्रिय है, और उत्तरी क्षेत्र में भी यह अपने नए प्रभाव क्षेत्र कायम कर रहा है।

प्रशासन काठ है। राजनीति भी काठ है। क्योंकि काठ की राजनीति ही यहां सर्वोपरि है।

नौ

गुलामी से गुलामी तक

'अगर श्रमिक अपने श्रम के स्वामी नहीं बनते तो सभी संरचनात्मक सुधार अप्रभावी रहेंगे....किसी भी प्रकार से श्रम की खरीद या बिक्री एक प्रकार की गुलामी ही कहलाएगी।'
बिशप फ्रेनिक स्पिलिट
(*पेडागॉजी आफ द आप्रेस्ड*, पृष्ठ 113)

पहली गाथा

नाम	सरीफ घासी
आयु	30-35 वर्ष
गांव	रामपुर (महुआडांढ़ प्रखंड)
बंधक अवधि	आठ वर्ष
पूर्व मालिक का नाम	फारुख मियां

सरीफ घासी देश के, धरा के उन अभागे लोगों में से एक है जिन्हें 1975-76 तथा 1976-77[1] में दासता से मुक्त कराया गया था। श्रम शक्ति बेचने वाले इस मुक्त मजदूर से मेरी मुलाकात पलामू जिले में चल रहे बंधुआ मजदूरों के स्वास्थ्य सर्वेक्षण[2] (गांधी शांति प्रतिष्ठान द्वारा प्रायोजित तथा राष्ट्रीय श्रम संस्थान द्वारा संचालित) के दौरान हुई थी। सत्ता के गलियारों में उसे 'मुक्त बंधुआ मजदूर' के रूप में जाना जाता है।

आइए सुनते हैं 'मुक्ति' के बाद सरीफ के जीवन की गाथा।

भौगोलिक पृष्ठभूमि

सरीफ बिहार के सबसे पिछड़े व हमेशा से अकालग्रस्त रहने वाले जिले पलामू के पहाड़ी प्रखंड महुवाडांढ़ में रामपुर गांव का निवासी है। सरीफ ने 1975[3] में दिसंबर माह में एक

लंबे अरसे के बाद स्वयं को स्वच्छंद अनुभव किया था। उसे 103 अन्य बंधक श्रमिकों के साथ मुक्त किया गया था। मुक्त बंधक श्रमिकों में अधिकांश आदिवासी थे।[4] फारुख मियां जमींदार के यहां सरीफ आठ वर्ष से बंधुआ था। फारुख मियां उन अनेक दिक्कुओं (बाहरी व्यापारी, जमींदार आदि) में से एक हैं जिन्होंने कई दशक पहले आदिवासी बाहुल्य वाले प्रखंड महुवाडांढ़ में घुसपैठ की और यहां की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक नब्जों पर कब्जा जमा लिया।

जिले में महुवाडांढ़ की कई कारणों से विशेष स्थिति है। यह जिले का सबसे सुदूरवर्ती प्रखंड है जहां दो राज्यों, बिहार एवं मध्य प्रदेश, की सीमाएं मिलती हैं। इस प्रखंड का एक सिरा दक्षिण-पश्चिम में मध्य प्रदेश के सरगुजा जिले को छूता है, वहीं दूसरा सिरा उत्तर-पूर्व में रांची जिले को छूता है। चारों तरफ घना जंगल है। वर्षा के दिनों में प्रखंड के अधिकांश भाग जिला मुख्यालय डाल्टनगंज से कटे रहते हैं।

डाल्टनगंज से महुवाडांढ़ का फासला करीब 110 किलोमीटर है। इस दूरी को तय करने में बस पांच-छः घंटे लेती है। चूंकि यह कच्ची सड़कों तथा पहाड़ी रास्तों से भी गुजरती है, इसलिए कई बार अधिक समय भी लग जाता है। रास्ते में कई जगह 'बाघ से सावधान' की तख्ती लगी मिलती है। अन्य जंगली जानवरों के बारे में चेक-पोस्टों पर चेतावनी लिखी दीखती है। डाल्टनगंज-महुवाडांढ़ मार्ग पर केवल निजी बस मालिकों को बस चलाने की अनुमति मिली हुई है।

आदिवासी बनाम धर्मांतरित आदिवासी

प्रखंड में करीब 85 प्रतिशत आदिवासी हैं।[5] शेष आबादी में ब्राह्मण, राजपूत, साहू, मुसलमान, हरिजन, ईसाई आदि शामिल हैं। ईसाइयों ने आदिवासियों का धर्म-परिवर्तन व्यापक स्तर पर किया है। 1971 की जनगणना से पता चलता है कि प्रखंड में ईसाई धर्म स्वीकार करने वाले आदिवासियों की संख्या मूल आदिवासियों से अधिक हो गई है।

ईसाई आदिवासी उन्नत कृषि साधनों का प्रयोग करते हैं। फलस्वरूप आदिवासियों के इस समुदाय की आय में भी वृद्धि हो गई है। इसका दूसरा प्रभाव यह भी हुआ है कि ईसाई आदिवासी परिवार अब परंपरागत गैर-आदिवासी शोषक तत्वों (ब्राह्मण, राजपूत, महाजन, मुसलमान आदि) पर पहले की तरह जीवन निर्वाह के लिए निर्भर नहीं हैं। वे मुश्किल से ही कभी अपना सामान गिरवी रखते हैं या बंधुआ प्रथा के शिकार होते हैं[6] क्योंकि जो ईसाई आदिवासी भूमिहीन या बेरोजगार हैं, उन्हें महुवाडांढ़ स्थित विशाल कैथोलिक चर्च से नियमित वस्तुएं या आर्थिक सहायता मिलती है। इस प्रकार ईसाई आदिवासी समुदाय ने स्वयं में एक प्रकार की चर्च आश्रित 'सुरक्षात्मक व्यवस्था' पैदा कर ली है। इससे उसकी शुद्ध भूमिहीनता या बंधुआ प्रथा का शिकार होने से रक्षा होती रहती है।

परंतु, सरीफ मूल आदिवासी समुदाय का सदस्य है। इस समुदाय के पास 'सुरक्षात्मक

व्यवस्था' का अभाव है। फलस्वरूप बाहरी शोषक तत्वों के आक्रमण के सामने मूल आदिवासी निहत्थे, अकेले और असुरक्षित रह जाते हैं। सरीफ का गांव रामपुर महुवाडांढ़ कसबे से सटा हुआ है। रामपुर और महुवाडांढ़ के सामाजिक, आर्थिक और राजनीति संबंध निकट के हैं। रामपुर में आदिवासी और हरिजन दोनों ही बसे हुए हैं। यद्यपि मुख्य चर्च और रामपुर का फासला आधा किलोमीटर का भी नहीं है परंतु ईसाई धर्म सरीफ की बस्ती को प्रभावित करने में असफल रहा है। ईसाई मिशनरियों का संपर्क रामपुर से लगातार बना रहता है। फिर भी किसी आदिवासी या हरिजन ने धर्म परिवर्तन नहीं किया है। रामपुर गांव की लगभग संपूर्ण आबादी निर्धन किसान, खेतिहर श्रमिक और भूमिहीनों की है।

गांव में घुसते ही, झोंपड़ियों के बीच एक बलखाती गली पर चलते हुए आप सरीफ की टूटी-फूटी झोंपड़ी में पहुंचते हैं। सरीफ परिवार में सरीफ और उसकी पत्नी सारो हैं। कुछ साल पहले उनके दो बच्चे, पुत्र व पुत्री थे। परंतु बीमारी में दोनों, एक के बाद एक, मृत्यु का ग्रास बन गए। पैसा न होने के कारण सरीफ बच्चों का इलाज नहीं करा सका। उसने जमींदार से बच्चों के इलाज के लिए कुछ पैसे मांगे थे तो निराशा ही हाथ लगी।

बधुंआ मजदूर बनने से पहले सरीफ परिवार के पास आठ एकड़ जमीन थी। परंतु, जीवन निर्वाह के लिए उसके पिता ने आठ एकड़ भूमि को सवर्ण जमींदारों के यहां टुकड़ों में गिरवी रख दिया था।

और धीरे-धीरे सरीफ परिवार पूरी तरह भूमिहीनता का शिकार होता चला गया। सरीफ रोते हुए कहने लगा, "जमींदारों ने हमारी भूमि हथियाने के लिए बड़े हथकंडे अपनाए।" सरीफ और उसके पिता भूधारी से भूमिहीन आकस्मिक श्रमिक बन गए। इसी बीच सरीफ का विवाह पक्का हो गया। परंतु, घर में एक धेला भी नहीं था। इसीलिए विवाह के लिए सरीफ को जमींदार फारुख मियां से एक सौ पचास रुपए का कर्ज लेना पड़ा।

और यहीं से सरीफ के बंधुआ जीवन की गाथा शुरू हो जाती है। सरीफ पत्नी सारो के साथ जमींदार के यहां बंधक बन गया। कुछ समय पश्चात उसने फारुख मियां से 150 रुपए का और कर्ज लिया। यह कर्ज उसने पिता की चिकित्सा के लिए लिया।[8] दूसरे कर्ज के साथ बंधुआ जीवन की बेड़ियां और मजबूत हो गईं। कर्ज का ब्याज उतारने के लिए समस्त परिवार जमींदार का बंधक हो गया। ब्याज की दर प्रति वर्ष 500 से 600 प्रतिशत थी। इसी बीच उसके पिता की मृत्यु हो गई।

बंधुआ जीवन की याद करते हुए सरीफ कहने लगा, "मुझे जमींदार कभी 70 पैसे देता कभी आधा किलो धान। मुझे भोर में ही उठना पड़ता और आधी रात गए तक काम करना पड़ता था।

मुझे तरह-तरह से सताया जाता था। आठ साल की अवधि में मुझे कई बार गुली डांटा[9] (इस सजा में व्यक्ति को घुटनों के बल नीचे झुकाया जाता है। उसके हाथ पैरों से बांध दिए जाते हैं फिर पीठ पर कोड़े बरसाए जाते हैं।) की सजा दी गई। खेत पर पहुंचने में तनिक सी देरी होने पर जमींदार बुरी तरह मारता पीटता था। मेरे अलावा आठ और बंधुआ

मजदूर थे, उनकी भी यही दुर्गति होती थी। इन आठ आदिवासी बंधुआ मजदूरों की जमीनें भी फारुख मियां ने हड़प ली थीं।

उत्तर-मुक्ति जीवन

दिसंबर, 1975 में आठ वर्षों की गुलामी से मुक्त होने के पश्चात सरीफ में एक नया गरिमापूर्ण जीवन बिताने और भरपूर खाना खाने की आशाएं जगीं। पत्नी सारो को आशा थी कि उसे तन ढकने को पर्याप्त वस्त्र मिलेंगे।

मुक्त होने के पश्चात सरीफ को अन्य श्रमिकों के साथ बैलों की एक जोड़ी, एक एकड़ भूमि, छः बकरियां, एक मुर्गी, दो सूअर और खेती के कुछ आवश्यक औजार मिले। इसके अतिरिक्त मुक्त श्रमिकों को मक्का और धान के बीज तथा उर्वरक खाद भी दी गई। 100 रुपए की राशि भी प्रत्येक श्रमिक को मिली।

सरीफ को जो भूमि दी गई थी वह बिल्कुल बंजर थी। सिंचाई की कोई भी सुविधा नहीं थी। सरीफ ने एक पड़ोसी गैर-आदिवासी के कुएं से पानी लेकर जमीन सींचने की कोशिश भी की, परंतु सफलता नहीं मिली।

मुक्त बंधक श्रमिकों में यह आम शिकायत मिली कि जो जमीनें उन्हें दी गईं, उनमें अधिकांश बंजर, ऊबड़-खाबड़ और कृषि के योग्य नहीं थीं। सिंचाई की सुविधा तो किसी भी भूमि को उपलब्ध नहीं थी। पलामू के मंडरिया, रंका, चेनपुर, मनातू और महुवाडांढ़ के अनेक मुक्त श्रमिकों से बातचीत करने पर पता चला कि अधिकांश ने राहत में मिली बंजर भूमियों की कभी जुताई नहीं की। इस क्रम में केवल दो श्रमिक[10] ऐसे मिले जो जमीनों को जोत रहे थे।

मुक्त होने के तुरंत पश्चात सरीफ परिवार के समक्ष अस्तित्व रक्षा की सबसे बड़ी समस्या थी। खेती की समस्या दूसरे स्थान पर थी। जैसे ही सरीफ जमींदार के चंगुल से मुक्त हुआ, अन्य श्रमिकों के साथ उसका भी सामाजिक एवं आर्थिक बहिष्कार शुरू हो गया। क्षेत्र के जमींदारों ने मुक्त श्रमिकों पर नाकेबंदी थोप दी। सरीफ के शब्दों में, "जमींदारों ने मिलकर तय किया कि मुक्त ढांगरों (श्रमिकों) को काम नहीं दिया जाए। वे हमें भूख के मुंह में धकेलना चाहते थे।"

इसका परिणाम यह निकाला कि सरीफ का परिवार धीरे-धीरे भूखा मरने लगा। एक जून पेट भरना भी मुश्किल हो गया। सारो ने पति को सलाह दी कि भूख से बचने के लिए मक्का तथा धान के बीजों को उपयोग में लाया जाए। दोनों ने सरकारी बीजों पर कुछ सप्ताह तक गुजारा किया। उन्होंने सौ रुपए भी अनाज खरीदने में खर्च कर डाले।

दुःखी मन से सरीफ ने बताया कि बकरी, मुर्गी और सुअर एक-एक कर भूख की बलि चढ़ गए। कुछ श्रमिकों ने यह भी बताया कि हमने बैल आदि जमींदारों के यहां गिरवी रख दिए।[11] कुछ श्रमिकों ने शिकायत की कि भूतपूर्व जमींदारों ने उनसे जबरन पशु-पक्षी छीन

लिए क्योंकि वे ढांगरों को आजाद देखना नहीं चाहते थे। सरीफ ने बताया कि उसकी बकरियां ज़मींदार जबरदस्ती छीनकर ले गया और मारकर खा गया।

इस हालत में सरीफ और सारो कुछ और सप्ताह गुजारा कर सके। दोनों को रोजना 800 से 900 ग्राम तक अन्न की आवश्यकता होती थी। साग भाजी और दाल का उपयोग तो नाममात्र को था। सरीफ ने अभिमान के साथ कहा कि उनके जीवन का सबसे सुखद दिन वह था, जब उन्होंने सरकारी मुर्गी को पकाकर खाया। उस दिन सरीफ और सारो ने जी भरकर मुर्गी चावल और सब्जियां खाई थीं। सरीफ के शब्दों में, "आठ वर्षों की गुलामी के जीवन में पहली बार हमने इतना स्वादिष्ट खाना खाया था। मुर्गा हमने सरसों के तेल में पकाया और प्याज व मसालों का भी उपयोग किया। मैंने जी भरकर महुआ की दारू पी। मुझे जमींदार के यहां से कभी ताजा खाना नहीं मिला था।"

जमींदारों द्वारा आर्थिक नाकेबंदी के बाद अन्य श्रमिकों के साथ सरीफ भी पी.डब्ल्यू. डी. के छोटे मोटे कामों में मजदूरी करता रहा। कभी-कभी उसे जंगल विभाग से काम मिल जाता था, परंतु नियमित काम नहीं मिलने के कारण सरीफ के परिवार का जीवन निर्वाह मुश्किल हो गया। भूख परिवार को धीरे-धीरे चारों ओर से जकड़ने लगी थी। अंत में सरीफ ने महुवाडांढ़ छोड़कर कहीं और जाकर रोजी कमाने का फैसला लिया। सरीफ एक गैर आदिवासी दलाल के संपर्क में आया, जो बिहार के एक अन्य जिले औरंगाबाद में चल रहे निर्माणकार्य के लिए वहां ठेकेदार को मजदूर भिजवाता था।

इसके साथ ही नई गुलामी की यात्रा शुरू हो गई। सरीफ और सारो को सात महीने के लिए अनुबंधित कर लिया गया। उक्त दलाल ने अन्य मुक्त श्रमिकों के साथ सरीफ व सारो को भी बस और ट्रेन से औरंगाबाद जिले में रफीगंज भिजवा दिया। दलाल ने ही श्रमिकों के किराए-भाड़े की व्यवस्था की।

रफीगंज पहुंचने पर इन मुक्त श्रमिकों को ठेकेदार के हवाले कर दिया गया। श्रमिकों को उसी दिन नहर के निर्माण में लगा दिया गया। सरीफ और उसकी पत्नी दोनों के लिए सात रुपए पचास पैसे प्रतिदिन की मजदूरी तय की गई। पुरुष श्रमिक को साढ़े चार रुपए तथा स्त्री श्रमिक को तीन रुपए दिए जाते थे। मजदूरी सप्ताह के अंतिम दिन अदा की जाती थी। मजदूरी नकद होती थी। पहले सप्ताह सरीफ दंपति को करीब 45 रुपए मिले। रविवार और अन्य छुट्टियों के पैसे काट लिए जाते।

मजदूरी की अदायगी के दिन सरीफ और अन्य श्रमिकों को ठेकेदार के मुंशी ने हुक्म दिया कि वे एक निश्चित दुकान से ही राशन खरीदें। यह दुकान शिविर के अंदर ही थी और ठेकेदार इसका मालिक था। इस दुकान पर बाजार की तुलना में ऊंची दरों पर सामान बेचा जाता था। साथ ही सामान घटिया स्तर का था।

शिविर जीवन

ठेकेदार के इस शिविर में करीब दो-तीन सौ श्रमिक थे। शिविर में करीब 40-50 तंग झोंपड़ियां बना दी गईं। शिविर जीवन की याद करते हुए सरीफ कहने लगा, "झुग्गी इतनी तंग और छोटी थी कि उसमें पैर पसारना भी मुश्किल था। चटाई से बनी ये झोंपड़ियां सुअरों के दड़बों के समान थीं। शिविर में पानी, बिजली और शौचालय की कोई व्यवस्था नहीं थी। हमारे घूमने-फिरने पर भी अंकुश लगा हुआ था। हम कहीं भी मुक्त रूप से आ-जा नहीं सकते थे। हम सिर्फ शिविर और नहर निर्माण स्थल के बीच ही आ-जा सकते थे।

एक बार मैं शिविर की दुकान को छोड़कर करीब के हाट से राशन खरीदने चला गया। जब मैं सामान खरीदकर लौटा तो ठेकेदार के दलालों ने गालियां दी और बेइज्जत किया। यह भी धमकी दी गई कि अगर फिर कभी शिविर का कायदा कानून तोड़ा तो काम से हटा दिया जाएगा।"

सरीफ जीवन में पहली बार मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र के मजदूरों के संपर्क में आया। शिविर में बिलासपुर, मिर्जापुर और नागपुर के मजदूर भारी संख्या में थे। इन प्रवासी मजदूरों का स्मरण करते हुए सरीफ कहता है, "उनका जीवन भी सेवकिया से अच्छा नहीं था। इन मजदूरों को अपने गांव लौटने की इजाजत नहीं थी क्योंकि सब ठेकेदार के कर्ज से दबे हुए थे। इन मजदूरों ने सालों से अपना देस (गांव) का मुंह नहीं देखा था। एक ठेकेदार से मुक्त होते थे तो उन्हें दूसरे ठेकेदार के हवाले कर दिया जाता था।"

सरीफ परिवार प्रति सप्ताह मिलने वाले रुपयों को इस प्रकार खर्च करता था :

पति-पत्नी का सम्मिलित व्यय		
प्रतिदिन का व्यय	दर	साप्ताहिक व्यय
चावल दो किलोग्राम	3.25 रु.	22.75 रु.
तरकारी 100 ग्राम	0.25 रु.	1.75 रु.
प्याज 100 ग्राम	0.25 रु.	1.75 रु.
अन्य	0.50 रु.	3.50 रु.
कुल	4.25 रु.	29.75 रु.

सरीफ प्रति सप्ताह 14-15 रुपयों की बचत करता था। बचत की यह राशि ठेकेदार के पास जमा कर दी जाती थी। दूसरे श्रमिक भी ऐसा ही करते थे। ठेकेदार ने उसे यह विश्वास दिलाया था कि सात महीने पश्चात जब वह महुवाडांढ़ लौटेगा, तब उसे बचत की राशि लौटा दी जाएगी। इस विश्वास के आधार पर सरीफ स्वयं को संसार का सबसे सुखी व धनी व्यक्ति मानता था। उसे आशा थी कि सात महीने बाद वह 400-500 रुपए का मालिक

होगा। सरीफ ने अपने जीवन में इतनी बड़ी राशि की कभी कल्पना तक नहीं की थी। इन आशाओं के सहारे सरीफ व सारो अपने छोटे से परिवार के सुखद भविष्य के सपने संजोया करते थे। पति-पत्नी भविष्य की कल्पना में डूबे रहते। आड़े वक्त के लिए सारो प्रतिदिन एक अंजुली भर चावल भी हंडिया में डाल देती थी।

शोषण, उत्पीड़न और भीख

सरीफ और उसकी पत्नी भोर होने से पहले ही उठ जाते थे। सरीफ के शब्दों में, "हम सुबह छः बजे से दोपहर बारह बजे तक लगातार काम करते थे। इसके बाद आधा घंटा खाने की छुट्टी होती थी। दोबारा एक बजे से छः बजे तक काम जारी रहता था। कभी-कभी देर रात तक काम करते थे। ज्यादा काम करने के लिए हमें अलग से पैसा नहीं दिया जाता था। कभी-कभी रविवार और छुट्टियों में भी काम करना पड़ता था। काम जैसे-जैसे पूरा होने लगा, वैसे-वैसे मजदूरों से शिविर खाली करने और किसी और जगह काम देखने के लिए कहा जाने लगा।

ठेकेदार के इस हुक्म से मैं बिलकुल नहीं घबराता क्योंकि मेरे पास 500 रुपए की जमा पूंजी इकट्ठी हो गई थी। मुझे विश्वास था कि काम से अलग होते ही मेरा यह रुपया वापस मिल जाएगा। जब काम खत्म हो गया और मजदूरों से कैंप खाली करने के लिए कहा गया तब मैं अपने रुपए ठेकेदार से मांगने गया। ठेकेदार ने मेरा रुपया लौटाने से इनकार कर दिया और मुझे गालियां दीं। मैं ठेकेदार के आगे दो दिन तक गिड़गिड़ाता रहा और रोता रहा। परंतु उसके कानों पर जूं तक नहीं रेंगी। मुझे उसके कमरे से बाहर धकेल दिया गया। ठेकेदार ने दूसरे मजदूरों का भी रुपया इसी तरह हड़प लिया। सारो ने इन सात महीनों में एक-एक मुट्ठी करके जो सात किलो चावल बचाया था, उसी को रांध-रांधकर हम पंदरह दिन तक गुजारा करते रहे।"

आखिर थककर सरीफ तथा अन्य मुक्त बंधुआ श्रमिकों के परिवारों ने महुवाडांढ़ लौटने का फैसला किया। और, मुक्त श्रमिकों का काफिला औरंगाबाद से महुवाडांढ़ के लिए पैदल चल पड़ा। रास्ते में डेहरी-आन-सोन में श्रमिकों को एक अन्य ठेकेदार मिला। इस नए ठेकेदार ने श्रमिकों को पलामू जिले के हैदरनगर में मजदूरी दिलवाने का वादा किया। सभी मजदूर हैदरनगर गए और एक महीने तक निर्माण कार्य में लगे रहे।

यहां प्रत्येक मजदूर को प्रतिदिन डेढ़ किलो धान मजदूरी में दिया जाता था। सरीफ और सारो तीन किलो धान रोज कमाते थे। मजदूरी में मिले इस कच्चे धान को कूटने व साफ करने के पश्चात इसकी मात्रा आधी रह जाती थी। मजदूर आधा पेट भूखे रहकर गुजारा करते। एक महीना पूरा होने के बाद सभी मजदूर फिर से बेकार हो गए। हालत और भी दयनीय हो गई क्योंकि इनके कपड़े फट चुके थे। हैदरनगर की याद करते-करते सरीफ रुआंसा हो चला था। आंखे डबडबा आई थीं और गला भर आया था। सरीफ के शब्दों में "सारो

की देह पर एक भी साबुत कपड़ा नहीं था। एक साहूकार की पत्नी ने दया करके एक पुरानी धोती और थोड़ा सत्तू सारो को दिया।"

घर वापसी की यात्रा

हैदरनगर से इन मुक्त श्रमिकों का काफिला मुहम्मदगंज की ओर चल पड़ा। इसके साथ ही जीने के लिए सभी ने भीख मांगना शुरू कर दिया। मुहम्मदगंज के बाद ये लोग काम की तलाश में जिला मुख्यालय डाल्टनगंज की ओर बढ़े। डाल्टनगंज अभी भी 80 किलोमीटर दूर था। इन लोगों ने यह फासला पैदल ही तय करना शुरू किया। कुछ किलोमीटर पैदल चलने के बाद एक ट्रक में इन्हें डाल्टनगंज तक लिफ्ट मिल गई।

डाल्टनगंज पहुंचकर सरीफ को एक होटल में अस्थाई काम मिल गया। होटल वाला सरीफ को एक रुपया नकद तथा दोनों समय का खाना मजदूरी के रूप में देता था। अन्य मजदूरों के साथ सरीफ और सारो फुटपाथ पर रात बिताते थे। दूसरे मजदूरों ने जीवन यापन के लिए भिक्षावृत्ति को अपनाया और कुली बन गए।

डाल्टनगंज में कुछ दिन बिताने के बाद सभी मजदूर महुवाडांढ़ की ओर चल पड़े। कुछ दूर तक उन्होंने रेल-यात्रा की। चिपादीहर पहुंचकर वे रेल से उतर गए और पैदल यात्रा शुरू की। यहां से महुवाडांढ़ 70 किलोमीटर दूर था। यहां से बस की सवारी उपलब्ध थी परंतु किसी के भी पास किराए के लिए पैसा नहीं था। मुक्त बंधक श्रमिकों का यह काफिला एक सप्ताह की पैदल यात्रा के बाद, रास्ते भर भीख मांगते और सड़क किनारे पेड़ों के नीचे रात गुजारते हुए महुवाडांढ़ पहुंच गया। रामपुर में अपनी उजड़ी हुई झोंपड़ी में पहुंचने के बाद सरीफ ने फिर भिक्षावृत्ति शुरू कर दी।

मुक्त बंधक श्रमिक वापस लौटे। पराजित। वक्त से पिटे हुए और नए जीवन की शुरुआत के बिखरे सपनों को लिए। 1975 में जो आशाएं उन्होंने बांधी थीं, वे अब घोर निराशा, विवशता और विकल्पहीनता में डूब चुकी थीं।

दूसरी गाथा

नाम	झुबाल कोरवा
आयु	50 वर्ष
गांव	रक्सी (रंका प्रखंड)
बंधक अवधि	30 वर्ष
मुक्ति वर्ष	दिसंबर 1976

"तुम तो सरकार के जमाई हो। सरकार ही तुम्हें खाना देगी। हम तुम्हें कोई काम नहीं देंगे।"

बंधक श्रमिकों के सामाजिक व आर्थिक बहिष्कार की कहानी झुबाल कोरबा ने इस प्रकार शुरू की।

रंका प्रखंड के रक्सी, दाहो और दूसरे गांवों के जमींदारों ने बंधक श्रमिकों की आजादी के खिलाफ 'सामूहिक बहिष्कार' के माध्यम से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की। झुबाल कोरबा का अनुभव है कि "सवर्ण हिंदू जमींदार शुरू से ही हमारी आजादी के खिलाफ थे। ऊंची जाति के जमींदार यह कभी नहीं चाहते थे कि हम लोग बंधुआ जिंदगी से मुक्त हों और स्वतंत्र होकर मजदूरी करें।"

झुबाल कोरबा के परिवार से मैं रमकांडा गांव में मिला था। इस परिवार को गांव में बंधक श्रमिकों के बच्चों के लिए बनाए गए शिविर में लाया गया था। इसी गांव में बंधकों के बच्चों के लिए 1976 में एक प्राथमिक शाला भी खोली गई थी। रंका, चैनपुर तथा दूसरे गांवों के 50 बच्चे इसी आश्रम शाला में पढ़ते रहते थे। लेकिन किसी भी लड़की को यहां प्रवेश नहीं दिया गया था। क्योंकि लड़कियों के लिए शिक्षा 'सामाजिक टेबू' मानी जाती थी।

कोरबा के परिवार में चार लड़कियां और एक पुत्र हैं।

भू-लूट और आतंक

झुबाल रंका प्रखंड में रक्सी गांव के कोरबा आदिवासी समुदाय का सदस्य है। रक्सी गांव डाल्टनगंज से करीब 100 किलोमीटर दूर है। पलामू के इस रंका प्रखंड में सबसे अधिक बंधुआ मजदूर हैं। भौगोलिक दृष्टि से रंका भी लगभग महुवाडांढ़ के समान है। वर्षा के दिनों में इसके अधिकांश क्षेत्रों में पहुंचना दुर्गम हो जाता है। चारों तरफ पहाड़ और जंगल हैं।

रंका प्रखंड के अधिकांश जमींदार ब्राह्मण, राजपूत और भूमिधर हैं। अनके बंधुआ मजदूरों का कहना है कि कई जमींदारों के पास आज भी 500 एकड़ से अधिक बेनामी जमीन है। रंका के पूर्व शासक के पास 1000 एकड़ से अधिक बेनामी भूमि मानी जाती है।

इस क्षेत्र में भूलूट की बीमारी चारों तरफ फैली हुई है। अनेक ऐसे सवर्ण जमींदार हैं, जिन्होंने आदिवासी और हरिजनों की सैकड़ों एकड़ जमीन हथिया ली और उन्हें मुकदमेबाजी में फंसा रखा है।

जमींदार मुकदमेबाजी के कानूनी हथियार के साथ-साथ श्रमिकों पर आतंक जमाए रखने के लिए घातक हथियारों का भी इस्तेमाल करते हैं। जमींदारों के पास भारी मात्रा में वैध और अवैध बंदूकें और अन्य घातक हथियार रहते हैं।

इस प्रखंड में धरमारू सेवाकिया (जबरन बेगार गुलामी) प्रथा आज भी प्रत्यक्ष रूप से प्रचलित है।

पूर्व-मुक्ति जीवन

झुबाल का बंधुआ जीवन सात वर्ष की आयु से शुरू हुआ था। माता-पिता की मृत्यु के पश्चात झुबाल जगन्नाथ साव नामक भूस्वामी के यहां बाल बधुंआ हो गया था। वह जमींदार के घर पर ही रात-दिन रहता था। उस समय उसका काम जानवरों को चराना था। इसके एवज में उसे सिर्फ खाना मिलता था। जब वह पंदरह वर्ष का हुआ, तब अपने विवाह के लिए उसने जमींदार से 150 रुपए का कर्ज लिया। कर्ज पर ब्याज 50 प्रतिशत माह तय किया गया। यानी प्रति वर्ष उसे सिर्फ ब्याज के रूप में ही 600 रुपए देने पड़ते थे। इसका नतीजा यह निकला कि झुबाल उस जमींदार के यहां जीवन भर के लिए बंधुआ मजदूर बन गया। विवाह के पश्चात झुबाल की मजदूरी एक सेर चावल या दो सेर मक्का या धान प्रतिदिन की दर से तय हुई।

झुबाल की पत्नी भी मुक्त श्रमिक नहीं थी। वह भी बंधुआ बन गई थी। झुबाल पत्नी फुलकुरी के साथ एक झोपड़ी में रहने लगा। उसे कई बार जमींदार के यहां सोना पड़ता था। पति-पत्नी दोनों को आम-तौर पर 16 से 18 घंटे काम करना पड़ता था। पत्नी को जमींदार से मजदूरी के रूप में सिर्फ 50 पैसे मिलते थे। झुबाल और उसकी पत्नी 25 साल तक भूस्वामी जगन्नाथ साव के यहां बंधुआ मजदूर रहे।

1976 में भूस्वामी साव के चंगुल से छूटने के पश्चात पेट भरने की समस्या पैदा हुई। यद्यपि सरकार ने झुबाल परिवार को कुछ जमीन, बैल, गाय, बीज आदि दिए थे। परंतु झुबाल को इससे कोई स्थायी लाभ नहीं पहुंचा। क्योंकि सरकार से राहत में मिली जमीन बंजर और सूखी थी। सिंचाई की कोई सुविधा नहीं थी। फलस्वरूप झुबाल को काम की तलाश में इधर-उधर भटकना पड़ा।

उत्तर-मुक्ति जीवन

दासता से मुक्ति के पश्चात झुबाल-परिवार को बेसहारा रहना पड़ा। किसी भी स्थानीय ज़मींदार ने इस परिवार को काम नहीं दिया। दिया भी तो अल्पावधि के लिए। एक मुक्त श्रमिक के रूप में उसे कुल जमा 60 दिन का ही रोजगार मिला। कई दफे तो यह हफ्तों बेरोजगार रहा। इसकी एक वजह यह भी थी कि गांव के जमींदारों ने गुस्से में बाहरी मजदूरों को काम दे दिया। लेकिन जब पर्याप्त मात्रा में बाहरी श्रमिक नहीं मिले तभी गांव के श्रमिकों को काम दिया गया। तीन महीने के भीतर झुबाल को 6 जमींदार बदलने पड़े।

मुक्त होने के पश्चात झुबाल को सबसे पहले एक ब्राह्मण जमींदार के यहां एक महीने तक काम करना पड़ा। इस जमींदार ने झुबाल को प्रतिदिन दो रुपए मजदूरी तथा 500 ग्राम सत्तू की मजदूरी दी। झुबाल को यहां हल जोतना पड़ता और कटाई का काम करना पड़ता था। फुलकुरी काम नहीं मिलने पर पूरे महीने बेकार रही।

जमींदार के पास आठ बैल, चार गाय, तीन भैंसे तथा कुछ और मवेशी थे। इसके अलावा 20 एकड़ भूमि थी।

झुबाल का दूसरा जमींदार साव जाति का था। झुबाल और उसकी पत्नी ने इस जमींदार के यहां छः सप्ताह काम किया। दोनों को मजदूरी नकद और वस्तुओं में मिली। नकदी दो रुपए या उसकी एवज में ढाई किलो जौ दिए जाते थे। फुलकुरी को मजदूरी सिर्फ जौ में मिला करती थी।

झुबाल का तीसरा जमींदार अनुसूचित जाति का था। इस जमींदार के यहां चार बैल, दो गाय और दस एकड़ जमीन थी। झुबाल और उसकी पत्नी को यहां मजदूरी के रूप में कुल सात सेर मक्का प्रतिदिन मिला करती थीं। दोनों तीसरे जमींदार के पास सिर्फ दो दिन ही काम कर सके।

चौथा जमींदार सवर्ण परिवार से था। परंतु, इस जमींदार ने झुबाल को काम न देकर सिर्फ उसकी पत्नी को दो सप्ताह के लिए काम पर रखा। इस अवधि के लिए फुलकुरी को सिर्फ 12 किलो कच्चा धान मजदूरी के रूप में मिला। इस दौरान पति झुबाल बेकार रहा।

यह सवर्ण जमींदार छः बैल और 40 एकड़ से अधिक भूमि का स्वामी था।

पांचवां जमींदार पिछड़ी जाति का था। इस जमींदार के पास चार बैल और 10-12 एकड़ जमीन थी।

झुबाल का छठा जमींदार भी पिछड़ी जाति का था। वहां दोनों सिर्फ चार दिन ही काम कर सके। इस अवधि के लिए इन्हें 8-9 किलोग्राम धान मिला। इस जमींदार के पास 10-12 एकड़ जमीन थी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मुक्त श्रमिक के लिए रोजगार के अवसर दिन-ब-दिन सिकुड़ते चले गए। मुक्त बंधक श्रमिकों में यह आम शिकायत मिली कि क्षेत्र के साहूकार और जमींदार स्थानीय मुक्त श्रमिकों को काम देने के बजाए, मजदूरी की ऊंची दरों पर बाहर के श्रमिकों को काम देना अधिक पसंद करते हैं। मुक्त बंधुआ मजदूरों ने यहां बताया कि यदि दया करके कोई जमींदार काम देना भी चाहता था तो उसे निरुत्साहित किया जाता। इन श्रमिकों को तरह-तरह की धमकियां दी जाती थीं।

अनुबंधित श्रमिक का जीवन

"आखिर हार-थककर मैंने गांव छोड़ने का फैसला किया। बच्चों को गांव में ही छोड़कर हम पति-पत्नी काम की तलाश में रक्सी से निकल पड़े। सबसे पहले हम मंडल पहुंचे। यहां हमें सड़क बनाने का काम मिल गया। मुझे चार रुपए मिला करते। फुलकुरी सिर्फ खाना पकाया करती थी।" झुबाल ने कहा।

मंडल में वस्तुएं बहुत महंगी थीं। चावल तीन रुपए और सत्तू ढाई रुपए किलो थे।

आलू सवा रुपए किलो था। पति-पत्नी सिर्फ एक सप्ताह ही सब्जी का स्वाद ले सके।

झुबाल ने यह भी बताया, "मुझे एक ही दुकान से सामान खरीदने के लिए मजबूर किया जाता था। सभी मजदूरों का यही हाल था। हर मजदूर को सुबह आठ बजे से शाम पांच बजे तक काम करना होता था। मेरे साथ अन्य सोंकिया (मुक्त बंधुआ मजदूर) भी काम करते थे।"

झुबाल ने ठेकेदार के यहां दो महीने काम करते हुए अपने बच्चों के लिए दो रुपए बचाए। झुबाल के बच्चे गांव में ही भिक्षावृत्ति पर गुजारा करते थे। क्योंकि कोई भी जमींदार उनको काम पर रखने को तैयार नहीं था।

ठेके का काम समाप्त होने पर दोनों पति-पत्नी रक्सी लौट आए। क्योंकि उन्हें अन्यत्र काम[12] नहीं मिल सका। अर्ध भुखमरी का शिकार दोनों फिर से बन गए। भूख के दिन गिनाते हुए झुबाल कहने लगा, "आषाढ़, सावन और भादों के महीने में एक समय ही अन्न मिलता है। क्वार, कार्तिक और अगहन के महीनों में दोनों समय पूरा खाना मिल जाता है। इन महीनों में मक्का, धान, कोदों, कुदकी और तिल से पेट भरते हैं।"

पूस, माघ और फाल्गुन में फिर से भूखों मरने की हालत हो जाती है। सुबह भूख में ही गुजर जाती है। बच्चों को भी अनाज का दाना नसीब नहीं होता। सिर्फ चैत और वैशाख में फिर से दोनों समय खाना मिलता है। इन महीनों में हम जंगल से महुवा और लाख इकट्ठा करते और दोनों को बेचकर गुजारा करते हैं।[13]

आम तौर पर महुवा की खरीद स्थानीय व्यापारी करते हैं। 60 पैसे प्रति किलो की दर से महुवा खरीदा जाता है। छः किलो महुवा बीनने में 10-12 घंटे लग जाते हैं। दो-तीन व्यक्ति एक साथ महुवा बीनते हैं। महुवा चुगने के पश्चात उन्हें सूखने के लिए डाल दिया जाता है। सूखने के बाद महुवा की मात्रा करीब 25 प्रतिशत घट जाती है। इस प्रकार शेष मात्रा के बाजार में दो-ढाई रुपए मिलते हैं।

परंतु जब महुवा की ऋतु (अगस्त से जनवरी) नहीं होती है, तब व्यापारी उसी महुवा को दो से ढाई रुपए किलो की दर से आदिवासियों को बेच देता है और तीन-चार गुना अधिक मुनाफा कमाता है।

जहां तक लाख का सवाल है, व्यापारी आदिवासियों को तीन किलो लाख का एक रुपया देते थे। एक किलो लाख को एकत्रित करने के लिए आदिवासी को लगातार 12 घंटे काम करना पड़ता है। व्यापारी इसी लाख को डाल्टनगंज में चार से पांच रुपए किलोग्राम की दर से बेचता है।

मुक्त बंधक श्रमिकों की इन दो गाथाओं में कुछ निश्चित आधारभूत समानताएं हैं। दोनों श्रमिकों का मुक्त-जीवन इन समानताओं से नियंत्रित है। इन गाथाओं से यह बुनियादी सवाल भी पैदा होता है कि पिछले तीन सालों में ग्रामीण भारत में किए गए कृषि-सुधारों की 'प्रभावोत्पादकता' व 'उपयोगिता' क्या है ?

विश्लेषण

उपर्युक्त गाथाओं से यह तथ्य स्वतः ही स्थापित हो जाता है कि बंधुआ प्रथा से मुक्त होने के पश्चात भी श्रमिक का समाज में एक स्वतंत्र एवं गरिमायुक्त मानव के रूप में पुनर्वास नहीं हो पाता है। एक मुक्त श्रमिक के रूप में जीवन यापन की संभावना बहुत ही क्षीण रहती है। गुलामी से आजाद होने के पश्चात उसे तुरंत ही एक ऐसे वातावरण का सामना करना पड़ता है जो कि विकल्पहीनता, विवशता और सामाजिक व आर्थिक बहिष्कार पर आधारित है। फलस्वरूप उसकी अंतिम परिणति फिर से गुलामी स्वीकार करना और बंधुआ मजदूर बन जाना है।

इन दोनों कहानियों में निम्न समानताएं ध्वनित होती हैं :

1. भूमिहीनता;
2. सवर्ण भूस्वामियों का मुक्त बंधुआ श्रमिकों के प्रति शत्रुतापूर्ण रवैया;
3. भूस्वामियों द्वारा श्रमिकों की आर्थिक नाकेबंदी;
4. श्रमिकों में नई परिस्थितियों से उत्पन्न चुनौतियों का सामना करने की क्षमता का अभाव;
5. श्रमिकों में पुनर्वास के लिए प्राप्त सुविधाओं के पर्याप्त उपयोग करने की समझदारी की कमी;
6. सिंचाई का अभाव;
7. मुक्त होने के पश्चात अर्ध-भूख की स्थिति में बीज एवं पशुओं का उपभोग;
8. बंधुआ प्रथा का फिर से शिकार यानी ठेके का श्रमिक बन जाना;
9. फिर से परंपरागत बंधुआ श्रमिक बनने की बढ़ती संभावना; और
10. विकल्पहीनता।

इन समानताओं के संदर्भ में श्रमिकों के मुक्त जीवन की यात्रा-गाथा पर चर्चा करना यहां प्रासंगिक रहेगा।

किसी भी व्यवस्था में श्रम की बहुमुखी भूमिका होती है। परंतु यहां मुख्य रूप से दो भूमिकाएं उल्लेखनीय रहेंगी। प्रथम, श्रम समाज के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए उत्पादन के रूप में ऊर्जा का निर्माण करता है। दूसरा, श्रम समाज में उत्पादन और उत्पादक शक्तियों के आपसी संबंधों के रूप निर्धारण में महत्वपूर्ण भमिका निभाता है। यदि किसी व्यवस्था के अंतर्गत श्रम के प्रतिफलों पर मूल उत्पादक शक्तियों के बजाए अन्यों को अधिकार एवं नियंत्रण जमाने की अनुमति मिल जाती है तो उस स्थिति में सांस्थानिक संरचना में उत्पादन संबंधों का समीकरण निम्न होगा : एक ओर उत्पादक शक्तियां होंगी, और दूसरी ओर उत्पादन, उत्पादन नियंत्रण वर्ग और संवैधानिक नियामक संस्था यानी राजसत्ता होगी।

सरीफ और झुबाल की गुलामी से मुक्ति और मुक्ति से गुलामी तक की प्रक्रिया ने इस 'मिथ' को ध्वस्त कर दिया है कि ग्रामीण भारत के परंपरागत शक्ति-समीकरणों में कोई बुनियादी

परिवर्तन किए बगैर उत्पादन शक्तियां एक स्वतंत्र अस्तित्व के रूप में विकसित हो सकती हैं। इस प्रक्रिया से इस स्थापना को भी बल मिला है कि वर्णवादी कृषि-संबंधों में सतही सुधार अंततोगत्वा यथास्थितिवादी ही प्रमाणित होंगे। क्योंकि इस प्रकार के सुधार अंतर्निहित सांस्थानिक सीमाओं से नियंत्रित होते हैं। फलस्वरूप सुधारों की क्रियात्मक क्षमता ही सीमित एवं प्रभावहीन हो जाती है और उत्पादन संबंधों के आधारों को हिलाने में असफल रहती है। यही कारण है कि बंधुआ मुक्ति कानून, ऋण उन्मूलन कानून और पुनर्वास कार्यक्रम ग्रामीण भारत के कृषि संबंधों में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं ला सके। वास्तव में सरकार द्वारा उठाए गए इस प्रकार के कदम सांस्थानिक सीमाओं के अनु-उत्पाद (बाई-प्रोडक्ट) से अधिक कुछ नहीं थे।

अतः सांस्थानिक अंतर्निहित सीमाओं से नियंत्रित सुधार होने के कारण सरीफ और झुबाल गुलामी से मुक्त होने के बावजूद मुक्त श्रमिक का दर्जा प्राप्त नहीं कर सके। क्योंकि दोनों का अभी तक अपनी श्रम शक्ति पर अधिकार नहीं था। वर्णवादी कृषि संबंध श्रम शक्ति को पूर्व निर्धारित दिशा की ही ओर धकेल रहे थे। ग्रामीण भारत की सांस्थानिक संरचना ने दोनों मुक्त श्रमिकों के लिए गुलामी के अतिरिक्त अन्य विकल्पों के सभी द्वारा बंद कर दिए थे। ऐसी स्थिति में जमींदार की गुलामी से मुक्त हुए तो शहरी ठेकेदार के यहां बंधुआ बन गए। दोनों के लिए जमींदार और ठेकेदार की गुलामी में कोई विशेष अंतर नहीं था। जमींदार और ठेकेदार दोनों की सत्ता श्रमिकों के सामाजिक एवं आर्थिक तथा मानसिक एवं शारीरिक उत्पीड़न और शोषण पर टिकी हुई है।

यही कारण है कि सरीफ और झुबाल के लिए ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों में अबाध श्रम गतिशीलता की जमीन तैयार नहीं हो सकी। क्योंकि राजसत्ता द्वारा किए गए तथाकथित सुधारों की मंशा व दिशा उत्पादक वर्ग व उत्पादक, उत्पादन नियंत्रक वर्ग व राजसत्ता, उत्पादक वर्ग व राजसत्ता के परस्पर संबंधों में गुणात्मक परिवर्तन करने की कभी नहीं रही। अतः कहा जा सकता है कि जमींदार और ठेकेदार सरीफ और झुबाल के श्रम पर बहुत सुविधा से 'डाका' मार सके।

सरीफ एवं झुबाल की गुलामी तक की यात्रा-गाथा से यह भी स्थापित हो जाता है कि उत्पादक शक्तियों के मुक्त-अस्तित्व के विकास के लिए यह आवश्यक है कि उनमें मुक्ति की चेतना भी पैदा की जाए। क्योंकि चेतना व बोध के धरातल पर तैयारी के अभाव में शारीरिक मुक्ति को स्थाई रखना लगभग असंभव है। आंतरिक चेतना और बाह्य प्रभावों की अंतः संबंधता से परिचित कराए बिना उत्पादक शक्तियां वस्तुस्थिति में गुणात्मक परिवर्तन लाने में हमेशा असफल रहेंगे।

सरीफ एवं झुबाल की गुलामी से गुलामी तक की यात्रा भी इसी प्रकार की असफलता का प्रतीक है। क्योंकि दोनों मुक्त श्रमिकों की चेतना के स्तर पर मुक्ति और उसकी सुरक्षा के लिए कतई तैयारी नहीं थी। यहां तक कि वे दासता एवं मुक्ति के अंतरबोध से भी अपरिचित थे। उन्होंने न स्वयं या जमींदार या सरकार से कभी पूछा कि आदिवासी एवं हरिजन ही

बंधुआ क्यों बनते हैं ? उन्हें मुक्ति की आवश्यकता क्यों है ? सवर्ण ठेकेदार या जमींदार श्रमिकों को क्यों बंधुआ बनाता है ? जमींदार या ठेकेदार को क्यों नहीं बंधुआ बनाया जा सकता ? बंधुआ प्रथा से मुक्त होने के लिऐ श्रमिकों को सरकारी सहायता या कानून की आवश्यकता किसलिए है, क्या वे स्वयं नहीं मुक्त हो सकते ? जमींदारों और ठेकेदारों की रक्षा कौन करता है ? श्रमिकों की आर्थिक नाकेबंदी और सामाजिक बहिष्कार किसलिए किया जाता है ? क्या वे इनके विरुद्ध संघर्ष नहीं कर सकते ? बंधुआ प्रथा किन-किन आधारों पर टिकी हुई है ? मुक्त श्रम प्रथा क्यों नही है ? श्रमिकों को स्थाई रोजगार क्यों नहीं मिलता?

सरीफ एवं झुबाले या सारो एवं फुलकुरी के दिमाग में कभी भी इस प्रकार के सवाल नहीं उठे और न ही सरकार ने कभी यह कोशिश की कि बंधक श्रमिक से जुड़े इन सवालों के बारे में सोचे। वास्तव में चारों बंधक श्रमिकों को 'गुलामी से आजादी' सरकारी वैशाखी के साथ मिली। इसका दुष्परिणाम यह निकला कि जब सरीफ एवं झुवाल परिवारों का सामाजिक व आर्थिक बहिष्कार किया गया तो वे इसके विरुद्ध 'विद्रोह' नहीं कर सके ? वे चुपचाप इसे बरदाश्त करते रहे। यहां तक कि उन्होंने ठेकेदारों के श्रमिक शिविरों में दूसरी 'गुलामी' को भी बिना किसी प्रतिरोध के स्वीकार कर लिया श्रमिकों के लिए उत्पीड़न, शोषण, दमन, अत्याचार और दासता जीवन के आधारभूत पंचतत्वों के समान थे। इसीलिए वे नई चुनौतियों का मुकाबला करने में असफल रहे। गांव में जमींदार के विरुद्ध संघर्ष करने के स्थान पर उन्होंने गमन और शहर में ठेकेदार के यहां बंधुआ बनना पसंद किया और गुलामी से गुलामी तक की यात्रा को एक पूर्व निर्धारित नियति के रूप में तय किया। लेकिन जब कभी और जहां कहीं समाज के प्रभावित वर्गों द्वारा बदलाव के लिए सशक्त हस्तक्षेप किया जाएगा तो उसके परिणाम क्रांतिकारी निकलेंगे। अतः उत्पीड़ित व बंधक श्रमिकों में विवेचनात्मक चेतना व माहौल में हस्तक्षेप करने की क्षमता पैदा करना जरूरी है। सांस्थानिक परिवर्तन की प्रक्रिया में इनकी हिस्सेदारी जरूरी है।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. देश में लगभग एक लाख बंधुआ श्रमिकों की पहचान की गई है जिनमें से 25,000 का ही पुनर्वास किया जा सका है. स्रोत : केंद्रीय श्रम मंत्रालय.
2. 200 से अधिक मुक्त तथा अमुक्त बंधुआ श्रमिकों, सीमांत किसानों तथा मुक्त बंधुआ श्रमिकों के बच्चों के स्वास्थ्य का परीक्षण किया गया. इस सर्वेक्षण के दौरान चैनपुर तथा मंडरिया प्रखंडों में 50 नए बंधुआ श्रमिकों का पता चला.

   ये सब रक्ताल्पता के अतिरिक्त रतिज रोगों, कुपोषण, रतौंधी तथा कृमि आदि से पीड़ित थे.
3. संपूर्ण पलामू जिले में 603 बंधुआ श्रमिक मुक्त कराए गए थे, जिनमें से 103 महुवाडांढ़ प्रखंड के थे.
4. 103 मुक्त श्रमिकों में से 90 आदिवासी, 10 हरिजन और तीन पिछड़ी जातियों के थे.

5. 1971 की जनगणना के अनुसार महुवाडांढ़ प्रखंड की जनसंख्या :

कुल जनसंख्या	पुरुष	स्त्री	आदिवासी	हरिजन	अन्य
40595	20542	20053	34160	1053	5382

क. श्रम शक्ति कुल परिवार	कृषि परिवार	भूमिहीन परिवार	अन्य
6948	4023	1121	1804

6. मुक्त आदिवासी श्रमिकों में से 15 (यानी 16 प्रतिशत) ईसाई आदिवासी श्रमिक हैं.
7. 1976 में राष्ट्रीय श्रम संस्थान ने 60 मुक्त श्रमिकों का एक शिविर लगाया था, जिसमें 35 श्रमिकों ने बंधुआ मजदूरी का कारण विवाह के लिए ऋण बताया था.
8. इसी शिविर में 15 श्रमिकों ने बताया कि उन्होंने चिकित्सा के लिए ऋण लिया था.
9. पलामू जिले के उपायुक्त ने ही बंधुआ मजदूरी के सबसे निकृष्ट रूप को सामने लाया था.

   जिला मुख्यालय से 70 किलोमीटर (मनातु प्रखंड) मनातु के पूर्व शासक ने चीता और भेड़िया पाल रखा है. उनके यहां बंधुआ तथा सेवकिया दोनों प्रकार के मजदूर हैं. किसी ने चूं-चपड़ की तो उसे पेड़ से बांधकर पीटा जाता है। उनके यहां से भी 100 बंधुआ मजदूरों को मुक्त किया गया.
10. मुक्त श्रमिकों की पुनर्वासन संपत्ति

(कुल लाभ प्राप्तकर्ताओं की संख्या-29)

भूमि	संख्या
कृषि योग्य	2
बंजर एवं परती	22
जिन्हें भूमि नहीं मिली	5
कुल	29

11. वर्तमान स्थिति (संख्या परिवारों की है) :

स्थिति	संपत्ति			
	बैल	बकरी	सूअर	मुर्गी
सभी मृत	8	10	19	28
सभी जीवित	16	2	1	-
आधे मृत	5	17	9	1
कुल	29	29	29	29

12. तुलनात्मक आय स्थिति (तालिका अगले पृष्ठ पर देखें)
13. भूख एवं बेभूख की अवधि (महीना 30 दिनों का माना गया है)

तुलनात्मक आय स्थिति

	पति				पत्नी					
		मजदूरी प्रतिदिन				मजदूरी प्रतिदिन			भूस्वामियों की संपत्ति	
जमींदार	श्रम दिवस	वस्तु में	मूल्य रु. में	नकदी रु. में	श्रम दिवस	वस्तु में	मूल्य	नकदी	भूमि	बैल
पहला	30	500 ग्राम सत्तू	.75	2	-	-	-	-	200	8
दूसरा	30	वही	वही	2	15	1 किलो जौ	1.50	-		2
तीसरा	2	1-1/2 किलो मक्का	2.25	-	2	1 किलो मक्का	1.50	-	9	4
चौथा	15	1-1/2 किलो मक्का	2.25	-	15	1 किलो मक्का	1.50	-	20	6
पांचवां	2	1-1/2 किलो मक्का	2.25	-	5	1 किलो मक्का	1.50	-	12	4
छठा	4	1-1/2 किलो मक्का	2.25	-	4	1 किलो मक्का	1.50	-	12	4
सातवां (ठेकेदार)	60	-	-	4	-	-	-	-	-	-
कुल	143	64-1.2 किलो	96.75	360	41	41	61.50	-	-	-

मास	प्रतिदिन दो से अधिक भोजन के दिवस	एक समय का पूर्ण भूख के दिवस
जनवरी (पौष-माघ)	15	15
फरवरी (माघ-फाल्गुन)	10	20
मार्च (फाल्गुन-चैत्र)	10	20
अप्रैल (चैत्र-वैशाख)	30	-
मई (वैशाख-ज्येष्ठ)	5	25
जून (ज्येष्ठ-आषाढ़)	10	20
जुलाई (आषाढ़-श्रावण)	10	20
अगस्त (श्रावण-भाद्रपद)	15	15
सितंबर (भाद्रपद-आश्विन)	30	
अक्तूबर (आश्विन-कार्तिक)	30	
नवंबर (कार्तिक-मार्गशीर्ष)	30	
दिसंबर (मार्गशीर्ष-पौष)	15	15

खण्ड दो

'जब एक किसान अपने हाथों में बंदूक उठाता है, तब पुराने मिथक धुंधले पड़ने लगते हैं और एक-एक करके वर्जनाएं विस्मृत होने लगती हैं। एक विद्रोही का हथियार उसकी इंसानियत का सुबूत है।'

ज्यां पॉल सार्त्र (रेचेड आफ दि अर्थ की भूमिका)

दस

शिक्षा : मुक्ति की निरंतर प्रक्रिया

पृष्ठभूमि

पिछले कुछ वर्षों से देश के नीति-निर्माता तथा गैर-नीति-निर्माता क्षेत्रों में जिन मुद्दों पर तीखी बहस चल रही है उनमें 'राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम' तथा 'समन्वित ग्रामीण विकास योजना' वर्तमान परिस्थितियों के संदर्भ में विशेष महत्वपूर्ण हैं। दोनों कार्यक्रमों का रिश्ता देश की लगभग 80 प्रतिशत जिंदगियों की 'बेहतरी' से जुड़ा है। दोनों में यही 'बुनियादी अंतर-संबंधता' है। एक की कार्यधर्मिता दूसरे के परिप्रेक्ष्य को प्रभावित किए बिना नहीं रह सकती। अतः दोनों की संयुक्त कार्यधर्मिता वर्तमान सत्ता प्रतिष्ठान और उसकी नींव को, जो कि 'यथास्थितिवादी उत्पादन संबंधों' पर टिकी हुई है, अपरिहार्य रूप से प्रभावित करेगी।

हालांकि, ये दोनों ही कार्यक्रम भारत की जनता के लिए पुराने हैं, सन् 1967 के बाद के राजनीतिक और प्रशासनिक नीतिनिर्माताओं द्वारा विभिन्न ढंग (भूदान, ग्रामदान, सामुदायिक विकास योजना, सहकारिता आंदोलन, हरित-क्रांति, बंधक-श्रमिक प्रथा उन्मूलन, कृषक-श्रमिक साक्षरता अभियान, बुनियादी शिक्षा आदि) से इन कार्यक्रमों की धुनाई की जा चुकी है, परंतु 'कुछ बात बनी नहीं' जैसे नतीजे सामने आए। सब बेअसर रहा। अतः समग्र क्रांति के बाद के राजनीतिक नेतृत्व-वर्ग ने इन कार्यक्रमों से 'कुछ-बात-बने' जैसी एक नई आजमाइश शुरू की। प्रौढ़ शिक्षा का आधारभूत कार्यक्षेत्र ग्रामीण भारत है, उसे ग्रामीण विकास का वाहक स्वीकार किया गया। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए 2 अक्टूबर 1978 को राष्ट्रीय स्तर पर प्रौढ़ शिक्षा अभियान शुरू किया गया, जिसके अंतर्गत 1984 तक 10 करोड़ व्यक्तियों को साक्षर बनाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। इस समूचे कार्यक्रम को लागू करने के लिए 30 हजार प्रौढ़ शिक्षा केंद्र खोले जाएंगे तथा लगभग ढाई अरब रुपए व्यय किए जाएंगे।

अब सवाल उठता है कि क्या प्रौढ़ शिक्षा का मकसद सिर्फ व्यक्ति (ग्रामीण या अर्ध-शहरी या शहरी) को साक्षर बनाना है या ऐसी प्रक्रिया में निर्णायक भूमिका निभाने के लिए शिक्षित करना है, जो समान उत्पादन सबधों पर आधारित व्यववस्था स्थापित करने के लिए शुरू की जाती है ? वास्तव में कोई भी शिक्षा प्रणाली एक स्वतंत्र प्रक्रिया नहीं है। समाज में व्याप्त उत्पादक व्यक्तियों तथा उत्पादन नियंत्रण एवं उत्पादन संबंध निर्धारण संस्थाओं के

मध्य पारस्परिक संबंधों के सांस्थानिक स्वरूप से शिक्षादर्शन प्रभावित होता है। अतः प्रत्येक समाजव्यवस्था का अपना एक निश्चित शिक्षा तंत्र होता है। परंतु, जब शिक्षा को एक स्वतंत्र इकाई (उत्पादन संबंध प्रक्रिया से अप्रभावित) के रूप में स्वीकार किया जाता है, तो निश्चित ही वह 'शिक्षित इंसान' के स्थान पर सिर्फ 'साक्षर इंसान' पैदा करती है। यह साक्षर इन्सान आगे चलकर शासक वर्ग की जरूरत का ईंधन बनता है, जिसे दफ्तर की भट्ठियों में भी झोंका जाता है और साक्षर उत्पादन मशीनों (विद्यालय) में भी ईंधन का अंबार लगता रहता है।[1] परंतु, यह ईंधन समाज के उत्पादन-संबंधों अथवा व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिए बेकार सिद्ध होता है—किसी भी सृजन के लिए मृत। यह मृतावस्था जन्म देती है 'उत्पीड़न की संस्कृति' तथा 'खामोशी की संस्कृति' को। पाओलो फ्रेरे के मत में आज समूचा तीसरा विश्व इस 'खामोशी की संस्कृति' की गिरफ्त में है।

वास्तव में तीसरे विश्व[2] की यह विडंबना रही है कि वहां के शासक वर्ग ने हमेशा शिक्षा के सवाल पर सतही एवं स्थूल दृष्टि से सोचा है। शिक्षा के मसले का इस हद तक सामान्यीकरण किया गया है कि वह केवल साक्षरों की संख्या में वृद्धि के लक्ष्य तक सीमित हो गया है। संक्षेप मे अब तक 'लक्ष्य प्रणाली' की नीति अपनाई गई है। यदि कुछ आगे बढ़ें तो सामुदायिक विकास योजना या उन्नत कृषि शिक्षा तक प्रयास सीमित रह गया। स्पष्ट शब्दों में शिक्षा के सवाल को जान-बूझकर समूची समाज व्यवस्था से काटकर देखा गया। इसलिए आज से कई दशक पूर्व गांधी जी का यह स्पष्ट मत था कि शिक्षा के मसले को एकांगी दृष्टिकोण से नहीं देखा जा सकता, उसमें राजनीतिक चेतना के तत्व अवश्य होने चाहिए।[3]

वैसे आज कुछ देशों में शिक्षा को सामाजिक शक्तियों के दायरे से बाहर रखने की नीति को त्यागा जा रहा है, जिसमें तंजानिया[4] आदि देश शामिल हैं। ब्राजील और चिली में भी इस प्रकार की शिक्षा नीति पर अमल किया गया था परंतु वहां सैनिक तानाशाही सरकारों[5] (ब्राजील में अप्रैल 1964 और चिली में सितंबर 1973) के स्थापित होने के बाद उत्पीड़ित वर्ग के हितों से जुड़ी नई शिक्षा पद्धति समाप्त कर दी गई। अब शिक्षा को मानव की "स्वतन्त्रता की दिशा में निरंतर प्रयास" के रूप में स्वीकार किया जा रहा है। निश्चित ही, तीसरे विश्व में शिक्षा को एक नया आयाम देने का श्रेय पाओलो फ्रेरे को दिया जा सकता है। अतः तीसरे विशेषतः भारत, की उन विशिष्टताओं पर सरसरी दृष्टि प्रासंगिक होगी, जिनके परिप्रेक्ष्य में फ्रेरे के क्रांतिकारी शिक्षा दर्शन के साथ विस्तार से चर्चा की जाएगी।

विशिष्टताएं

तीसरी दुनिया के राजनीतिक, प्रशासनिक और बौद्धिक नेतृत्व वर्ग ने जहां नियोजित ढंग से शिक्षा का अति-सामान्यीकरण किया, वही संबंधित देशों की वस्तुस्थिति-जन्य विशिष्टताओं को भी नजरअंदाज किया गया। नतीजा यह हुआ है कि तीसरी दुनिया उपनिवेशवादी और

साम्राज्यवादी शिक्षा की खपत मंडी बन गया। दूसरी ओर समूचा नेतृत्व स्वयं मानसिक रूप से कभी मुक्त नहीं हो सका। इसलिए वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दलाल की भूमिका निभाता रहा। स्थिति यहां तक पहुंच गई है कि उसने पश्चिम के मूल्यों की स्वस्थ प्रतिकृति के स्थान पर उसकी विद्रूप अनुकृति[6] को अपने जीवन-आदर्श के रूप में स्वीकार किया। इस विद्रूप अनुकृति का 'कैंसरी प्रभाव' शिक्षा पर पड़ा। शासक वर्ग और जनता के बीच खाई बढ़ती चली गई। राजनीतिक वर्ग की कथित लोकतांत्रिक और समाजवादी नीतियों के बावजूद, रजनी कोठारी के शब्दों में "आज शिक्षा हमारे समाज में सुविधाभोगी वर्ग का आधार तथा उच्च शिक्षा शोषण का हथियार तथा विषमताओं की जननी" बनी हुई है।[7]

कमोबेश यही स्थिति भूतपूर्व औपनिवेशिक देशों तथा लैटिन अमेरिका के अधिनायकवादी देशों में भी व्याप्त है। यद्यपि संबंधित देशों की शिखर सत्ता संस्थाओं (कार्यपालिका, विधायिका, न्यायपालिका) के स्वरूप का आधुनिकीकरण अवश्य किया गया है, परंतु उनके संचालक तत्वों के चरित्र में कोई बुनियादी तब्दीली नहीं आई है। शिखर सत्ता प्रतिष्ठान तथा ग्रामीण समाजव्यवस्था में इतना व्यापक अंतर है कि एक ही देश में दो स्वतंत्र प्रभुता संपन्न सत्ताएं दिखाई देती हैं। भारत में यह स्थिति 200 वर्षों से भी अधिक समय से व्याप्त है।[8] ग्रामीण भारत के कृषि-सबधों में परिवर्तन लाने के मार्ग में यह संस्थानिक अंतराल[9] एक प्रमुख बाधा रहा है। ग्रामीण भारत की सामंती व्यवस्था दिल्ली के सत्ता-प्रतिष्ठान को आज भी स्वीकार नहीं करती। इस वस्तुस्थिति की पृष्ठभूमि में जो विशिष्टताएं उभरती हैं, उनमें प्रमुख हैं:

1. उत्पीड़ित और उत्पादक वर्ग का सत्तातंत्र से मानसिक, आर्थिक और राजनीतिक अलगाव। परिणामतः असंवाद की स्थिति।
2. परंपरागत उत्पीड़ित वर्ग में विवेचना और प्रतिरोधात्मक शक्ति[10] का अभाव।
3. संरचना में व्याप्त विकासात्मक विषमताएं जैसे (क) अंतर्विरोधहीन आदिम व्यवस्था, (ख) सांक्रांतिक कृषक समाज तथा (ग) औद्योगिक समाज।
4. आर्थिक और राजनीतिक सत्ता के निर्माण में वर्ग के साथ-साथ वर्ण की पूरक भूमिका। वर्ण-मानसिकता एवं वर्ग-मानसिकता एक निर्णायक सीमा तक परस्पर पूरक हैं।[11]
5. उत्पादन के साधनों में परिवर्तन के बावजूद सामाजिक स्तर पर उत्पादन संबंधों में परिवर्तन का अभाव।
6. नियंत्रक या व्यवस्थापक संस्थाओं के ऊपरी और आंतरिक ढांचे में बुनियादी विसंगतियां।
7. मानसिक और सांस्कृतिक व्यवहार की दृष्टि से सामंतवादी तथा उपनिवेशवादी नेतृत्व।
8. आर्थिक और राजनीतिक नीति-निर्माण के क्षेत्र में स्वतंत्रता का अभाव। फलस्वरूप आर्थिक साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का बढ़ता हुआ व्यापक उत्पीड़न।
9. उत्पीड़न के उप-फल विशिष्ट वर्गीय संस्कृति (शिक्षा संहिता) का व्यापक प्रभाव।
10. संगठन की दृष्टि से संगठित और असंगठित उत्पादक शक्तियां।

भारतीय समाज की इन विशिष्टताओं के परिप्रेक्ष्य में शिक्षा के क्षेत्र में फ्रेरे के दर्शन की प्रासंगिकता को इस लेख में समझने का प्रयास किया गया है।

शिक्षा : मुक्ति की निरंतर प्रक्रिया

पाओलो फ्रेरे पूंजीवादी देशों तथा उत्पीड़ित देशों (तीसरी दुनिया) में प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में क्रांतिकारी शिक्षाशास्त्री के रूप में जाने जाते हैं। लैटिन अमेरिका और अफ्रीकी देशों में उत्पीड़ित वर्ग के लिए शिक्षा के मामले में वह एक सीमा तक मसीहा बन चुके हैं। इन देशों में फ्रेरे की 'उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र' पुस्तक उत्पीड़ित और संघर्षरत वर्गों के लिए एक प्रकार से 'शिक्षा की गीता' बन चुकी है। प्रस्तुत प्रासंगिकता-अध्ययन, फ्रेरे की तीन बहुचर्चित पुस्तकों 'उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र' (पेडागॉजी आफ दि आप्रेस्ड)[12] 'स्वतंत्रता के लिए सांस्कृतिक कार्रवाई' (कल्चरल ऐक्शन फॉर फ्रीडम)[13] तथा 'विवेचनात्मक चेतना के लिए शिक्षा' (एजूकेशन फॉर क्रिटिकल कांशसनेस)[14] पर आधारित है।

वास्तव में फ्रेरे का शिक्षादर्शन अनुभव, व्यवहार तथा परिणाम की ठोस जमीन पर खड़ा है। यह कहना बेहतर होगा कि लैटिन अमेरिका में उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्षरत उत्पादक शक्तियों द्वारा उर्वरित मिट्टी से इस शिक्षादर्शन का जन्म हुआ। फ्रेरे ने तीसरी दुनिया के सीमांत मानव या उप-मानव की मुक्ति के अंकुर शिक्षा में देख हैं, यथास्थितिवादी शिक्षा के दायरे में नहीं, वरन् एक ऐसी शिक्षाप्रणाली में जो उत्पादक शक्तियों तथा उत्पादननियंत्रक संस्थाओं के बीच के रिश्तों को संवादात्मक आयामा देगी।

फ्रेरे का जन्म सन 1921 में रेसीफे, ब्राजील के एक मध्यवर्गीय परिवार में हुआ। रेसीफे तीसरी दुनिया के घोर निर्धनतम तथा पिछड़े क्षेत्रों में से था और इस अभावग्रस्त वातावरण में फ्रेरे परिवार जी रहा था। प्रथम विश्वयुद्ध के उत्तरवर्ती प्रभावों ने 1929 में जब संयुक्त राज्य अमेरिका में आर्थिक संकट पैदा कर दिया तो ब्राजील भी उससे बच नहीं सका। फ्रेरे परिवार भी आर्थिक संकट की चपेट में आ गया और यहीं से उसे दिन-ब-दिन 'भूख की कचोटती पीड़ा का एहसास हुआ'।[15] और इसका नतीजा यह निकला कि 'वह स्कूल में पिछड़ गया, क्योंकि भूख ने उसमें एक प्रकार की निर्जीवता पैदा कर दी थी'।[16] भूख का दर्द जितना गहरा होता जा रहा था, उतना ही फ्रेरे का अहसास पैना होता जा रहा था। उसने यह दर्द अपने में ही नहीं वरन् दूसरों में भी महसूस किया। जब फ्रेरे ग्यारह वर्ष का हुआ, तो उसने 'भूख के विरुद्ध संघर्ष[17] करने की' प्रतिज्ञा ली, ताकि अन्य बच्चों को यह दर्द नहीं भोगना पड़े। फ्रेरे ने 'भूख' को एकाकी घटना न मान कर उसे समाज में मौजूद सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक शक्तियों की जीवित भूमिका के परिप्रेक्ष्य में देखा। उसने देखा कि इन शक्तियों ने शासित इंसानों की चेतना को कुंद बना रखा है। एक उत्पीड़न की संस्कृति उन पर लाद दी गई है। उत्पीड़न की संस्कृति को जारी रखने में 'संपूर्ण शिक्षाव्यवस्था' प्रमुख माध्यम बनी हुई है। ऐसी अवस्था में उत्पीड़ित मानवों में 'विवेचनात्मक चेतना' जगाना नामुमकिन है, जब तक कि शिक्षा का एक नया ढांचा नहीं गढ़ लिया जाता। शिक्षा को मानव-मुक्ति का सशक्त हथियार बनाने के लिए फ्रेरे अपने देश की शोषित जनता के संघर्ष में सक्रिय रूप से शामिल हुआ। इसके साथ ही वह उन व्यक्तियों के विभिन्न अनुभवों

एवं दर्शन के भी संपर्क में आया, जो मानव के मुक्ति-संघर्ष की महत्वपूर्ण कड़ी रहे हैं। ऐसे व्यक्तियों में, स्वयं फ्रेरे के शब्दों में, "सार्त्र, मोउनियर, एरिक फ्राम्म, लुई अल्थुस्सर, औटेगे वाई. गेस्सेट, माओ, मार्टिन लूथर किंग, चे ग्वेरा, डनामुनो और मारकुस हैं।[18] परिणामस्वरूप फ्रेरे का शिक्षा-दर्शन ब्राजील तक ही सीमित न रह कर, समूचे उत्पीड़ित महाद्वीपों की आवाज बन गया, ठीक फ्रेंज फेनॉन की आवाज की भांति। जब फेनॉन की प्रसिद्ध पुस्तक 'धरती के अभागे' (रेचेड ऑफ दि अर्थ) प्रकाशित हुई थी, तब प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक सार्त्र ने कहा था कि फेनॉन में तीसरी दुनिया ने अपनी अभिव्यक्ति पाई है। वह स्वयं से बात कर रहा है। उसे स्वामी-विश्व (पूंजीवादी व साम्राज्यवादी) से कोई सरोकार नहीं, बल्कि यूरोप यदि अपना बचाव चाहता है, तो उसे स्वयं तीसरी दुनिया की तरफ ध्यान देना पड़ेगा। फ्रेरे में तीसरी दुनिया स्वयं को संबोधित करता है। उसे "प्रथम दुनिया के आकाओं को संबोधित करने से घृणा है"[19], बल्कि फ्रेरे के लिए चीन, क्यूबा, तंजानिया तथा वियतनाम की जनता का संघर्ष महत्वपूर्ण है, जिसने सदियों पुरानी वास्तविकता को पुनर्भाषित[20] किया है। एक नई भाषा गढ़ी है।

शिक्षा के संबंध में फ्रेरे के विचार सर्वप्रथम सन् 1959 में सामने आए, जब उन्होंने रेसीफे विश्वविद्यालय के लिए शोध-पत्र लिखा। इसके बाद उन्होंने उसी विश्वविद्यालय में इतिहास और शिक्षा के प्रोफेसर के पद पर कार्य करते हुए शिक्षा के क्षेत्र में कुछ प्रयोग किए। प्रयोग के दौरान उन्होंने जो क्रांतिकारी पद्धति विकसित की, उसका व्यापक प्रभाव संपूर्ण उत्तरीपूर्वी ब्राजील पर पड़ा। इस व्यापक प्रभाव में शासक वर्ग को अपने अस्तित्व के लिए खतरा दिखाई दिया। 1964 में जब सेना ने विद्रोह किया तो फ्रेरे को तत्काल जेल भेज दिया गया। रिहा होने के बाद, फ्रेरे को देश छोड़ने और चिली में रहने के लिए विवश होना पड़ा। चिली में उन्होंने यूनेस्को तथा चिली के कृषि-सुधार संस्थान में प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम में पांच वर्ष तक काम किया। इसके बाद वह अमेरिका चले गए। तब से अब तक वह अनुभव और विचार के क्षेत्र में लंबी यात्रा तय कर चुके हैं।

फ्रेरे का शिक्षादर्शन

फ्रेरे के शिक्षादर्शन का समाज में व्याप्त द्वंद्वात्मक अंतर्विरोधों की भूमिका तथा उसके समाधान के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। अतः वह परिवेश, उसके कारण और प्रभाव के आंतरिक संबंधों को स्पष्ट करता जाता है, और यह स्थापित करता है कि शिक्षा इन संबधों की कितनी महत्वपूर्ण देन है। फ्रेरे के शिक्षादर्शन की यह भी विशेषता है कि वह कोरे सिद्धांत तक सीमित नहीं है, वह क्रियात्मक व्यवहार को भी प्रतिपादित करता है। फ्रेरे शिक्षा के प्रति अपने 'रुख' में संकीर्णतावाद या कठमुल्लावाद से दूर रहे हैं। जहां वह दक्षिणपंथी शक्तियों की जन-विरोधी भूमिका को स्पष्ट करते हैं, वहीं वह वामपंथी शक्तियों के संकीर्णतावाद की भी तीव्र आलोचना करते हैं। फ्रेरे की दृष्टि में "किसी भी क्षेत्र का संकीर्णतावाद

मानव-मुक्ति के मार्ग में रोड़ा है—संकीर्णतावाद मिथक गढ़ता है, और उसके द्वारा वह व्यक्ति को विच्छिन्न करता है। आमूलपरिवर्तनवादीकरण विवेचनात्मक होता है, जिसके द्वारा वह व्यक्ति को मुक्त करता है।"[21] शिक्षा के संदर्भ में सामाजिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण करते हुए वामपंथियों तथा दक्षिणपंथियों के संबंध में फ्रेरे पत्रकार मार्सियों मोरिया आल्वेज की इस टिप्पणी को उद्धृत करते हैं, 'वे दोनों (दक्षिण एवं वामपंथी) अति असंदिग्धता से पीड़ित हैं।"[22] दूसरे शब्दों में, हरेक यह मानकर चलता है कि जो वस्तु 'उसका सत्य' नहीं है, वह झूठ है। संक्षेप में, हरेक अपने ही सत्य के इर्द-गिर्द चक्कर लगाता है। यदि उसके सत्य पर कहीं से भी संदेह किया जाता है, तो वह भयभीत अनुभव करता है।

ऐसी स्थिति में फ्रेरे इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उत्पीड़ितों के शिक्षाशास्त्र का कार्य "संकीर्णतावादियों द्वारा नहीं किया जा सकता।"[23] उत्पीड़ितों की शिक्षा का कार्य उस व्यक्ति द्वारा संभव है जो 'रैडिकल' है और मानव मुक्ति के प्रति प्रतिबद्ध है तथा जो ऐसे 'असंदिग्धता के घेरे' का कैदी नहीं बनता, जो उस घेरे के अंदर ही वास्तविकता को सीमाबद्ध कर लेता है। इसके विपरीत जितना अधिक वह रैडिकल होगा, उतना ही वह वास्तविकता की तह में जाएगा, ताकि वह अच्छे ढंग से उसमें परिवर्तन कर सके। उसे लोगों से मिलने और उनके साथ संवाद स्थापित करने में कोई भय नहीं होता। वह स्वयं को इतिहास या इंसान का स्वामी या उत्पीड़ितों का मुक्तिदाता मानकर नहीं चलता। परंतु इतिहास के अंतर्गत वह उनके (उत्पीड़ितों के) पक्ष में संघर्ष करने के लिए प्रतिबद्ध है।[24]

इस प्रकार, फ्रेरे की इस घोषणा से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं : प्रथम, वस्तुस्थिति में परिवर्तन के लिए शिक्षा क्रांतिकारी भूमिका निभा सकती है और उत्पीड़ित मानव की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर सकती है। दूसरे, मानवमुक्ति की इस महायात्रा में संकीर्णतावाद या सत्य को समझने की यांत्रिक दृष्टि प्रतिगामी भूमिका निभाएगी। अतः एक ऐसी दृष्टि की आवश्यकता है जो उत्पीड़ित और संघर्षरत मानव के अनुभवों के आधार पर बनी हो तथा अनुभव और काल की गतिशीलता एवं परिवर्तनवादी प्रवृत्ति को स्वीकार करे। इसी प्रकार की दृष्टि व्यक्ति को रैडिकल बनाती है। यही रैडिकल मानव एक "ऐसी दुनिया का निर्माण करेगा, जिसमें प्रेम सहज और सरल होगा।"[25] गांधी जी भी शिक्षा के संबंध में यह मानते रहे हैं कि इसकी मुख्य भूमिका है, विश्व में प्रेम और शांति का वातावरण बनाना, जिसके लिए आज समस्त मानवता भूखी है।[26]

संक्षेप में, फ्रेरे इंसानी रिश्तों के मानवीयकरण के मजबूत पक्षधर के रूप में सामने आए हैं। 'पेडागॉजी' तथा 'ऐक्शन' में मानवीय संवेदनाओं को मुखरित करने का पूरा-पूरा प्रयास किया गया है। फ्रेरे की यही संवेदनात्मक दृष्टि उन्हें उन परंपरावादी और कठमुल्लावादी वामपंथियों से अलग कर देती है, जो नए समाज की रचना के दौरान इंसानी रिश्तों का यांत्रिकीकरण कर डालते हैं। फलतः वहां भी इंसान एक वस्तु (आब्जेक्ट) मात्र बन जाता है। फ्रेरे चाहते हैं कि जहां शिक्षा उत्पीड़ित मानव की सदियों पुरानी जकड़न को तोड़े वहीं उसकी मुक्तिप्रक्रिया का भी मानवीयकरण करे। इंसानी रिश्तों का मानवीयकरण तभी संभव

है जब एक 'खुला समाज' या 'मुखर समाज' की स्थापना हो, जिसमें मनुष्य और मनुष्य के बीच संवाद के लिए पूरा स्थान होगा। अंतः फ्रेरे के मत में "शिक्षा संप्रेषण और संवाद है। यह ज्ञान का हस्तांतर नहीं है"।[27]

फ्रेरे संवाद को जड़ता या यथास्थितिवाद को समाप्त करने का क्रियाशील माध्यम मानते हैं। उनकी दृष्टि में संवाद की परिभाषा "वास्तविकता में निरंतर परिवर्तन है।" संवाद के संबध में विस्तार से आगे चर्चा की जाएगी। परंतु, वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था में संवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। वे मानते हैं कि आज की "शिक्षा के अंतर्गत शिक्षक और विद्यार्थियों के बीच गतिहीन संबंध हैं।"

मूलतः ये पारस्परिक संबंध अपनी प्रकृति में शुद्ध 'विवरणात्मक' है। फलस्वरूप शिक्षा देने की प्रक्रिया के दौरान वास्तविकता के अनुभवजन्य पक्ष या मूल्य निर्जीवता और जड़ता के शिकार हो जाते हैं। साफ शब्दों में "शिक्षा विवरण देने की बीमारी से पीड़ित है।"[28]

शिक्षा की बैंकिंग अवधारणा

तीसरे विश्व में शिक्षा की भूमिका केवल सूचनाओं, विवरणों, वृत्तांतों आदि को जमा करने तक ही सीमित रह गई है। इस जमा करने की प्रक्रिया के दो प्रमुख पात्र हैं : विद्यार्थी और शिक्षक। संप्रेषण और संवाद के स्थान पर, शिक्षक विज्ञप्ति जारी करते हैं तथा धरोहरों (डिपाजिटों) का निर्माण करते हैं। विद्यार्थी इन धरोहरों (डिपाजिटों) को धैर्य के साथ ग्रहण करते हैं, रटते हैं और दोहराते हैं। फ्रेरे ने इस प्रकार की शिक्षाव्यवस्था को "शिक्षा की बैंकिंग अवधारण"[29] के रूप में परिभाषित किया है, जिसमें विद्यार्थी के लिए शिक्षक द्वारा दिए जा रहे विवरणों को "ग्रहण करने, संग्रह करने तथा उन्हें क्रम से लगाने" के अतिरिक्त कोई गुंजाइश नहीं रह जाती है। इस प्रकार वे वस्तुओं के मात्र एक संग्रहकर्ता तथा सूचीकार से अधिक कुछ नहीं बन पाते, उनमें विवेक, विवेचना, परिवर्तन तथा सृजन की शक्ति समाप्त हो जाती है। अंतिम निष्कर्ष में इन सबका परिणाम यह निकलता है कि इंसान स्वयं ही इस विभ्रांत व्यवस्था में ठिकाने लगा दिया जाता है। एक यांत्रिक पुर्जा बनकर रह जाता है। शिक्षा की बैंकिंग अवधारणा[30] के अंतर्गत फ्रेरे ने शिक्षक द्वारा विद्यार्थी को पढ़ाने की प्रक्रिया के ऐसे दस बिंदु गिनाए हैं, जिनसे संपूर्ण उत्पीड़क समाज का चेहरा स्पष्ट हो जाता है। ये बिंदु है :

1. शिक्षक पढ़ाते हैं और विद्यार्थी पढ़ाए जाते हैं।
2. शिक्षक सभी कुछ जानते हैं और विद्यार्थी कुछ भी नहीं।
3. शिक्षक विचारता है और विद्यार्थियों को वही सोचना पड़ता है।
4. शिक्षक बोलता है और विद्यार्थी दब्बूपन से सुनते हैं।
5. शिक्षक अनुशासन सिखाते हैं और विद्यार्थियों को अनुशासित किया जाता है।
6. शिक्षक चुनाव करता है और अपनी पसंद को थोपता है, और विद्यार्थी उसका अनुपालन

करते हैं।

7. शिक्षक कर्म करता और विद्यार्थियों को यह भ्रम रहता है कि वे भी शिक्षक के कर्म के माध्यम से कर्म कर रहे हैं।
8. शिक्षक विषय-कार्यक्रम निर्धारित करता है, विद्यार्थी (जिनसे कोई राय नहीं ली गई) उसमें अनुकूलित होते हैं।
9. शिक्षक को अपने व्यावसायिक अधिकार के साथ 'ज्ञान का अधिकारी' होने का भ्रम हो जाता है और वह विद्यार्थियों की स्वतंत्रता के विरोध में उसका प्रयोग करता है।
10. शिक्षक शिक्षा की प्रक्रिया का कर्ता बन जाता है, जबकि शिष्य केवल पात्र बनकर रह जाते हैं।[31]

इस संपूर्ण प्रक्रिया का परिणाम सिर्फ विवरण देने और विज्ञप्तियां जारी करने में निकल जाता है। फ्रेरे के मत में ये ऐसी विज्ञप्तियां हैं, जिनके अर्थ अपनी गतिशीलता खो चुके हैं और जड़ हो चुके हैं और निश्चित विषयवस्तु में बदल चुके हैं। इन विषय-वस्तुओं को एक कर्ता द्वारा दूसरों में जमा किया जाता है जिसके द्वारा सोचने की प्रक्रिया को रोका जाता है। यह "शिक्षा देने वाले का" एक विशिष्ट प्रकार का व्यवहार है, जिसको मैं व्यंग्य में शिक्षा की बैंकिंग अवधारणा के रूप में परिभाषित करता हूं।"[32] शिक्षा की यह बैंकिग अवधारणा केवल स्कूलों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि सरकार द्वारा चलाए जा रहे विभिन्न कार्यक्रम—कृषि प्रसार कार्यक्रम, सामुदायिक विकास योजना, सहकारिता आंदोलन आदि भी इसकी गिरफ्त में हैं।

फ्रेरे के मत में, वास्तव में बैंकिंग-सिद्धांत पर आधारित शिक्षा का उद्देश्य उत्पीड़कों की व्यवस्था और मूल्यों को उत्पीड़ितों के बीच सुदृढ़ बनाया है। वे मानते हैं कि विद्यार्थी की रचनात्मक शक्ति को कम से कम करने या उसे समाप्त करने तथा उनके भोलेपन या सहज विश्वसनीयता को बढ़ाने की जो क्षमता बैंकिंग-शिक्षा में है, उससे उत्पीड़कों के हितों की पूर्ति की जाती है। इन उत्पीड़कों को न तो इस बात की चिंता है कि यह दुनिया खुले रूप में सामने आए और न ही वे इसे बदली हुई देखना चाहते हैं। उत्पीड़क अपने मानवतावाद का इस्तेमाल भी अपनी लाभदायक स्थिति को सुरक्षित करने में करते हैं। इसलिए जब शिक्षा के क्षेत्र में कोई ऐसा प्रयोग किया जाता है, जो मनुष्य में विवेचनात्मक ऊर्जा को उद्दीप्त करता है, तो उत्पीड़क आदतन उसका विरोध करते हैं क्योंकि इस प्रकार का प्रयोग वास्तविकता के आंशिक पक्ष तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि वह एक बिंदु से दूसरे बिंदु तक, एक समस्या से दूसरी समस्या के बीच संबध-सूत्रों की भी खोज करता है।[33]

वास्तव में बैंकिंग-शिक्षा उत्पीड़ितों में सर्जनात्मक विकास की संभावनाओं को समाप्त कर देती है। वे केवल वस्तु या पात्र मात्र बन कर रह जाते हैं। उन्हें सीमांत मानव तथा "स्वस्थ समाज की विकृति" तथा अयोग्य एवं काहिल के रूप में देखा जाता है। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री इवान इलिच भी वर्तमान शिक्षापद्धति की निरर्थकता के संदर्भ में फ्रेरे से सहमत हैं। उनके अनुभव भी लैटिन देशों की जमीन से जुड़े हैं, तथापि फ्रेरे की भांति वे वर्ग-अंतर्विरोधों

के परिप्रेक्ष्य में शिक्षा की भूमिका का विश्लेषण नहीं करते। परंतु, इतना अवश्य मानते हैं कि वर्तमान शिक्षा-केंद्र, जो कि उपभोक्ता संस्कृति के शिकार हैं, मानव-स्वतंत्रता के मार्ग में बाधक हैं। वे यह भी स्वीकारते हैं कि "वर्तमान विश्वविद्यालय विरोध का विशेषाधिकार भी उन्हीं लोगों को देता है जो परखे जा चुके हैं तथा ठोस धन-अर्जक या सत्ताधारी हैं।"[34] "शिक्षा की बैंकिंग अवधारणा" के स्थान पर वे शिक्षा के संस्थानिकीकरण, विभेदीकरण, उपभोक्ताकरण आदि के माध्यम से उसकी गतिहीनता व्यक्त करते हैं। उनके शब्दों में "जिस प्राणी की स्कूलों में आवश्यकता एक 'ग्राहक' के रूप में है, उसके पास न तो कोई स्वायतत्ता है, और न ही स्वयं विकसित होने के लिए कोई प्रेरणा।"[33] यहां वे फ्रेरे के कर्ता और पात्र (शिक्षक एवं विद्यार्थी) के पूर्व-नियोजित और पूर्व-नियंत्रित पारस्परिक संबंध के निष्कर्ष से सहमत दिखाई देते हैं। फ्रेरे के अनुभवों से सहमत होते हुए वे मनुष्य के "विवेचनात्मक तथा सर्जनात्मक माध्यमों को मुक्त" कराने की आवाज उठाते हैं।

भारतीय संदर्भ

भारतीय संदर्भ में बैंकिग शिक्षा-प्रणाली के प्रभाव आज व्यापक स्तर पर दिखाई देते हैं। इन प्रभावों के शिकार विशेष रूप से परंपरागत उत्पीड़ित वर्ग एवं वर्ण (आदिवासी और हरिजन) हुए हैं। 1976-1977 में बस्तर के आदिवासियों में आधुनिक शिक्षा के अध्ययन[37] के दौरान मैंने पाया कि प्रशासक से लेकर सवर्ण अध्यापक तक प्रायः इस विश्वास के थे कि यह जाहिल, काहिल, जंगली जाति (आदिवासी) कभी सभ्य नहीं बन सकती। इनकी शिक्षा पर सरकार जो खर्च कर रही है, वह सब व्यर्थ है, क्योंकि आदिवासी अपनी जंगली व्यवस्था से बाहर आना ही नहीं चाहते हैं। स्पष्ट शब्दों में, आधुनिक सभ्यता के प्रतिनिधि उन्हें निम्न कोटि का इंसान मानते थे। परंतु यह मानने को तैयार नहीं थे कि जो कुछ आदिवासियों को पहले से पढ़ाया जा रहा है, अप्रासंगिक है। राष्ट्रीय मुख्यधारा में विलय के नाम पर छात्रावासों में रामायण और हनुमान चालीसा का पाठ अबोध आदिवासी छात्रों पर लाद दिया गया था, जो कि उनके लिए सर्वथा अप्रासंगिक था और उनकी परिस्थितिजन्य वास्तविकताओं से कतई मेल नहीं खाता था। बस्तर के गोंड़, मुरिया, हलबा, भरता आदि आदिवासियों की एक समृद्ध परंपरा है और शोषण एवं उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष (1876 और 1910)[38] का एक गौरवपूर्ण इतिहास है परंतु वर्तमान पीढ़ी को उससे अनभिज्ञ रखा जा रहा है।

यहीं एक और अनुभव सामने आया। बस्तर की दंतेवाड़ा तहसील की यात्रा के दौरान देखा कि सरकार पौष्टिक आहार कार्यक्रम गांवों में चला रही है। एक शिविर में करीब 70-80 आदिवासी स्त्री-पुरुष जमा हैं। उनके सामने खड़े हैदराबाद, बंबई और भोपाल से आए पौष्टिक आहार के विशेषज्ञ मसालादोसा, इडली, आमलेट और इसी किस्म की अजनबी पौष्टिक वस्तुओं को स्टोव पर फ्राइपेन में बनाने की विधि समझा रहे हैं। प्रायः आदिवासी स्थितप्रज्ञ बन पथराई आंखों से स्टोव को देख रहे थे। सब कुछ उनके लिए अच्छा खासा मनोरंजन था। यदि

उन्हें महुआ या अन्य स्थानीय उपलब्ध वन-उत्पादों से पौष्टिक आहार तैयार करने की विधि समझाई जाती तो वह अधिक उपयोगी सिद्ध होती।

संक्षेप में, सब कुछ पूर्व-निर्धारित पाठ्यक्रमों और मानदंडों के अंतर्गत संचालित किया जाता है, जिसका स्थानीय वास्तविकता से कोई संबंध नहीं होता। अध्ययन से जो तथ्य सामने आए उनसे पता चलता है कि आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा-प्रसार के मार्ग में अवांछित पर्यावरण (शाला, अध्यापक का व्यवहार, पाठयक्रम के संदर्भ में) तथा निर्धनता प्रमुख बाधाएं हैं। इन बाधाओं को दूर करने के संबंध में जो सुझाव विश्लेषण के बाद सामने आए हैं, उनमें करीब 70 प्रतिशत शिक्षा में बुनियादी सुधार तथा 25 प्रतिशत वांछित पर्यावरण और आर्थिक स्थिति ठीक करने के पक्ष में है। आदिवासियों के लिए यहां शिक्षा में बुनियादी सुधार से अर्थ शिक्षा को उनके जीवन के अनुकूल बनाना है। आज से करीब चार दशक पूर्व प्रसिद्ध मानव-शास्त्री एलविन ने सुझाव दिया था कि इन उत्पीड़ित वन-संतानों की आधुनिक सभ्यता के कथित प्रतिनिधियों से सुरक्षा की दृष्टि से यह आवश्यक है कि शिक्षा और शालाओं को आदिवासी संस्कृति, परंपरा तथा अन्य सामाजिक संस्थाओं के साथ जोड़ा जाए। आज इन स्कूलों में हिंदू, मुसलमान और ईसाइयों के जो तीज-त्यौहार मनाए जाते हैं, उन्हें रोका जाए। संक्षेप में, एलविन के समय में सवर्ण शिक्षक आदिवासियों को "बर्बर"[39] और स्वयं को "सभ्य एव उच्च" मानते थे, आज भी गैर-आदिवासी शिक्षक का मूल निवासियों के प्रति वही तिरस्कार का रवैया है।

वास्तव में पूर्व ब्रिटिश काल, ब्रिटिश काल तथा स्वतंत्रता-पश्चात काल के दौरान शिक्षा तथा समाज में मौजूद सत्ताधारी वर्ण और वर्गों के बीच पारस्परिक रिश्तों में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं आया है। 19वीं सदी में गुरुकुल, पाठशाला, मदरसा, मकतब आदि हिंदुओं और मुसलमानों की औलादों की तालीम के केंद्र रहे थे, और उत्पीड़ित खेतिहर श्रमिक जातियों को उनसे दूर रखा गया था। आज भी वही परंपरा जारी है। ग्रामीण भारत में निर्विवाद रूप से शालाएं सवर्णों की बस्तियों में खोली जाती हैं, जहां हरिजनों के बच्चों का प्रवेश कठिन है। कई गांवों में तो यहां तक देखा गया कि शालाएं मंदिर में चलाई जा रही हैं।[40]

इन सबका निष्कर्ष एक ही निकलता है कि बैंकिग-अवधारणा पर आधारित शिक्षा उत्पीड़ित वर्ण और वर्ग के हितों की रक्षा के स्थान पर उत्पीड़क वर्णवादी एवं वर्गवादी व्यवस्था की सुरक्षा के लिए की गई किलेबंदियों में सहायक रही है।

फ्रेरे ने पेडागॉजी तथा ऐक्शन में इन किलेबदियों और उनके प्रभावों का बारीकी से अध्ययन किया है। इस अध्ययन में यह बताया गया है कि तीसरी दुनिया विशेष रूप से लैटिन अमेरिकी देशों में शासित व्यक्ति एक 'घेरेबंद समाज' में सांस ले रहा है। उत्पीड़क वर्ग ने इन समाजों में सभी इंसानी रिश्तों का अमानवीयकरण कर दिया है। उत्पीड़क वर्ग अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए इन्हें कतरा-दर-कतरा जिंदा रखता है। इन्हें जिंदा रखने के लिए जिन हथियारों का इस्तेमाल किया जाता है, उनमें से शिक्षा भी एक है।

फ्रेरे अपनी तीसरी पुस्तक 'एज्यूकेशन' में सिद्धांत और उसके व्यावहारिक पक्ष की बारीकी

से चर्चा करते हैं और यह बतलाते हैं कि बैंकिगशिक्षा के स्थान पर एक गतिशील, सकारात्मक, रचनात्मक शिक्षा किस प्रकार अपनाई जाए, उसके अनुभवजन्य व्यावहारिक पक्ष क्या-क्या हैं और उनके माध्यम से उत्पीड़ित वर्ग की "खामोशी की संस्कृति" कैसे तोड़ी जा सकती है। तीसरे विश्व के संदर्भ में "खामोशी की संस्कृति" की क्या भूमिका है, इस पर चर्चा प्रासंगिक होगी।

खामोशी की संस्कृति

फ्रेरे के शिक्षादर्शन में 'खामोशी की संस्कृति' एक महत्वपूर्ण विषयवस्तु है। जब तक इस विषयवस्तु को समझ नहीं लिया जाता, तब तक फ्रेरे का शिक्षा-संसार अधखुला रहेगा। फ्रेरे का खामोशी की संस्कृति[41] से परिचय सर्वप्रथम उस समय हुआ, जब उन्हें अपने जीवन के प्रारंभिक काल में गरीबी के दौर से गुजरना पड़ा। फ्रेरे की यह खामोशी की संस्कृति सिर्फ ब्राजील तक ही सीमित नहीं है। वस्तुतः समस्त तीसरी दुनिया इसकी गिरफ्त में है।

फ्रेरे का मत है कि "खामोशी की संस्कृति शासित और शासक के बीच मौजूद संरचनात्क संबंधों का परिणाम है।" इन संबंधों में बुनियादी असंतुलन निहित है। इस प्रकार, फ्रेरे के अनुसार दो प्रकार की संस्कृतियां सामने आती हैं : शासितों की संस्कृति (खामोशी की संस्कृति) तथा शासकों की संस्कृति, जिनके पास 'आवाज' है। अतः जो समाज शासित एवं आश्रित है, वह बुनियादी तौर पर 'खामोशी' यानी स्वर एवं शब्दहीनता से ग्रस्त समाज है। फ्रेरे का यह निष्कर्ष है कि दो समाजों के बीच के संरचनात्मक संबंध एक स्वतंत्र प्रक्रिया नहीं है। ये ऐतिहासिक, आर्थिक, राजनीतिक प्रक्रियाओं से विकसित होते हैं। ऐसी स्थिति में संस्कृति के चरित्र का निर्धारण विभिन्न सांस्थानिक शक्तियों के व्यापक वृत्त से संचालित है। फ्रेरे इस संदर्भ में यह मानते हैं कि जब असंतुलन पर आधारित संबंध होते हैं, तब आश्रित समाज के आंतरिक ढांचे का रूप-निर्धारण-नियंत्रक समाज (शासक) की इच्छा[42] के विभिन्न प्रतिविंबों में से एक होता है, एक ऐसी संस्कृति, जो शासित एवं आश्रित पर थोप दी जाती है। यही 'खामोशी की संस्कृति' बन जाती है। शासकों की संस्कृति को मैं 'आक्रमण की संस्कृति' के रूप में देखना चाहूंगा। आक्रमण की संस्कृति शासितों की मूल्य-व्यवस्था पर तेजी से आघात करती है, क्योंकि यह सांस्थानिक शक्तियों से लैस होती है। आक्रमण को तीन चरणों से गुजरना पड़ता है—बाहरी, अंतर्वर्ती सतह और आंतरिक सतह।

असंतुलनग्रस्त संरचनात्मक संबंधों के मोटे तौर पर दो वृत्त सामने आते हैं—बाहरी और आंतरिक। यद्यपि सतही तौर पर दोनों वृत्तों के दो भिन्न अस्तित्व दिखाई देंगे, परंतु दोनों में प्रकृति एवं प्रभाव के संदर्भ में अतर्निहित संबद्धता है। फेनॉन की मान्यता है कि तीसरी दुनिया का शासक वर्ग पहली दुनिया के शासक वर्ग की नकल मात्र है। 'खामोशी की संस्कृति' के भी दो वृत्त सामने आते हैं—पहली दुनिया के समक्ष तीसरी दुनिया की सामूहिक 'खामोशी की संस्कृति' (बाहरी) तथा तीसरी दुनिया के अंतर्गत शासक वर्ग के समक्ष शासित वर्ग

की 'खामोशी की संस्कृति' (आंतरिक)। यह कहा जा सकता है कि 'खामोशी की संस्कृति' की धारा ऊपर से नीचे की ओर जाती है। वास्तव में दो विपरीत संस्कृतियों का समानांतर अस्तित्व है; एक नियंत्रक समाज की संस्कृति और दूसरी नियंत्रित समाज की। संस्कृतियों के बाहरी एवं आंतरिक द्विभागीकरण को इस प्रकार दर्शाया जा सकता है :

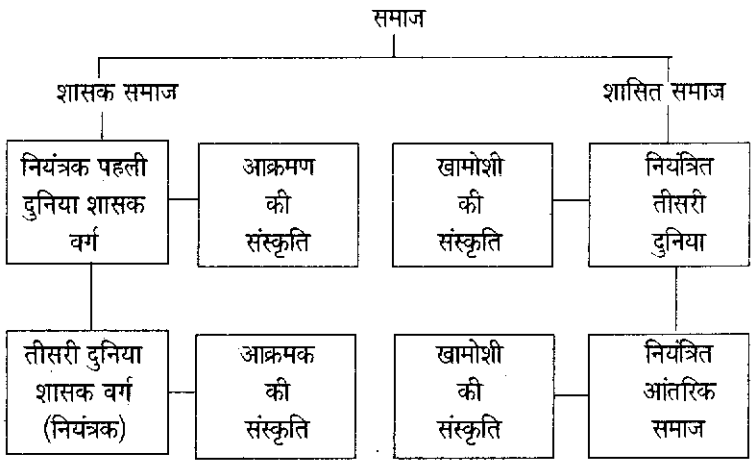

फ्रेरे का निष्कर्ष है कि क्यूबा को छोड़ कर समस्त अमेरिकी देश "खामोशी की संस्कृति" से ग्रस्त हैं। वे मानते है कि इन देशों में "खामोशी की संस्कृति" ने उस समय से जन्म लिया है, जब स्पेन और पुर्तगाल ने इन पर विजय प्राप्त की थी। क्रांति-पश्चात के क्यूबा के अपवाद को छोड़ कर ये समाज (लैटिन अमेरिकी देश) आज तक घेरेबंद समाज बने हुए हैं। ये पराधीन समाज हैं।[43] और इन पराधीन समाजों के लिए विभिन्न ऐतिहासिक क्षणों में (पुर्तगाल, इंग्लैड या संयुक्त राज्य) निर्णय के ध्रुव ही बदले हैं, जिनके लिए वे (पराधीन समाज) वस्तु मात्र हैं। संक्षेप में, नियंत्रण केंद्रों में परिवर्तन हुआ, परंतु नियंत्रण बदस्तूर जारी है। ब्राजील के संदर्भ में फ्रेरे कहते हैं कि 1964 के सैनिक विद्रोह के बाद ही से वहां की सरकार ने नियंत्रक ध्रुवों के "प्रति दासता की नीति अपनाई, जनता पर खामोशी हिंसात्मक ढंग से थोप दी गई।"[44]

'ऐकान' (Education for Critical Consciousness) में लैटिन अमेरिका के 'घेरेबंद समाज' का विश्लेषण करते हुए फ्रेरे कहते हैं कि वहां कठोर श्रेणीबद्ध व्यवस्था है। इस घेरेबंद व्यवस्था की अर्थव्यवस्था बाहरी शक्तियों द्वारा नियंत्रित है। अतः एक स्वतंत्र आंतरिक बाजार का अभाव है, क्योंकि कच्चे माल का दोहन नियंत्रक केन्द्रों द्वारा कर लिया जाता है। कहीं कोई आवाज नहीं होती। शोषण की यह प्रक्रिया एक विशिष्ट प्रकार की "शिक्षा-व्यवस्था (जिसके अंतर्गत विद्यालय यथास्थिति बनाए रखने के हथियार हैं)" के

माध्यम से जारी है। आज ये "घेरेबंद समाज" व्यापक निरक्षरता, बीमारियों, कुपोषण, शिशुओं की बढ़ती मृत्युदर, बढ़ते अपराध आदि से ग्रस्त हैं। क्योंकि, ये समाज खामोशी की संस्कृति की कठोर गिरफ्त में हैं।

वास्तव में नियंत्रक समाज यह मानकर चलते हैं कि "तीसरी दुनिया बुराई का अवतार, आदिम, राक्षस, पापी, काहिल—कुल मिलाकर निदेशक समाज के बगैर ऐतिहासिक दृष्टि से अर्थहीन है।"[45] अतः पहली दुनिया के देश अपने मापदंडों के अनुसार तीसरी दुनिया उसके शासक वर्ग तथा शासित जनता को नियंत्रित मूल्य-व्यवस्था के तहत गढ़ते हैं, जिससे कि वे (तीसरी दुनिया) सिर्फ, "वस्तु" बने रहें। फलतः तीसरी दुनिया के शासक अपने निदेशक समाजों (पहली दुनिया) के मापदडों को भोंडे ढंग से अपनाते हैं और दास-मानसिकता को शेष जनता पर लाद देते हैं। यह दास मानसिकता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र (आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक) को खोखला और निर्जीव बनाती चली जाती है। इसका नतीजा यह निकला है कि शासित जनता पूरी तरह से शासक वर्ग द्वारा गढ़ी मानसिकता को 'वास्तविकता' समझने लगती है। वह शासक वर्ग की संस्कृति में विलीन हो जाती है। उसके पास स्वयं की विवेचनात्मक चेतना और स्वतंत्र बोध का अभाव होता है। अपने इस पराश्रित बोध के कारण शासित वर्ग यह नहीं जान पाता कि शासित और शासक के मध्य मौजूद अंनर्विरोधों (यहां अंतर्विरोधों से तात्पर्य दो विपरीत सामाजिक शक्तियों के मध्य व्याप्त द्वंद्वात्मक संघर्ष से है) के "समाधान से ही एक नए मानव का जन्म होगा।"[46]

फ्रेरे का यहां तक कहना है कि तीसरी दुनिया के देशों में जो लोकप्रिय राजनीतिक आंदोलन होते हैं, यद्यपि एक तरफ उनसे जनता में पैदा होने वाली चेतना का पता लगता है, परंतु सूक्ष्म स्तर पर देखने से यह भी तथ्य सामने आता है कि लोगों की आदत निर्देशित होने की बना दी गई है। ब्राजील तथा अन्य लैटिन अमेरिकी देशों में लोकप्रियता के नाम पर विशिष्ट वर्ग ने संरक्षात्मक राजनीतिक नेतृत्व दिया है, जो सिर्फ "जीवन के ही स्वामी नहीं, बल्कि एक मूक और आज्ञाकारी जन-समूह भी उनके अधीन हैं।"[47] इस समय के राजनीतिक नेतृत्व का चरित्र जोड़तोड़ वाला होता है और इस जोड़तोड़ की राजनीति के बल पर समाज में लोकप्रियता और जनतंत्र का मिथक पैदा किया जाता है। शातिर ढंग से स्वतंत्र जनचेतना का अपहरण कर लिया जाता है। इस संदर्भ में फ्रेरे का ब्राजील के एक नेता के संबंध में दिया गया उदाहरण प्रस्तुत है। चुनाव के दौरान ब्राजील में एक उम्मीदवार की प्रतिमा सार्वजनिक स्थान पर लगाई गई। चार तीरों के माध्यम से उसके सिर, आंख, मुंह और हाथों की ओर संकेत किया गया था। प्रतिमा के नीचे निम्न चार पंक्तियां लिखी थीं :[48]

तुम्हें सोचने की आवश्यकता नहीं, वह तुम्हारे लिए सोचेगा।
तुम्हें देखने की आवश्यकता नहीं, वह तुम्हारे लिए देखेगा।
तुम्हें बोलने की आवश्यकता नहीं, वह तुम्हारे लिए बोलेगा।

तुम्हें कुछ करने की आवश्यकता नहीं, वह तुम्हारे लिए करेगा।

ठीक इसी प्रकार की स्थिति भारत में भी पैदा की गई थी। आपात काल में जब बंद परिवेश की सृष्टि कर समस्त देश का व्यक्तीकरण कर दिया गया था, तब ये नारा सामने आया था।

"इंदिरा भारत है, भारत इंदिरा है"

यानी जनता की मुक्ति का सवाल एक व्यक्ति के पतन या उत्थान से जोड़ दिया गया। दिल्ली की सड़कों पर ऐसे पोस्टर देखे जा सकते हैं, जिनमें सार्वजनिक नेताओं को (1) हरिजनों का मसीहा, (2) किसानों का एकमात्र रक्षक (3) लोकतंत्र का प्रहरी, (4) जनता का नायक, (5) क्रांतिकारी या क्रांतिदूत, (6) गरीबों का रहनुमा, इत्यादि के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। यहां तक कि कुछ राजनीतिक पार्टियों की 'पहचान' ही कतिपय व्यक्तियों से की जाती है। उपभोक्ता वस्तुओं के विज्ञापन के अंदाज में पार्टियों को जनता का एकमात्र प्रतिनिधि या केवल एक ही 'सच्ची पार्टी' के रूप में पेश किया जाता है, जो कि हद दर्जे का भोंडापन है और विवेचनात्मक मानसिकता से रहित है। कुल मिलाकर शामिल समाज की चेतना को एक व्यक्ति में केंद्रित कर दिया जाता है। वही चेतना उत्पीड़क समाज द्वारा अनुकूलित कर ली जाती है। आज भी यह प्रक्रिया जारी है। बल्कि, पिछले 15 सालों में इसका फैलाव हुआ है और गहरी हुई है। कांग्रेस पार्टी, तिवारी कांग्रेस, समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी, म.प्र. विकास पार्टी, हरियाणा विकास पार्टी, शिवसेना, द्रुमुक, अन्नाद्रुमुक जैसी पार्टियां अपने नेताओं की पर्याय बन गई हैं।

इसी प्रकार जब कोई बड़ा नेता किसी बड़े कांड में लिप्त पाया जाता है और उसके विरुद्ध कानूनी कार्रवाई होती है तब वह इसे 'लोकतंत्र पर हमला' की संज्ञा देता है। स्वयं की कलंकित छवि को जनता के स्वाभिमान के साथ जोड़ता है। 'हवाला कांड' के औसत आरोपी ने बड़ी धूर्तता के साथ स्वयं की नियति को जनता एवं पार्टी की नियति घोषित कर दी। वह अपनी विवेचना शक्ति खो बैठती है और धीरे-धीरे वह एक व्यक्ति (जो कि नियंत्रक-समाज का होता है) के उत्थान और पतन में अपनी मुक्ति तथा दासता खोजने लगती है। साथ साथ खामोशी की संस्कृति की बुनियादें और भी मजबूत होती जाती हैं। फिर शासक और शासित के मध्य संवाद के लिए कोई स्थान नहीं रहता। शासित बगैर विभेद, विवेक और चुनौती के शासक वर्ग द्वारा नही रहता। शासित बगैर विभेद, विवेक और चुनौती के शासक वर्ग द्वारा लादे हुए हर मूल्य को स्वीकार कर लेता है।

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि जब जयपुर के भूतपूर्व सामंत शासक मानसिंह की लंदन में मृत्यु हुई तब जयपुर में हजारों व्यक्तियों (जिनमें युवापीढ़ी के शिक्षित भी थे) ने अपना मुंडन करा लिया था, सड़कों पर लोग चीखते थे, "हमारे बापू जी मर गए।" इसी प्रकार, उड़ीसा में कालाहांडी के भूमिहीन एवं बंधक श्रमिक, जो कि मुख्यतः हरिजन और आदिवासी हैं, स्वयं को 'सुखवासी'[49] कहलवाने में गर्व महसूस करते हैं, क्योंकि जिले

के संपत्तिधारी वर्ग ने इन दलितों-उत्पीड़ितों को इसी ढंग से परिभाषित किया है। वास्तविकता यह है कि वे दुःखवासी हैं। परंतु अपनी वास्तविकता से अपरिचित हैं, उनकी वास्तविकता शासक वर्ग की वास्तविकता में विलीन हो चुकी है। आपातकाल के दौरान कई गांवों में यह देखा गया कि अनेक हरिजन और आदिवासी बंधक श्रमिकों ने इसलिए मुक्त होने से इंकार कर दिया कि जमींदार उनका जीवनरक्षक था। 1976 में बस्तर की दंतेवाड़ा तहसील की अदालत में ऋण-मुक्ति कानून के अंतर्गत प्रसिद्ध दंतेश्वरी देवी के एक पुजारी महापात्र के विरुद्ध मुकदमा था। उस पर आदिवासियों की संपत्ति कर्ज के बहाने हड़पने का आरोप था। पुजारी गिरवी रखे गए चंद आभूषण आदिवासियों एवं हरिजनों को लौटाने के लिए अदालत में लाया, तो उन्होंने लेने से इंकार कर दिया। अनुभागीय अधिकारी ने उन्हें काफी समझाया कि पुजारी उनको नहीं पीटेगा। वे अपनी वस्तुएं वापस ले लें। दूसरी तरफ पुजारी खुश था। आखिर जब अधिकारी ने अफसरी स्वर का प्रयोग कर इंकार का कारण जानना चाहा तो आदिवासियों ने कहा "अगर हम अपनी वस्तुएं वापस ले लेते हैं तो यह दंतेश्वरी माई से कह कर हमारे बच्चे मरवा देगा। माई जी हमें शाप दे देंगी।" मैं उस समय अदालत में उपस्थित था। आदिवासियों के ये चंद शब्द भी टुकड़े-टुकड़े होकर सामने आए। वे काफी भयभीत थे। अंत में अनुभागीय अधिकारी ने स्वयं आभूषण पुजारी से लिए और पुनः अफसरी स्वर का प्रयोग कर, यानी जेल भेजने की धमकी देकर ही, उक्त आभूषण आदिवासियों को लौटाए।

यह स्थिति 'खामोशी की संस्कृति' के दो रूप सामने रखती है—प्रथम देवी भय तथा दूसरा भौतिक भय। प्रथम में शासित वर्ग देवी भय से ग्रस्त है, जिसका उसके आंतरिक जगत से संबंध है। उस आंतरिक जगत में पुजारी द्वारा प्रतिपादित मूल्य-व्यवस्था का शासन है। वहीं दूसरी ओर बाह्य जगत में 'नौकरशाही द्वारा आरोपित व्यवस्था' (आतंक का भय) का शासन है। हर जगह अपने विवेक का प्रयोग करने में वे अक्षम सिद्ध हुए। दोनों अवस्थाओं में शासित वर्ग ने शासक वर्ग की मूल्य-व्यवस्था का 'आंतरिकीकरण' किया है। यही 'खामोशी की संस्कृति' राष्ट्रीय स्तर से आरंभ होकर छोटे से गांव तक फैल गई है।

राष्ट्रीय श्रम संस्थान[50] के तत्वावधान में आयोजित ग्रामीण शिविरों के दौरान अनुभव हुआ कि 'खामोशी की संस्कृति' की जड़ें कितनी व्यापक, मजबूत और गहरी हैं। आज भी भारत के पिछड़े क्षेत्रों में जीप या किसी पैंटधारी को देखकर लोग भाग जाते हैं। इतना ही नहीं, हर शहरी पोशाकधारी, विशेष रूप से सरकारी कर्मचारी, को 'अन्नदाता, हुजूर, हाकिम, साहब बहादुर, भगवान, देवता', आदि से संबोधित किया जाता है। बिहार, मध्य प्रदेश, दक्षिण भारत के अनेक गांवों में आज भी हरिजन और आदिवासी सवर्णों के सामने चारपाई या खटोले पर नहीं बैठ सकते, यहां तक कि जूते या साफ वस्त्र पहन कर भी उनके सामने से नहीं निकल सकते। संपत्तिधारी सवर्ण ने संपत्तिहीन गैर-सवर्ण वर्ग के लिए निकृष्ट और तिरस्कारपूर्ण भाषा गढ़ी है। बिना अपवाद के खेतिहर तथा बंधक श्रमिकों के नामों को बिगाड़ दिया जाता है। आम तौर पर उन्हें बुड़बक, हरामखोर, कामचोर, काहिल, जाहिल आदि कहा

जाता है। धीरे-धीरे सब जड़ हो जाता है। इंसान के अमानवीकरण की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है।

ग्रामीण भारत में प्रायः देखा गया है कि अमानवीयकरण की प्रक्रिया के कारण उत्पादन के क्षेत्र में इंसान जानवर से भी कम महत्व रखता है। विभिन्न स्थानों में सर्वेक्षण से जो तथ्य सामने आए हैं, उनके अनुसार एक जमींदार का बैल के रख-रखाव पर जितना खर्च होता है, उससे कहीं सस्ता उसे इंसान का श्रम पड़ता है। बिहार के अनेक भागों में बैल के मरने पर मातम मनाया जाता है, कफन दिया जाता है, क्योंकि बैल उसके लिए लक्ष्मीपात्र (लक्ष्मीपुत्र) होता है, जबकि इंसान एक मामूली दर की वस्तु। जमींदार जानता है कि उसके बंधक श्रमिक के मर जाने पर उसने कुछ नहीं खोया है, लेकिन बैल के मर जाने पर उसने काफी कुछ खो दिया है। मृत बंधक श्रमिक के स्थान पर तत्काल दूसरा श्रमिक आ जाएगा और कोई अतिरिक्त मूल्य नहीं देना होगा। परंतु नया बैल लाने के लिए उसका अधिक मूल्य चुकाना होगा। अतः जमींदार के गणित में जानवर का इंसान के बनिस्बत अधिक महत्व है। कारण स्पष्ट है : 'खामोशी की संस्कृति' ने इंसान को 'प्रतिस्थापनीय वस्तु' में परिवर्तित कर दिया है।

यहां तक कि 'खामोशी की संस्कृति' ने उत्पीड़ित इंसान में भूख के बोध को भी निर्जीव बना दिया है। देखा गया है कि गांवों में निर्धन वर्ग, जिसमें आम तौर पर हरिजन, बंधक श्रमिक, खेतिहर श्रमिक होते हैं, सप्ताह में कम से कम दो दिन भूखे रहते हैं। पूछने पर खेतिहर श्रमिक आसानी से कह देता है, 'हां, यही कोई दो-तीन दिन भूखा रहता हूं साहब।' उसके स्वर में न कोई बोध, न कोई शिकायत, न दर्द और न ही कोई विरोध के संकेत ही दूर-दूर तक मिलते हैं। वह अपनी भूख को उस प्रकार भी व्यक्त नहीं करता, जिस प्रकार एक शहरी चाय या काफी के न मिलने पर तूफान खड़ा कर देता है। कारण स्पष्ट है, उसके लिए भूख उसके जीवन का एक ऐसा हिस्सा बन चुकी है, जिसे वह अलग नहीं कर सकता। 'खामोशी की संस्कृति' दीमक की तरह उसका सब कुछ 'जीवित' चाट चुकी है। वह निस्सहायता, शक्तिहीनता, बोधहीनता और स्पष्ट शब्दों में निर्जीवता में जन्म लेता है, पलता है और उसी में दफन हो जाता है, क्योंकि उत्पीड़क वर्ग 'खामोशी की संस्कृति' को मजबूत और बदस्तूर रखने के लिए बोध, विवेक, परिवर्तन और सृजन के सभी रास्ते बंद कर देता है। परिणामस्वरूप उत्पीड़ित वर्ग बोधहीनता और संवादहीनता के वातावरण में अपनी उत्पादन-प्रक्रिया जारी रखने के लिए बाध्य है। इस बाध्यता को वह भाग्य, किस्मत, नियति, ईश्वर इत्यादि माध्यम से व्यक्त करता है।

यहां एक सच्ची घटना का उल्लेख स्थिति को और स्पष्ट कर सकेगा। राजस्थान में उदयपुर के यशवंतगढ़ कस्बे के पास रात में हमारी जीप खराब हो गई। जनवरी का महीना था। कड़ाके की सर्दी थी। तभी देखा कि कुछ दूर पर कुछ व्यक्तियों ने अलाव जला रखा है। तापने के लिए हम भी वहां पहुंचे। देखा कि कुछ भील आदिवासी श्रमिक नंगे बदन बैठे हैं। और कुछ लोग पास की बावड़ी में नहा रहे हैं। बातचीत से पता चला कि वे मुर्दे

को फूंक कर आए हैं। एक भील स्त्री की किसी अज्ञात बीमारी से मृत्यु हो गई थी। दो मास पूर्व उसका लड़का और उससे एक मास पूर्व उसका पति मर गया था। एक साल पहले लड़की भी मर गई थी। संक्षेप में, 12-13 महीनों में एक परिवार में चार इंसानों की मृत्यु बीमारी से हुई। परंतु किसी को भी बीमारी का पता नहीं चला, जबकि जिला मुख्यालय की दूरी 50-60 कि.मी. है। यशवंतगढ़ उदयपुर-सिरोही मुख्य मार्ग पर है। इस घटना से 'खामोशी की संस्कृति' और संवादहीनता की स्थिति का चेहरा और भी साफ हो जाता है। यदि शिखर-सत्ता और उसके विभिन्न स्थानीय पायों द्वारा 'अभिशप्त समाजों' का निर्माण नहीं किया गया होता तो कम से कम बीमारी का नाम और उसके कारण अवश्य सामने आ सकते थे। वास्तव में 'अभिशप्त समाज' इंसानी रिश्तों के अमानवीकरण की पराकाष्ठा है। फ्रेरे की भाषा में : "और जितना अधिक उत्पीड़कों का उत्पीड़ितों पर शिकंजा कसता चला जाता है, उतना ही अधिक वह उन्हें जड़ वस्तु में बदलते चले जाते हैं"।[52] उत्पीड़क समाज की मानसिकता इन अभिशप्त समाजों की निर्जीवता में 'आनंद' का अनुभव करने की बात बन जाती है। वह उन सभी को पसंद करती है, जो मृतावस्था में जीते हैं अर्थात् जहां अंकुर पौधा और पौधे से वृक्ष नहीं बन सकता।

इंसान की निर्जीवता में आनंद की अनुभूमि भोगने की क्रूरतम घटना मनातू[53] के भूतपूर्व जागीरदार के यहां देखने को मिली। उक्त जागीरदार के पास दो-दो पालतू बाघ तथा हथियारबंद गुमाश्तों की टुकड़ी थी। इस भौतिक शक्ति का इस्तेमाल 10-12 गांवों की हरिजन खेतिहर श्रमिकों की विशाल आबादी को आतंकित करने, उन्हें अपने शिकंजे में रखने तथा उनसे बेगार लेने में किया जाता था। अव्वल तो किसी भी श्रमिक में बेगार के विरोध का साहस ही नहीं था, यदि किसी ने किया भी तो उसकी लठैतों से पिटाई की जाती थी। पेड़ से बांध कर पीटा जाता। उसे इतना आतंकित कर दिया जाता कि अंत मे उसे गांव से ही भागना पड़ता। आलम यह था कि गांवों में जागीरदार की इजाजत के बगैर दाखिल होना नामुमकिन था। कुल मिलाकर उक्त आतंकग्रस्त गांवों में उसकी एक स्वयंभू सरकार चल रही थी। निर्जीवता में आनंद के इस 'भक्षक' ने इंसानी बस्तियों को एक कब्रिस्तान बना डाला था, जिसको बौद्धिक भाषा में 'अभिशप्त समाज' या 'घेरेबंद समाज' कहा जाता है।

फ्रेरे के शब्दों में मानसिकता की यह अवस्था 'निर्जीवता से लगाव' (यह मनोविज्ञान का शब्द है। इसका शाब्दिक अर्थ है शवकामुकता) है। फ्रेरे मानते हैं कि जो व्यक्ति इस व्यवहार से ग्रस्त है, वह जैव को अजैव में बदलने तथा जीवन को यांत्रिक ढंग से समझने (अर्थात् सभी जीवित इंसान को वस्तु मात्र समझने) की इच्छा से संचालित होता है। यदि उसके नियंत्रण में फूल या व्यक्ति भी है, तो वह उनको वस्तु के रूप में देखता है। अतः उसके नियंत्रण या अधिकार को 'खतरे' का अर्थ है, उसे स्वयं को खतरा। यदि वह नियंत्रण खो देता है तो उसका संबंध बाहरी दुनिया से भी कट जाता है। उसको नियंत्रण से प्यार है और नियंत्रण बनाए रखने की कोशिशों में वह जीवन की हत्या करता है।[54] फ्रेरे इसी जड़वादी एवं यांत्रिक मानसिकता को बैंकिंग शिक्षा से संबद्ध करते हैं। वे मानते है 'शिक्षा

की बैंकिंग अवधारणा' भी, जो कि उत्पीड़क के हितों की पोषक है, 'शवकामी' है। चेतना की यांत्रिक, गतिहीन, प्रकृतिवादी दृष्टि पर आधारित यह बैंकिंग-शिक्षा विद्यार्थियों को ग्रहण करने वाले 'पात्र' में परिवर्तित करती है। इसकी कोशिश सोचने और करने को नियंत्रित करना, इंसानों को दुनिया के ढांचे में ढालना तथा उसकी सर्जनात्मक ऊर्जा को रोकना है[55] और इस 'खामोशी की संस्कृति' की जकड़न को तोड़ने के लिए एक जीवित शिक्षा की आवश्यकता पड़ती है, जो इंसानों के बीच रिश्तों को मुखर, संवादात्मक तथा मानवीय बनाती है।

संवाद

फ्रेरे के शिक्षा-दर्शन को व्यवहार में किस प्रकार अपनाया जाए, इस पर चर्चा आवश्यक है। शिक्षाशास्त्री फ्रेरे संवाद को सामान्य अर्थों में न लेकर उसे व्यवस्था-परिवर्तन के व्यवस्था परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। उनकी दृष्टि में गतिशील संवाद की जमीन तभी तैयार की जा सकती है, जबकि व्यक्ति में विवेचनात्मक चेतना का विकास हो। इसके लिए यह शर्त आवश्यक है कि शिक्षक-विद्यार्थी के पारस्परिक रिश्ते संवादात्मक हों, न कि सिर्फ 'ग्रहणात्मक' हों। वे मानते हैं कि विषमताओं के मध्य संवाद संभव नहीं। उनकी यह भी मान्यता है कि शिक्षा उत्पीड़ितों की मुक्ति तथा अमानवीयकरण की प्रक्रिया की समाप्ति का एक सशक्त शस्त्र है। अतः संवाद के माध्यम से मनुष्य को 'मनुष्य की महत्ता'[56] प्राप्त होती है। इस प्रकार यह एक अस्तित्वमूलक आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में 'संवाद' को एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति में विचारों को जमा करने की क्रिया तक ही सीमित नहीं किया जा सकता।[57] वास्तव में संवाद एक सर्जनात्मक प्रक्रिया है[58] जिसे एक व्यक्ति द्वारा दूसरे पर शासन करने का हथियार नहीं बनाया जा सकता।[59] यदि उत्पीड़ितों को दी जाने वाली शिक्षा में इस प्रकार के संवाद के लिए स्थान है, तो वे निश्चित ही मुक्त मानव का स्थान प्राप्त कर सकते हैं।

व्यावहारिक स्तर पर फ्रेरे संवाद को संप्रेषण तथा अंतःसम्प्रेषण के रूप में देखते हैं। यह स्थिति इस प्रकार दिखाई जा सकती है :

संवाद[60]

क————(के साथ)————→ ख = संप्रेषण
↑————————————————अंतः संप्रेषण

संबंध : दो ध्रुवों के मध्य समानुभूति, जो कि एक संयुक्त सत्य की खोज में कार्यरत है।

उत्पत्ति स्थल : अनुरागी, विनम्र, आशावादी, विश्वासी तथा विवेचनात्मक।

जहां तक संवाद विरोधी स्थिति है, उसमें संप्रेषण के लिए कोई गुंजाइश नहीं है और न ही पारस्परिक प्रेम और विश्वास। यह स्थिति इस प्रकार दिखाई जा सकती है :

प्रतिसंवाद

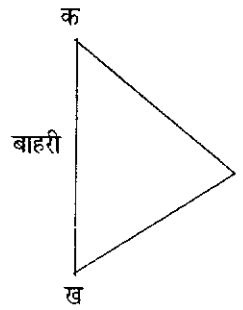

इसमें सहानुभूति के संबंध टूट गए हैं। उसके स्थान पर अनुरागहीनता, अहंकार, निराशा, अविश्वास तथा अविवेचनात्मकता है। इस प्रकार प्रतिसंवाद संप्रेषण में विश्वास न कर सिर्फ विज्ञप्ति जारी करने में विश्वास करता है, जिसमें किसी भी वस्तु के परिवर्तन के लिए कोई स्थान नहीं रहता, बल्कि यथास्थितिवाद उसकी बुनियाद होता है।

वास्तविक संवाद की स्थिति पैदा करने के लिए यह आवश्यक है कि खामोशी की संस्कृति में पल रहे इंसानों को दी जाने वाली शिक्षा का जन्म उनकी ही जिंदगी से हुआ हो। दूसरे शब्दों में, ऐसे विषयों को लिया जाए, जिनका आधार वह स्थिति हो, जिनसे उनका रोजाना पाला पड़ता है। यह तभी संभव है, जब शिक्षक या प्रशिक्षक उत्पीड़ितों की स्थिति को समस्यात्मक ढंग से रखे और उसके प्रति उन्हें विवेचनात्मक स्तर पर जागरूक करे। इसके साथ ही वह यह भी सोचे कि किस प्रकार इस स्थिति को बदला जा सकता है और उत्पीड़न से मुक्ति किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है।

जहां तक भारतीय संदर्भ का प्रश्न है, फ्रेरे का यह विश्लेषण प्रासंगिक है कि उत्पीड़ितों को परिवर्तन की प्रकिया सें शामिल नहीं किया जाता है। संवाद-विरोधी परिवेश में किसान की चेतना विकसित की जाती है। ऐसी स्थिति में उत्पीड़ितों के समक्ष ऐतिहासिक दृष्टि से एक ही विकल्प रह जाता है कि "वह सिर्फ दूसरों को सुने और आज्ञा का पालन करे।"

हमारे देश में कठोर वर्णवादी व्यवस्था होने के कारण एक सुदृढ़ श्रेणीबद्ध समाज है, जिसमे संवादहीनता की स्थिति मौजूद है। इस स्थिति को तोड़ने के लिए यह आवश्यक है कि उत्पीड़ित वर्ग और वर्ग के मध्य संवादात्मक शिक्षा आरंभ की जाए। यहां यह जान लेना आवश्यक है कि उत्पीड़ित वर्ग में विवेचनात्मक क्षमता पैदा करने की प्रक्रिया ऐसी हो, जिसमें संवाद के माध्यम उनकी दैनिक जिंदगी से जुड़े हों। इस संदर्भ में श्रमिक शिविरों में किए गए प्रयोग के अत्यंत महत्वपूर्ण परिणाम 'दलित चेतना के लिए शिक्षा : एक प्रयोग' लेख में प्रस्तुत किए गए हैं।

शिक्षा को संवादात्मक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि स्थानीय वस्तुस्थिति का पुख्ता ज्ञान हो। इस वस्तुस्थिति के अंतर्गत संरचनात्मक विषमता और असंतुलन के विभिन्न

पक्ष भी आते हैं। मोटे तौर पर सामाजिक, आर्थिक, विकासात्मक और भौगोलिक पक्षों को ध्यान में रखना होगा। वस्तुस्थिति के अनुकूल उसका विशिष्टीकरण करना होगा। उदाहरण के लिए आज पिछड़े क्षेत्रों में आधुनिक सभ्यता पहुंची है, वहां का उद्योगीकरण हुआ, उससे अनेक समस्याएं पैदा हो गई हैं। विशेषतः आदिवासी क्षेत्रों (बस्तर, भिलाई, रांची आदि) में उद्योगीकरण ने वहां के मूल निवासियों की समृद्ध संस्कृति, आत्मनिर्भर आर्थिक व्यवस्था और विषमताहीन सामाजिक व्यवस्था को तहस-नहस कर दिया है। फलस्वरूप, आदिवासी आज एक ऐसे कगार पर खड़े हैं जहां से न वे आगे जा सकते है और न वापस लौट सकते हैं। आधुनिक सभ्यता उनकी सब कुछ छीनती जा रही है और वे विकल्पहीन बनते जा रहे हैं। ऐसी स्थिति से निपटने के लिए विशेष प्रकार की शिक्षापद्धति की आवश्यकता है। इस संदर्भ में डा. ब्रह्मदेव शर्मा का यह स्पष्ट मत है कि जब तक आदिवासी जैसे पिछड़े क्षेत्रों में शिक्षा तथा अन्य विकास कार्यों के माध्यम से एक 'समानांतर शक्ति' पैदा नहीं की जाती, तब तक आदिवासी और अन्य पिछड़े वर्ग तेजी से बढ़ती शक्तिशाली यांत्रिकी व्यवस्था के समक्ष स्वयं को निस्सहाय एवं विकल्पहीन पाएंगे।

इसी प्रकार खेतिहर श्रमिक, बंधक श्रमिक तथा अन्य ग्रामीण निर्धन वर्गों को साक्षर बनाने से पूर्व उनके समूचे जीवन-संदर्भ को समझना होगा। क्या कारण है कि हजारों बंधक श्रमिक मुक्ति के बाद वापस बंधक अवस्था में पहुंच गए, जबकि उन्हें भूमि तथा अन्य कृषि औजार भी दिए गए थे ? यहां उन्हें सिर्फ साक्षर बनाने से ही काम पूरा नहीं हो जाता बल्कि उनकी मानसिकता को समझना और अक्षरों के माध्यम से उनमें परिवर्तनवादी दृष्टिकोण पैदा करना नितांत आवश्यक है। तभी वर्तमान यथार्थ में परिवर्तन लाया जा सकता है।

यहां बतौर चेतावनी यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि फ्रेरे भारतीय परिस्थितियों में पूरी तरह प्रासंगिक हैं, यह अव्यावहारिक निष्कर्ष होगा। लैटिन अमेरिकी समाज और भारतीय समाज में कई बुनियादी असमानताएं हैं। वहां के अधिकांश देशों में सैनिक तानाशाही है और वे संयुक्त राज्य अमेरिका पर पूरी तरह आश्रित हैं। दूसरी तरफ भारतीय समाज एक सीमा तक लोकतांत्रिक वातावरण में जी रहा है। यहां के शासक वर्ग को पूर्ण दलाल भी नहीं कहा जा सकता। पिछले पचास-साठ वर्ष में यहां के शासक वर्ग ने युक्ति-कौशल अर्जित किया है। इसके अतिरिक्त, यहां की सामाजिक समस्याएं वहां से किन्ही अर्थों में भिन्न हैं। यहां जितनी वर्णगत तथा भौगोलिक विषमताएं हैं, वहां वैसी स्थिति नहीं है। यद्यपि घेरेबंद समाज यहां हैं, परंतु उनका सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता। अलबता यह बात सच है कि राष्ट्रीय स्तर पर जो शिक्षापद्धति अपनाई गई है, वह कमोबेश पश्चिमी मूल्य-व्यवस्था को सामने रखकर अपनाई गई है। निसंदेह समाज का अंतिम व्यक्ति इससे बिल्कुल कटा हुआ है। अतः फ्रेरे अंतिम व्यक्ति को मुक्त कराने की दिशा में प्रासंगिक अवश्य है, परंतु उनके शिक्षा-दर्शन को भारतीय परिस्थितियों के संदर्भ में ढालना होगा। गांधी जी का यह कथन आज भी प्रासंगिक है : "शिक्षा को इस प्रकार से क्रांतिकारी बनाया जाए जिससे कि वह निर्धनतम ग्रामीण की जरूरतों का जवाब बन सके, बजाए इसके कि वह केवल साम्राज्यवादी शोषकों के ही जरूरतों की पूर्ति करे।"

संदर्भ और टिप्पणियां

1. बर्टेंड रसेल, एज्युकेशन एंड द सोशल आर्डर, पेंगुइन पेपरबैक्स, लंदन, पृ. 51.
2. यहां तीसरे विश्व की श्रेणी में वे देश शामिल नहीं हैं, जहां की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं में आधारभूत परिवर्तन लाया जा चुका है और उत्पादन-संबंधों के स्वरूप-निर्धारण का कार्य उत्पादक शक्तियों के हाथों में है.
3. डी. जी. तेंदुलकर, महात्मा-भाग 3, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, पृ. 137.
4. प्रौढ़ शिक्षा विकास का मनोविज्ञान, दे. दिनमान, 21 जनवरी, 1979.
5. गेरिट होजर, पीजेंट पार्टिसिपेशन इन लैटिन अमेरिका: एन ओवरव्यू (साइक्लोस्टाइल पेपर)
6. फ्रैंज फेनोन, रेचड आफ दि अर्थ.
7. रजनी कोठारी, ऐन अल्टरनेटिव फ्रेमवर्क फार रूरल डेवलपमेंट (ऐनदर डेवलपमेंट एंड एप्रोचेज एंड स्ट्रेटीजं में प्रकाशित).
8. बेरिंगटन मूर जूनियर, सोशल ओरिजिन आवू डेमोक्रैसी ऐण्ड डिक्टेटरशिप.
9. आर.एस. जोशी, टेंशंस इन रूरल इंडिया, फ्रंटियर, कलकत्ता, नबंबर, 1977.
10. जोशी, इंपैक्ट आफ इंडस्ट्रियलाइजेशन आफ ट्राइबल्स, नैशनल लेबर इंस्टिट्यूट बुलेटिन, अंक 1, वर्ष 1978.
11. जोशी, कनाडिया ट्रेजडी, बुलेटिन पूर्वोक्त, अंक वर्ष 1977.
12. इस पुस्तक का उल्लेख आगे केवल 'पेडागॉजी' शब्द से होगा.
13. इस पुस्तक का उल्लेख आगे केवल 'ऐक्शन' शब्द से होगा.
14. इस पुस्तक का उल्लेख आगे केवल 'एजूकेशन' शब्द से होगा.
15. रिचर्ड शडल, पेडागॉजी आफ दि आप्रेस्ड, पृ. 10, पेंगुइन संस्करण 1970.
16. वही.
17. वही.
18. वही.
19. जोआओ दा वेएगा का उतीन्हों : भूमिका, कल्चरल ऐक्शन फॉर फ्रीडम, पृ. 7, पेंगुइन संस्करण, 1972.
20. वही.
21. पेडोगॉजी, पूर्वोक्त, पृ. 17.
22. वही.
23. वही.
24. वही.
25. वही, पृ. 19.
26. महात्मा, पूर्वोक्त, खंड 3, पृ. 137.
27. फ्रेरे, एजुकेशन फार क्रिटिकल कांशसनेल, शील्ड एंड वार्ड, लन्दन, 1973.
28. पेडागॉजी, पूर्वोक्त, पृ. 45.
29. वही, पृ. 46.
30. समूचे लेख में अधिकोष के स्थान पर बैंकिंग का ही प्रयोग किया जाएगा. अंग्रेजी में जहां बैंक का अर्थ अधिकोष है, वहीं क्रिया के प्रयोग में उसका अर्थ विश्वास करना या आश्रित (अन्य पर) होना भी है. इस प्रकार कर्ता के "स्वतंत्र अस्तित्व" का क्षेत्र भी सीमित हो जाता है. अतः बैंकिंग यहां शिक्षा के

व्यापक चरित्र को परिभाषित करती है.—ले.

31. वही, पृ. 46-47.
32. एजूकेशन, पूर्वोक्त, पृ. 138
33. पेडागॉजी, पूर्वोक्त, पृ. 47.
34. इवान इलिच, डीस्कूलिंग सोसाइटी, पेंगुइन संस्करण, 1973, पृ. 40.
35. वही, पृ. 105.
36. वही, पृ. 105.
37. यह शिक्षा-अध्ययन म.प्र. आदिम जाति एवं अनुसूचित जनजाति विभाग के तत्कालीन आयुक्त डा. ब्रह्मदेव शर्मा के मार्गदर्शन में आरंभ किया गया था.
38. डॉ. वी. डी. शर्मा, भूमिका, ट्रॉइबल कांसेप्ट एंड इट्स फ्रेमवर्क.
39. एलविन, आदिवासियों की शिक्षा, बस्तर जिलाधीश कार्यालय के रिकार्ड रूम से.
40. पूर्वोक्त, कनाडिया ट्रेजेडी.
41. रिचर्ड शडल, पूर्वोक्त, पृ. 10.
42. ऐकान, पूर्वोक्त, पृ. 55-57.
43. वही, पृ. 61.
44. वही, पृ. 61.
45. वही, पृ. 39.
46. पेडागॉजी, पूर्वोक्त, पृ. 2.
47. ऐकान, पूवोक्त, पृ. 76.
48. ऐज्यूकेशन, पूर्वोक्त पृ. 57.
49. रामशरण जोशी, बांडेड लेबर एंड देयर फैंटेसी, बुलेटिन 1978, पूवोक्त.
50. यह संस्थान एक स्वायत्त संस्था है. इसके विभिन्न क्रियाकलापों में से एक कार्य असंगठित खेतिहर श्रमिकों में विवेचनात्मक चेतना पैदा करना है. इसके लिए देश के विभिन्न भागों में ग्रामीण शिविरों का आयोजन किया जाता है.
51. यह घटना जनवरी 1979 की है. हम लोग गुजरात की सीमा पर राजस्थान की तहसील कोटड़ा में भील आदिवासियों का शिविर लगाने गए थे. यशवंतगढ़ अच्छा खासा कस्बा है. यहां अस्पताल भी है.
52. पेडागॉजी, पूर्वोक्त, पृ. 35.
53. रामशरण जोशी, नवभारत टाइम्स, 1 एवं 2 जून, 1978.
54. पेडागॉजी, पूर्वोक्त, पृ. 51.
51. वही, पृ. 51.
56. पेडागॉजी पृ. 61.
57. वही, पृ. 61.
58. वही, पृ. 62.
59. वही, पृ. 62.
60. एज्युकेशन, पूर्वोक्त, पृ. 45.
61. वही, पृ. 46.
62. बी. डी. शर्मा (1) प्लानिंग फार एज्युकेशनल डेवलपमेंट इन ट्राइबल एरिया, ऑकेजनल पेपर्स, गृह मंत्रालय, भारत सकार.
(2) ट्राइवल डेवलपमेंट कांसेप्ट एंड फ्रेम, पूर्वोक्त.

ग्यारह

दलित चेतना के लिए शिक्षा का एक प्रयोग

सामंती और औपनिवेशिक या पश्चिमी मूल्य-व्यवस्था से अनुकूलित लोग यह मान बैठे हैं कि राष्ट्र की मुख्य धारा के कटे क्षेत्रों तथा उत्पीड़ित वर्ग (हरिजन, आदिवासी, बंधक श्रमिक एवं असंगठित क्षेत्र के श्रमिक) में सोचने-समझने की क्षमता का जन्मजात अभाव होता है। वे अपनी परिस्थितियों और आस-पास के वातावरण को समझने में अक्षम हैं, फलस्वरूप वे अपनी समस्याओं का समाधान और अपने विकास का मार्ग निर्धारित नहीं कर सकते।

परंतु, अनुभवजन्य यथार्थ इस आयातित मानसिकता के एकदम विपरीत है। तथाकथित राष्ट्रीय मुख्य धारा से अलग-थलग क्षेत्रों के लोगों तथा उत्पीड़ित वर्गों में एक सामान्य शहरी बुद्धिजीवी से किसी भी दृष्टि से कम चेतना नहीं होती। उनमें वस्तुस्थिति को परखने, अंतर्विरोधों की पहचान, उनके समाधान तथा अपने विकास की मार्ग-दिशा तय करने की सामर्थ्य और क्षमता होती है। यहां तक कि एक औसत समाजशास्त्री से कहीं अधिक उनमें विवेचनात्मक चेतना होती है। यह मानना भी गलत है कि वे शक्तिहीनता (जैसा कि मनोवैज्ञानिक मानते हैं) के शिकार हैं। यह अवश्य सही है कि उत्पीड़ित वर्गों की उर्जा 'राख के ढेर के नीचे सुलगते अंगारों' के समान है। हां, राख को सिर्फ हटाने भर की देर है।

जब राजस्थान और बिहार के विभिन्न ग्रामीण श्रमिक शिविरों में शिकार अभ्यास (आओ, शिकार करें एवं आओ, नया गांव बसाएं) का प्रदर्शन किया गया, तो उत्पीडित वर्गों की बोधक्षमता तथा विवेचनात्मक दृष्टि की परतें खुलती चली गईं। उन्होंने अभ्यास के दौरान विषमतायुक्त वातावरण और उससे उत्पन्न अंतर्विरोधों की सिर्फ पहचान ही नहीं की, बल्कि उनके सही समाधान का रास्ता भी तलाश किया। यह सच है कि उनकी अभिव्यक्ति में विश्वविद्यालयीन नफासत (सॉफिस्टिकेशन) जरूर नहीं थी। हो सकता है उनकी अभिव्यक्ति 'भदेस' (क्रूड) लगे, परंतु यह उन्हीं की जमीन से उपजे मुहावरों के माध्यम से संभव हुई है। इसे समझने के लिए बौद्धिक कसरत के स्थान पर संवेदनशीलता की आवश्यकता अधिक है।

प्रस्तुत शिकार-अभ्यास को चार भागों में समेटा गया है : (1) अभ्यास परिचय एवं वर्णन, (2) विश्लेषण, (3) निष्कर्ष और (4) उपसंहार।

भाग एक : अभ्यास परिचय

आओ, शिकार करें : 'शिकार अभ्यास' की रचना के पीछे कोई पूर्व-नियोजित चिंतन नहीं था। इसका आरंभ मात्र संयोग था। हालांकि राष्ट्रीय श्रम संस्थान द्वारा आयोजित ग्रामीण-श्रमिक शिविरों में भाग लेते दो-ढाई वर्ष बीत चुके थे, परंतु कभी कोई ऐसा नया विचार जेहन में नहीं उठा, जिसे 'उत्पीड़ित वर्ग में विवेचनात्मक तथा प्रतिरोधात्मक चेतना' विकसित करने के लिए 'अभ्यास' के रूप में ढाला जा सके। यह बैचेनी हमेशा सालती रही कि शिविर में खेलाए जाने वाले जितने भी अभ्यास हैं, वे सभी पश्चिमी प्रबंध और श्रमिक परिवेश की उपज हैं, और भारत की वास्तविकताओं से उनका कोई नाता नहीं है, चाहे संगठित श्रमिक वर्ग हो या असंगठित, क्योंकि पूंजीवादी देशों का श्रमिक वर्ग आज उस स्थिति तक पहुंच गया है, जहां वह 'जीवन की गुणवत्ता' को अधिक समृद्ध करने के लिए संघर्ष कर रहा है। और भी साफ तौर से कहा जाए तो वह उन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों का अभिन्न हिस्सा बन चुका है, जो यथास्थितिवादी व्यवस्था की पक्षधर हैं। परंतु जहां तक सवाल भारत की वास्तविकता का है, यहां का श्रमिक औसतन सिर्फ 'जीने भर' की लड़ाई लड़ रहा है। असंगठित श्रमिकों में तो 'जीने का अहसास' ही पैदा नहीं हुआ। जीवन और मृत्यु के बीच बोधहीनता की स्थिति ही उनके लिए जीवन है, मृत्यु है। "जीवन की गुणवत्ता का बोध" तो उनसे 'युगों दूर' है। उनकी पालने से चिता तक की यात्रा खालिस दो जून रोटी के इर्द-गिर्द चक्कर लगाती है। ऐसी स्थिति में शिविर में खेलाए जाने वाले अधिकांश खेलों का उद्देश्य सीमित रहता था। साफ शब्दों में, ऐसे अभ्यास असंगठित ग्रामीण श्रमिक तथा अन्य उत्पीड़ित वर्गों में अप्रत्यक्ष रूप से यथास्थिति को बनाए रखते तथा अपने आसपास की व्यवस्थाजन्य वास्तविकताओं में सतही परिवर्तन के बीज बोते थे। वे समाज में व्याप्त अंतर्विरोधों के सही हल के स्थान पर उन्हें दबाने और उलझाने का मार्ग बतलाते थे। इसलिए शिविर की ये चंद सीमाएं हमेशा चुभती रहीं। ऐसा ही एक शिविर जनवरी, 1979 के अंत में उदयपुर की सबसे बड़ी भील-बहुत पिछड़ी तहसील कोटरा में लगाया गया।

कोटरा-शिविर में दूसरे दिन संस्थान के डीन प्रो. प्रयाग मेहता का 'अभिप्रेरणा' पर लंबा भाषण हुआ। करीब साठ-सत्तर आदिवासी-हरिजन प्रशिक्षणार्थी थे। डॉ. मेहता मूलतः मनोवैज्ञानिक है। अपने भाषण में उन्होंने अभिप्रेरणा के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला और बताया कि असंगठित श्रमिक को किसर प्रका इससे लाभ हो सकता है, वह किस प्रकार अपनी परिस्थितियों में सुधार ला सकता है। जीवन का लक्ष्य, उद्देश्य क्या होना चाहिए और अभिप्रेरणा के साथ इनकी अंतरसंबद्धता क्या है, इत्यादि। करीब डेढ़ घंटे के भाषण के बाद डॉ. मेहता ने शिविरार्थियों से अभिप्रेरणा के संबंध में सवाल किए। सवालों के माध्यम से उन्होंने यह भी मापना चाहा कि भाषण का संदेश किस गहराई तक पहुंचा है। परंतु कई बार कुरेदने के बावजूद आदिवासी हरिजनों के चेहरे सपाट दिखाई दिए। आंखे स्थिर थीं। उनके लिए सब कुछ भावशून्य-विचारशून्य था। इस शून्यता की स्थिति ने हम सभी को

आश्चर्य मे डाल दिया। इसी उधेड़बुन के दौरान दिमाग के किसी कोने में हरकत हुई कि यदि अभिप्रेरणा, उद्देश्य और लक्ष्य-बिंदु को समझने के लिए ऐसे प्रतीकों का प्रयोग किया जाए जिनका आदिवासियों के दैनिक जीवन से सीधा संबंध हो, तो कुछ बात बन सकती है। अकस्मात ही मुझे बस्तर-प्रवास के अनुभव याद आ गए। मैंने दक्षिण बस्तर के दंतेवाड़ा क्षेत्र में प्रवास के दौरान देखा था कि मुरिया आदिवासी जंगली सूअर, हिरण, खरगोश आदि का तीर से शिकार करते समय सब कुछ भूल जाते थे। भोर से दोपहर तक जंगलों में भटकते रहते थे। इनका लक्ष्य-बिंदु शिकार रहता था। मैं यह सोच ही रहा था कि डॉ. मेहता ने मुझसे पूछा :

"जोशी, जो कुछ मैंने कहा है उसका सरलीकरण करके क्या आप इन्हें समझा सकते हो ?"

"मैं प्रयत्न करता हूं।" मेरा उत्तर था।

मैंने धीरे-धीरे समझाना शुरू किया कि भील आदिवासी किस प्रकार शिकार के पीछे तीर-धनुष लेकर दौड़ता है और उस समय वह सब कुछ भूल जाता है। जब तक वह शिकार नहीं कर लेता, घर नहीं लौटता। इसके साथ-साथ मैंने सवाल किया कि "उस समय उसका निशाना क्या होता है ?"

"शिकार।"

"वह शिकार क्यों करता है ?"

"खाने के लिए।"

इसी तरह प्रश्नों और उत्तरों का सिलसिला चलता रहा। अंत में लगा कि उन्हें अभिप्रेरणा का अर्थ कुछ-कुछ समझ में आने लगा है। उनके चेहरों पर हलचल साफ दिखाई दे रही थीं। और इसके बाद शिविरार्थियों ने स्वयं शिकार की संपूर्ण प्रक्रिया आरंभ से अंत तक बताई। वातावरण काफी सरल और दिलचस्प बन चुका था। सीखने और सिखाने वालों (हम) के बीच संवाद स्थापित हो चुका था। वे अभिप्रेरणा, उद्देश्य और लक्ष्यबिंदु के अर्थों के काफी करीब पहुंच चुके थे। फिर इन अर्थों को उनके विकास, प्रगति और अन्य सामाजिक संदर्भों से जोड़ा गया।

शिविर-समाप्ति के बाद रात्रि को सोते समय अचानक ख्याल आया कि क्यों न इस शिकार की 'थीम' को विकसित किया जाए ? रात भर इसके विभिन्न पक्षों पर मंथन चलता रहा। सुबह होते-होते मैं इस स्थिति में पहुंच गया था कि 'थीम' को एक 'अभ्यास' की शक्ल दी जा सके। प्रारंभ में मस्तिष्क-पटल पर तीन धुंधले चित्र उभरे :

(1) वृत्त से घिरा जानवर और चारों तरफ तीर,
(2) वृत्त में मनुष्य और चारों ओर तीरों से विंधा, तथा
(3) वृत्त में पशु और मनुष्य दोनों ही—फिर चारों ओर तीर।

परंतु, रह-रह कर लग रहा था कि यह अभ्यास अधूरा है। इसी प्रक्रिया के दौरान एक और

चित्र विचारपटल पर अंकित हुआ। यह अंतिम चित्र था। वृत्त में जानवर और इंसान दोनों एक साथ खड़े हैं। दोनों को ही तीर लग रहे हैं। दोनों का ही शिकार जारी है। अब महसूस हुआ कि कुछ बात बन गई है।

मैंने सभी चित्रों की अभ्यास-योजना के संबंध में अन्य सहयोगियों के साथ चर्चा की। दोनों को ही अभ्यास ठीक लगा और तय किया कि दिन में इसका प्रदर्शन किया जा सकता है।

यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अभ्यास के प्रदर्शन से पूर्व कोई नियोजित-परिणाम योजना मेरे पास नहीं थी। सिर्फ एक रूपरेखा थी। अभ्यास यह सोच कर कराया जा रहा था कि देखें क्या होता है ?

अभ्यास प्रारंभ हुआ। सबसे पहले चार्ट पर बना एक चित्र टांगा गया। इस चित्र में एक वृत्त में चारों तरफ तीरों से घिरा जानवर दिखाया गया था। समस्त शिविरार्थियों की नजरें चित्र पर गड़ी थीं।

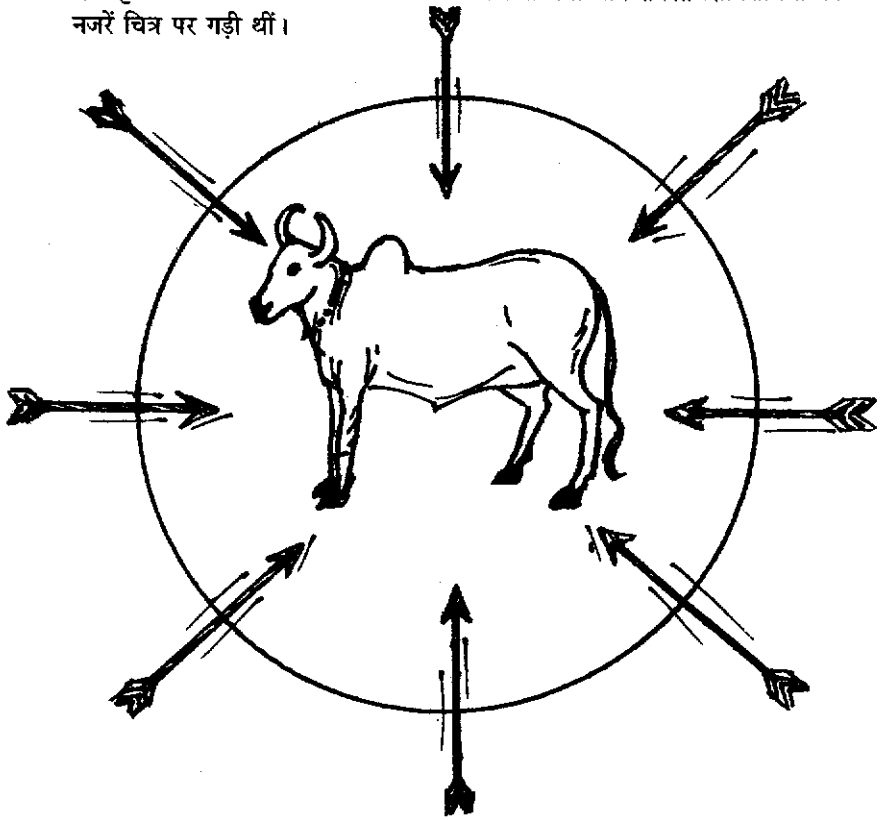

चित्र नं. 1

"चित्र में आप क्या देख रहे हैं ?" अभ्यास की प्रक्रिया आरंभ हुई।

"ढोर (पशु) का शिकार हो रहा है।" सबने एक साथ कहा।

"कौन शिकार कर रहे हैं ?"

"हम लोग।"

चूंकि आदिवासियों के लिए शिकार उनके दैनिक जीवन का एक अभिन्न अंग है, अतः उत्तर देने में कोई कठिनाई नहीं हुई। पूरी कक्षा को इस बात की खुशी थी कि उनका उत्तर सही रहा।

फिर दीवार पर दूसरा चित्र टांगा गया। इस चित्र में पशु के स्थान पर मनुष्य को रखा गया। शेष स्थिति पूर्ववत् थी। अब संवाद का सिलसिला शुरू हुआ।

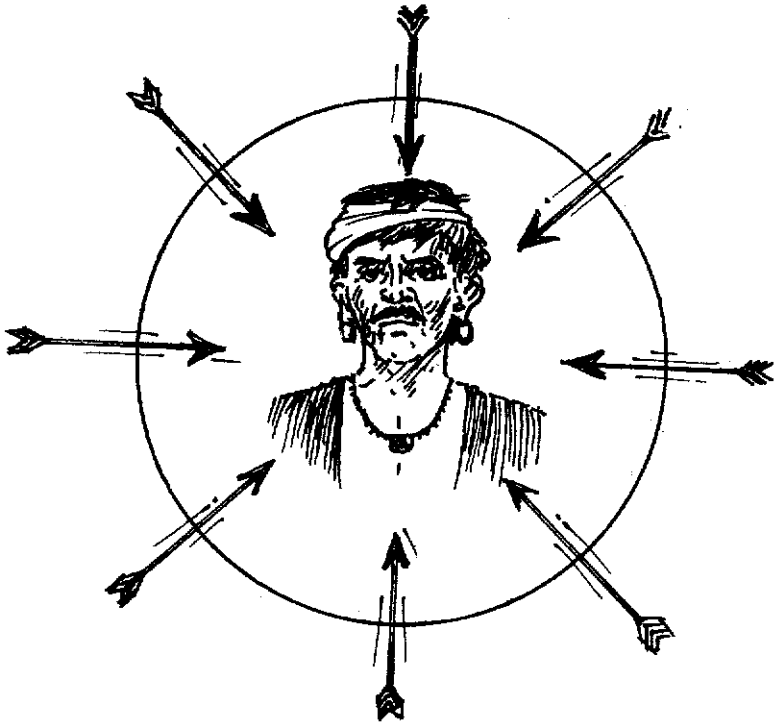

चित्र

प्रश्न : इस चित्र से क्या समझते हैं ?
उत्तर : मिनख (इंसान) का शिकार हो रहा है।
प्रश्न : यह मिनख कौन है ?

कुछ क्षणों के लिए चुप्पी। एक दूसरे की ओर शिविरार्थी देखने लगे। कुछ कानाफूसी भी होने लगी। मैंने कहा, "एक दूसरे से कोई नहीं पूछेगा। सब लोग अपने मन से जवाब देंगे।" चुप्पी टूटी।

"गरीब आदमी को मारा जा रहा है।" पहली कतार में बैठा चैनराम बोला। चैनराम इससे पहले रतलाम में लगे इसी प्रकार के शिविर में भाग ले चुका था। चैनराम के उत्तर पर अनायास मेरे हाथ बज पड़े। पूरी कक्षा ने तालियां बजाईं। वातावरण में एक हलचल फैल गई। दो प्रश्नों के सही उत्तरों से विजय और गर्व के भाव उनके चेहरों पर स्पष्ट झलक रहे थे। सिलसिला आगे चला।

"ठीक है, गरीब आदमी का शिकार हो रहा है। मगर, यह गरीब है कौन ? इसकी पहचान क्या है ?"

आदिवासी-हरिजन साथियों में फिर हलचल होने लगी। मगर इस बार कानाफूसी नहीं थी। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आदिवासी बात के धनी होते हैं। एक बार कह दिया, डटे रहेंगे। सभी के दिमागों की नसें तनी हुई थीं। तीन-चार मिनट बाद पीछे से आवाज आई।

"यह गरीब आदमी हरिजन ही है।" फिर तालियों की गड़गड़ाहट। यह उल्लेखनीय है कि उत्तर देने वाला भील आदिवासी था। उसने गरीब की पहचान आदिवासी तक ही सीमित नहीं रखी बल्कि हरिजन को भी इसका सहयात्री समझा। उसके बोध-जगत् का विस्तार खुला हुआ था। उत्पीड़ितों में उनके जन्मजात बोध की अभिव्यक्ति का अंकुरण होने लगा था।

अब अभ्यास का सबसे महत्वपूर्ण चरण शुरू होने जा रहा था।

प्रश्न किया : आपने सही पहचाना, जिसका शिकार किया जा रहा है वह आदिवासी और हरिजन ही है। मगर शिकार करने वाले कौन हैं ?"

यद्यपि उन्हें रास्ते का ज्ञान हो गया था। मगर, अब उन्हें इसकी पहचान करनी थी कि शिकारी कौन है ? वातावरण फिर गंभीर हो गया। कुछ क्षणों के बाद चुप्पी तिड़की। डरते-डरते पहला उत्तर आया, "पुलिस"।

शेष लोग इस प्रतीक्षा में थे कि उनके उत्तर की मुझ पर या शिविर के अन्य आयोजकों पर क्या प्रतिक्रिया होती है। हम लोग चुप रहे। फिर चुप्पी ? फिर मैंने ही पूछा, "क्या पुलिस शिकारी है ?"

"जी हां" समवेत स्वर में पूरी कक्षा ने कहा।

प्रश्न : "अच्छा और कौन-कौन शिकारी हैं ?" अभ्यास आगे बढ़ता जा रहा था। किसी ने झिझकते हुए उत्तर दिया : "पटवारी"। फिर तालियां बजीं।

हमने यहां स्पष्ट किया कि किसी को झिझकने, डरने की कोई आवश्यकता नहीं है। दिमाग में जो भी आए, बेहिचक बोलो। भय और संकोच तेजी से सिकुड़ने लगा। संवाद का विस्तार होता जा रहा था। सवाल दोहराया : "और कौन दुश्मन है ?"

तपाक से उत्तर आया, "व्यापारी"। प्रशिक्षार्थियों में उत्साह, जिज्ञासा और अभिव्यक्त करने की इच्छा पैदा हो चुकी थी। इतना ही नहीं, उनमें एक प्रकार की "होड़" लगी थी कि कौन अधिक सही उत्तर दे। ऐसा नहीं है कि जो भी उनका उत्तर होता, सही ही होता। कभी-कभी वे विचित्र उत्तर भी देते हैं। उदाहरण के लिए किसी ने गरीबों का दुश्मन 'जू' तक बताया। इसी प्रकार एक वर्ष पश्चात झाड़ोली में शिविर लगा। वहां भी अभ्यास के दौरान एक भील आदिवासी ने कहा कि उनकी सबसे बड़ी शिकारी "औरत" है। शिविर में उपस्थित सभी लोग इस उत्तर पर हंस पड़े, यहां तक कि आदिवासी और हरिजन भी। एक अन्य शिविर में यह भी उत्तर मिला, "परमात्मा तीर चला रहा है।" यदि सतही तौर पर देखा जाए, तो इस प्रकार के उत्तर अर्थहीन और अप्रासंगिक लगेंगे। परंतु ऐसा नहीं है। इन उत्तरों के संबंध में विस्तार से भाग (ख) में चर्चा की जाएगी।

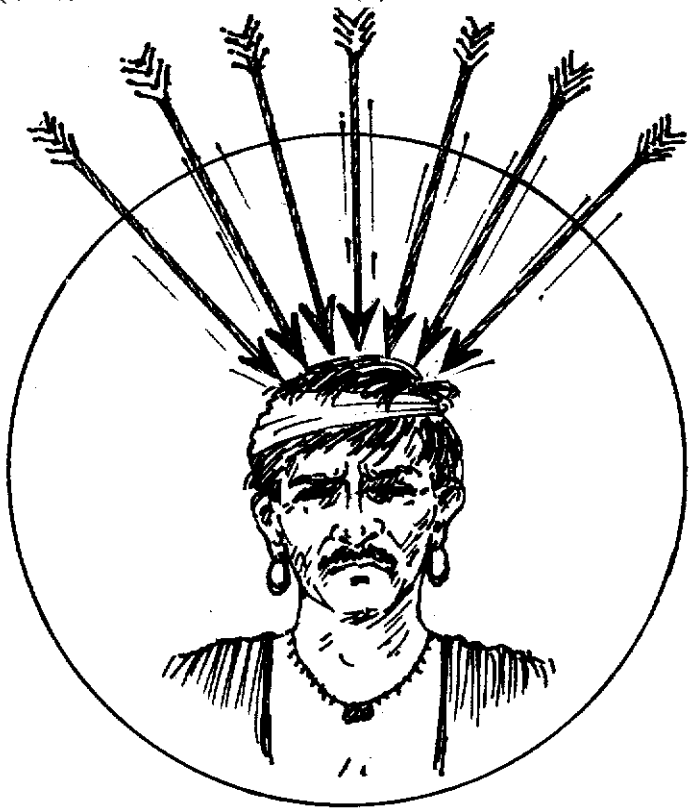

चित्र नं. 3

प्रथम शिविर के दौरान पुलिस, पटवारी और व्यापारी के आतिरिक्त निम्न शिकारियों की पहचान की गई : जंगलात पुलिस, सुनार, धनवान, बनिया, बड़े अधिकारी, राज्य कर्मचारी, जमींदार, वकील, सरपंच, मुखिया, मोमेडन (कोटड़ा के व्यापारी एवं सरपंच मुसलमान हैं), वार्डपंच, ग्राम सेवक, तहसीलदार, डाक्टर, बस कण्डक्टर, विकास अधिकारी, ओवरसियर, बैंक मैनेजर, ठेकेदार, टेलर, जादूखोरी (आदिवासियों में जादू टोना करने वाला), आदि।

दूसरे चित्र की अभ्यास-प्रक्रिया में लगभग सभी प्रशिक्षार्थियों ने कम या अधिक भाग लिया। कक्षा में प्रशिक्षार्थियों और संयोजकों के बीच बची-खुची 'शिक्षक की दीवार' भी टूट गई। अब संवाद पूरी तरह स्थापित हो चुका था। दूसरे शब्दों में औपचारिकता का स्थान अनौपचारिकता ने ले लिया था।

अब प्रतीक तीन की बारी थी। प्रतीक तीन में प्रतीक दो को ही दोहराया गया था। यानी प्रतीक तीन के घेरे में भी मनुष्य को खड़ा किया गया था।

जब इस चित्र (पिछला पृष्ठ देखें) पर अभ्यास आरंभ होने लगा तो प्रशिक्षार्थियों को कुछ अटपटा लगा। उनके चेहरे और आंखें बता रही थीं कि उन्हें चित्र दो को दोहराने पर आश्चर्य हो रहा है।

उनमें से एक ने खड़े होकर पूछा : "क्या शिकारी और भी हैं ?"

"अभी तो ढेर सारे हैं।" मैं बोला और फिर कहा "मगर ये दूसरे प्रकार के शिकारी हैं। पहले जैसे नहीं हैं। अब सोचिए, ये किस प्रकार के हो सकते हैं ?"

वे फिर बगलें झांकने लगे। परंतु कोई भी कुछ बोल नहीं पा रहा था। जब काफी देर तक चुप्पी रही और कोई उत्तर नहीं आया, तो मैंने उनकी विवशता महसूस की। वे सोच नहीं पा रहे थे कि और कौन शत्रु हो सकते हैं। फिर एक उपाय निकाला, जिससे अभ्यास-प्रक्रिया आगे चले। आदिवासी-हरिजनों से कहा कि "चित्र दो और चित्र तीन के शत्रुओं में अंतर केवल इतना है कि पहले वाले शिकारी दिखाई देते हैं, जबकि दूसरे दिखाई नहीं देते।" फिर भी खामोशी नहीं टूटी। वे सूत्र पकड़ नहीं पा रहे थे।

मैंने फिर कहा : "इन शत्रुओं के हाथ-पांव, आंख-कान-मुंह कुछ नहीं है। फिर भी वे हमेशा आपके साथ रहते हैं और रात-दिन आपका शिकार करते हैं। ऐसे शिकारी कौन हो सकते हैं ?" अब उनमें कुछ हलचल मची। एक ने सहमते हुए कहा : "हम अनपढ़ हैं। यह भी हमारा शत्रु है।" यह उत्तर सही था। जमकर तालियां बजीं। इस उत्तर का अर्थ था कि आदिवासी-हरिजनों में व्याप्त अशिक्षा भी उनकी शत्रु बन गई है। इसके बाद तो सिलसिला चल पड़ा। इन शत्रुओं को 'भीतरी यानी आंतरिक शत्रुओं' की संज्ञा दी गई। निम्न आंतरिक शत्रु सामने आए—अशिक्षा, खुद की कमजोरी, संगठन की कमी, बच्चे अधिक पैदा होना, दब्बूपन, हीनता, एकता की कमी, दिमाग और ताकत की कमी, आलसीपन, मृत्युभोज, फिजूलखर्ची, नशाखोरी, अच्छे भोजन की कमी (पौष्टिक आहार), एक दूसरे के यहां चोरी, गोठन और अंध-विश्वास।

यहां यह उल्लेखनीय है कि अभ्यास की रचना करते समय मेरा अनुमान था कि इन

उत्पीड़ित एवं शोषित इंसानों के बाहरी एवं भीतरी शत्रुओं की संख्या पंद्रह-बीस से अधिक नहीं होगी। परंतु, जिस प्रकार के परिणाम सामने आए उसने हम सभी को आश्चर्य में डाल दिया।

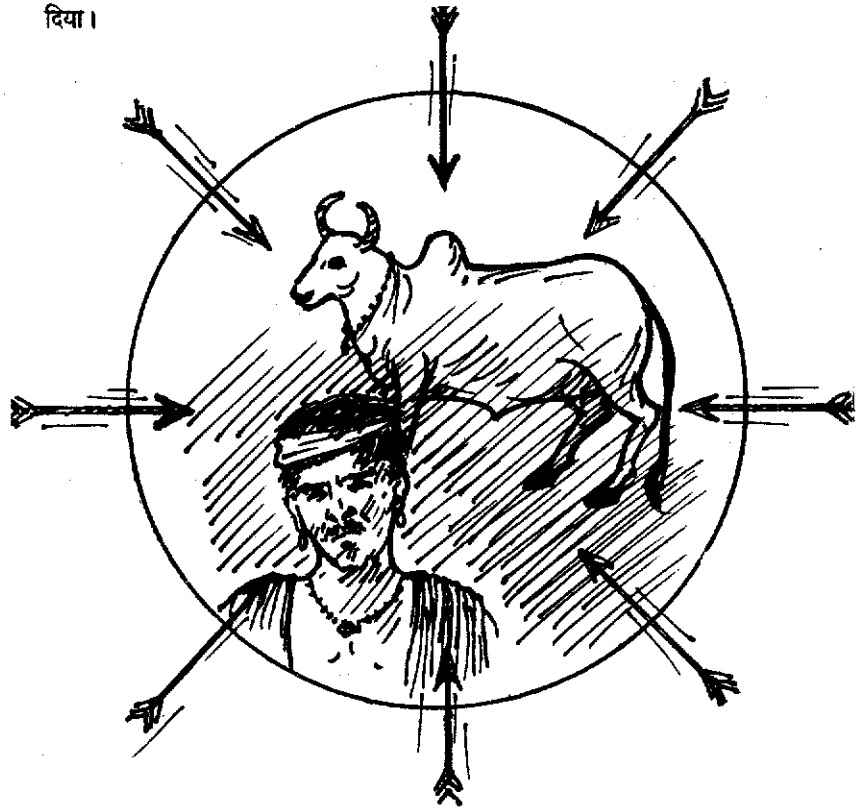

चित्र नं. 4

अभ्यास अपनी चरम सीमा की ओर बढ़ रहा था। अब अंतिम चित्र टांगा गया, जिसमें घेरे के अंदर मनुष्य और पशु को एक साथ दिखाया गया था। प्रश्नों का सिलसिला शुरू हुआ।

प्रश्न : "इस चित्र से आप क्या समझते हैं ?"

कुछ पल चुप्पी के पश्चात तपाक से जवाब आया : "ढोर और मिनख हैं।"

"जरा और खुलकर बताइए कि जानवर और इनसान एक कैसे हैं।"

फिर प्रत्येक कोने से आवाजें आने लगीं "(1) जानवर—इनसान में कोई अंतर नहीं है, (2) दोनों का ही शिकार किया जा रहा है, (3) हम गरीब लोग भी जानवर की जिंदगी

जी रहे हैं" और सभी ने समवेत स्वर में कहा : "गरीब जानवर बन गए हैं।"

अभ्यास के बाद परिणामों पर चर्चा की गई। प्रत्येक उत्तर को बारीकी से समझा गया गया और उसे क्षेत्र की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थितियों के साथ जोड़ा गया। इस अभ्यास का प्रभाव यह हुआ कि जब अगले दिन कक्षा लगी तो हर प्रकार की समस्या पर सब ने खुलकर मन के भाव व्यक्त किए। यहां तक कि व्यक्तिगत समस्याएं भी सामने आने लगीं। जब तक शिविर चला, तब तक किसी न किसी संदर्भ में अभ्यास का जिक्र आ ही जाता, शिकारियों पर चर्चा खुलकर होती। यहां तक कि रात्रि को भी लोग अभ्यास पर चर्चा करते। प्रथम अभ्यास इस प्रकार समाप्त हुआ।

दिल्ली लौटने के बाद मैं एक जर्मन मित्र ऐन के साथ शिकार-अभ्यास के विभिन्न परिणामों पर चर्चा कर रहा था। चर्चा के दौरान दोनों को लगा कि अभ्यास अधूरा है। अंतिम कड़ी कहीं खोई हुई है। कुछ चर्चा के बाद ऐन का सुझाव था कि शिकारियों से मुक्ति की प्रक्रिया भी आरंभ होनी चाहिए। फिर तुरंत एक और वृत्त बनाया गया जिसमें आदमी को खड़ा किया गया। परंतु, इस पांचवे चित्र में परिवर्तन यह था कि तीरों की दिशा उलट दी गयी थी। इस नए वृत्त में शिकारियों से घिरा गरीब अब स्वयं तीर चला रहा है। तीर वृत्त को तोड़ते हुए बाहर जा रहे हैं। अभ्यास की यह स्थिति मुझे अधिक प्रभावी और संतोषजनक लगी और इस चित्र को अभ्यास के अंतिम सोपान के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

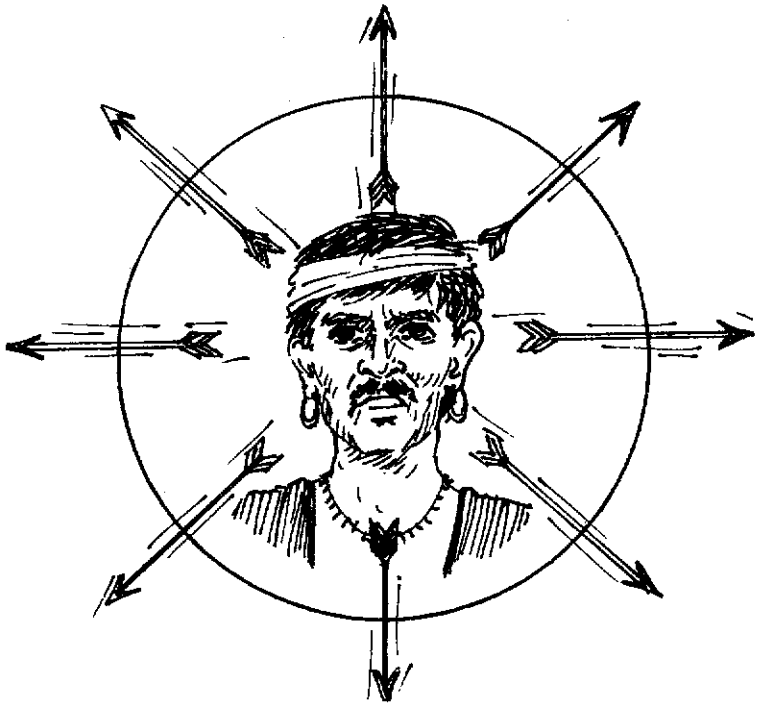

चित्र न. 5

दूसरी बार शिकार–अभ्यास बिहार में भोजपुर जिले के इटाड़ी विकास प्रखंड में रखा गया। यहां शिकार-अभ्यास के प्रदर्शन में एक बड़ा परिवर्तन किया गया। पांचों चित्रों में तीरों का स्थान लाठियों ने ले लिया, क्योंकि इटाड़ी क्षेत्र में सवर्ण लाठियों का अधिक प्रयोग करते हैं, कंधे से सात-आठ फुट ऊंची लाठी लगाकर चलना गर्व की बात मानते हैं। मार-पीट में लाठियों का खुलकर प्रयोग किया जाता है। अतः तीरों के स्थान पर लाठियों को चित्रित करना अधिक उपयोगी लगा।

इटाड़ी में अभ्यास के दौरान शिविरार्थियों ने कोटड़ा-शिविर की तुलना में आंतरिक और बाहरी शत्रुओं की पहचान अधिक संख्या में की। शिविर में हरिजनों की संख्या 99 प्रतिशत होने के कारण गांवों में फैली अस्पृश्यता को सबसे बड़ा दुश्मन बताया गया। बाहरी दुश्मनों की पहचान में ससंद सदस्य, विधायक, जमींदार, लठैत, भूमिहार, मालिक, पुलिस और जिलाधीश को मुख्य दुश्मन गिनाया गया।

यहां अभ्यास की गति तेज रही। कोटड़ा की तुलना में इटाड़ी शिविरार्थियों ने शत्रुओं की पहचान में तीव्रता दिखाई। सभी ने अभ्यासप्रक्रिया में कम अधिक भाग लिया। अभ्यास के अंतिम चरण में शिविरार्थी अधिक उत्साही दिखाई दिए। अंतिम चित्र पर उनकी प्रक्रिया अधिक तीव्र और गहरी रही। सभी ने समवेत आवाज में कहा, "हम लाठियां हाथ में लेंगे, शत्रु को मारेंगे।"

इसके बाद यह अभ्यास राजस्थान के चितौड़गढ़ जिले में प्रतापपुर तहसील में लगे शिविर में दोहराया गया। भील आदिवासी-बहुल तहसील होने के कारण यहां लाठियों के स्थान पर तीर चित्र में दिखाए गए। कोटड़ा और प्रतापपुर के अभ्यास-परिणामों में कोई विशेष अंतर नहीं आया। वैसे, बाहरी शत्रुओं में पशु-चिकित्सक, मलेरिया बर्कर, मंत्री आदि नए शत्रु गिनाए गए। आपसी झगड़े, लालच, क्रोध, हथियार, बुरे विचार, अफीम, अनाज के लिए स्त्रियों के आभूषण बेचना, कर्ज, मलेरिया, टी.बी., गुप्त रोग, खुजली और अनेक पत्नियों को भी शामिल किया गया। कुछ माह पश्चात् उदयपुर की झाड़ोल तहसील में लगाए गए शिविर में भी अभ्यास के दौरान लगभग इसी प्रकार के नतीजे सामने आए। एक अंतर अवश्य किया गया, चित्र संख्या 2 में तीरों को मनुष्य के पेट एवं पैरों पर केंद्रित किया गया है। जबकि तीसरे चित्र में तीर केवल मस्तिष्क के चारों ओर रोप दिए गए।

"आओ, नया गांव बसाएं"

परंतु, प्रतापपुर शिविर की एक सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही कि शिकार-अभ्यास की अगली कड़ी अनायास जन्म लेती रही। इस नई खोज ने अभ्यास को एक नया रूप दे दिया। इस खोज का नाम रखा गया : "आओ, नया गांव बसाएं।"

खोज की कहानी इस प्रकार है। प्रथम दिन अभ्यास अधूरा रहा। हमने तय किया कि इसका शेष भाग अगली सुबह खेला जाएगा। दूसरे दिन जब अभ्यास शुरू हुआ तो कुछ

शत्रुओं की पहचान के साथ शिविरार्थी यह भी कहते जा रहे थे : "अब आगे क्या होगा?" बहस के दौरान ये भी सवाल किए गए कि "शत्रु को मारने से क्या लाभ होगा ? शत्रुओं को मारने के बाद क्या होना चाहिए ? हम लोगों को इसके बाद क्या करना होगा?" इत्यादि। उस समय मुझे कोई विशेष बात नहीं सूझ रही थी। सोचने की प्रक्रिया जारी रही। इसी उधेड़बुन में भोजन का समय हो गया।

चित्र नं. 6

अभ्यास पर बहस वहीं रुक गई। मुझे डेढ़ घंटे का समय मिल गया। हमारा अगला अभ्यास 'शस्त्रविहीन' करने का था। यह अभ्यास किसी विदेशी का था। इस अभ्यास में एक जमींदार धन दे कर गरीबों में फूट डालता है और उन्हें परस्पर लड़वाता है। अंत में गरीब जमींदार की सभी चालों को समझ जाते हैं। इस खेल की तैयारी करते हुए विचार आया कि क्यों न इस जमींदार, खेतिहर श्रमिकों एवं अन्य निर्धन ग्रामीणों को लेकर एक नए अभ्यास की रचना की जाए। विचार-पटल पर एक चित्र उभर आया। एक बड़ा-सा कागज लिया, जिस

पर एक डरावने जमींदार का चेहरा बनाया और उसकी मुट्ठी से एक विशाल पिंजरा लटका दिया। पिंजरे में अनेक छोटी-छोटी मानव आकृतियां बना दीं। जमींदार को एक विशाल लहलहाते खेत के मध्य में खड़ा कर दिया। कहानी तैयार थी।

भोजन के बाद कक्षा शुरू हुई तो शिकार-अभ्यास पर बहस होने लगी। इसी बहस के साथ "आओ, नया गांव बसाएं" की तैयारी शुरू हो गई। बहस के बाद नया अभ्यास शुरू हुआ। जमींदार के चित्र पर अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त करने के लिए शिविरार्थियों से कहा गया।

प्रश्न था : "इस चित्र से आप क्या समझते हैं ?"

शिकार-अभ्यास की तुलना में इस पर उत्तर तपाक से आया।

"एक राक्षस खेत में खड़ा है।" अन्य प्रतिक्रियाएं थीं : "भूत है और उसने कई कीड़े-मकोड़े पिंजरे में कैद कर रखे हैं", "महाजन है और उसने सब कुछ डकार लिया है", "जमींदार है, उसने हम सभी को गुलाम बना रखा है", इत्यादि। अधिकांश उत्तरों का निहित अर्थ रहा : "एक बड़े जमींदार या महाजन का चित्र है और उसकी मुट्ठी से लटके पिंजरे में आदिवासी और हरिजन कैद हैं।"

अब अगला सवाल रखा गया : "मान लो किसी एक गांव के जमींदार के पास पांच सौ एकड़ जमीन है, दूसरी तरफ सैकड़ों लोग गरीब एवं भूमिहीन हैं। ऐसी हालत में क्या करोगे ?" चूंकि शिकार-अभ्यास का प्रदर्शन हो चुका था, इसलिए प्रशिक्षार्थियों को नई स्थिति का सामना करने में कोई परेशानी नहीं हुई। पहला उत्तर आया : (1) आदिवासी एवं हरिजनों का संगठन बनाकर जमीन छीनेंगे। इसके बाद चित्र पर अन्य प्रतिक्रियाएं सामने आईं : (2) गरीबों की एकता मजबूत करके, (3) सुख-दुख में मिल जुलकर, (4) आपसी फूट दूर करके, (5) शिक्षित होकर, (6) सोच-विचार कर, (7) भ्रष्टाचार को दूर कर, (8) कानून से लड़कर, (9) रिश्वतखोरी दूर करके, (10) आलस्य दूर करके, (11) अपनी कमी दूर करके, (12) परिश्रम करके, (13) आपसी विश्वास पैदा करके, (14) जमींदार को प्रेम से जीतकर, (15) एकता के लिए चंदा करके, (16) मिलकर मुकाबला, (17) शक्ति का प्रयोग (बंदूक, तलवार, लाठी, तीर से), (18) सरकार की सहायता से, (19) पार्टी के बहुमत के आधार पर, (20) दारू नशा छोड़कर, (21) बीड़ी-गांजा छोड़कर, (22) ज्ञान फैलाकर और (23) वैज्ञानिक नेतृत्व बनाकर। उल्लेखनीय है कि उत्तरों के क्रम और भाषा में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है।

झाड़ोल में जब इस अभ्यास को दोहराया गया, तब एक नई प्रतिक्रिया इसमें जुड़ी। एक आदिवासी का उत्तर था : "हिंसा करके जमीन छीनेंगे।" और उसे अधिकांश लोगों का समर्थन भी मिला। दोनों ही शिविरों में व्यापक चर्चा से जो मुख्य स्वर उभरा वह था, "संगठन बनाकर जमींदार की जमीन बलपूर्वक छीन लेना चाहिए। यदि वह स्वयं अपनी मर्जी से दे तब लड़ने की आवश्यकता नहीं।"

अभ्यास का सिलसिला आगे बढ़ा। अभ्यास का अगला चरण चित्रों के स्थान पर

पारस्परिक संवाद से आरंभ हुआ। इस चरण में मुख्य मुद्दा था : "जमीन लेने के बाद उसका उपयोग और प्रबंध किस प्रकार से करोगे ?" और इसके साथ ही गंभीर चर्चा छिड़ गई। शिविर पूरी तरह से आंदोलित हो चुका था। वास्तव में बहस गंभीर रूप लेती जा रही थी। चर्चा में निम्न उपाय सामने आए :

1. भूमि को गरीब भाइयों में बराबर बांट देंगे;
2. जमीन का मिल जुलकर उपयोग करेंगे;
3. बच्चों को शिक्षित करेंगे;
4. अच्छे खाद का प्रयोग करेंगे;
5. सिंचाई की व्यवस्था करेंगे;
6. उन्नत बीजों का प्रयोग;
7. खेती के अच्छे तरीकों का प्रयोग।

इस मुद्दे पर काफी वाद-विवाद हुआ कि सभी भूमिहीनों एवं गरीबों को बराबर जमीन बांट देने से क्या समस्या सुलझ जाएगी ? क्या बराबर जमीन बांट देने संभव है ? क्या गरीब बांटी हुई जमीन पर अपना कब्जा भविष्य में बनाए रखेंगे ? यह भी पूछा गया कि जिनको सरकार ने अब तक जमीन दी है, क्या वह अब भी उनके पास है ? अनेकों का उत्तर था कि या तो ऐसी जमीनें महाजन के पास गिरवी हैं या इलाके के ताकतवर तत्वों का उन पर कब्जा हो गया है। ऐसी स्थिति में सभी भूमिहीनों को अलग-अलग बराबर जमीन दे देना कहां तक ठीक रहेगा ? इसके आगे का क्या रास्ता हो, हमें भी सूझ नहीं रहा था। क्योंकि इसके आगे अभ्यास का कौन सा चरण होना चाहिए, यह हम लोगों में से किसी ने नहीं सोचा था। वास्तविकता यह थी कि पूर्व-निर्धारित कुछ भी नहीं था। अभ्यास स्वयं विकसित हो रहा था। सही अर्थों में, सीखने वाले (शिविरार्थी) सिखाने वालों (शिविर आयोजकों) को सिखाते जा रहे थे। यहीं से संवाद की वास्तविक प्रक्रिया आरंभ होती है।

अंत में बहुमत, या लगभग सभी, इस पक्ष में थे कि जमीन को बराबर बांटने से समस्या का हल नहीं होगा, बल्कि अनेक दिक्कतें बढ़ जाएंगी। अतः जमींदार से प्राप्त भूमि का सामूहिक प्रबंध होना चाहिए और उस पर सभी का समान अधिकार रहना चाहिए। सभी एक संगठन के अधीन रहकर काम करेंगे। फिर हम में से किसी ने एक नया सवाल रखा।

"परंतु भूमि का प्रबंध ही सब कुछ नहीं है। जीने के लिए पकड़ा, मकान, शिक्षा सभी कुछ चाहिए। ये जरूरतें किस प्रकार पूरी होंगी ?"

"सबसे पहले, हम हर परिवार की जरूरत के अनुसार पैदावार का बंटवारा करेंगे।" तपाक से उत्तर आया।

एक दूसरा बोला : "जैसा जिसको काम आता है, उसे उसी काम में लगाया जाएगा और जिसे जितना काम चाहिए उतना ही संगठन देगा।" एक अन्य कोने से आवाज आई: "यदि ज्यादा अनाज (अतिरिक्त) बचता है, तो जरूरतवालों में बांट देंगे।"

"तब संगठन क्या-क्या करेगा ?" मैंने पूछा।

संगठन के अनेक काम गिनाए गए। संगठन के अधीन कई उपसमितियां गठित करने के सुझाव सामने आए। उपसमितियों का गठन क़ाम के आधार पर किया जाएगा। शिविरार्थियों के सुझावों को निम्न आकार में दर्शाया जा सकता है :

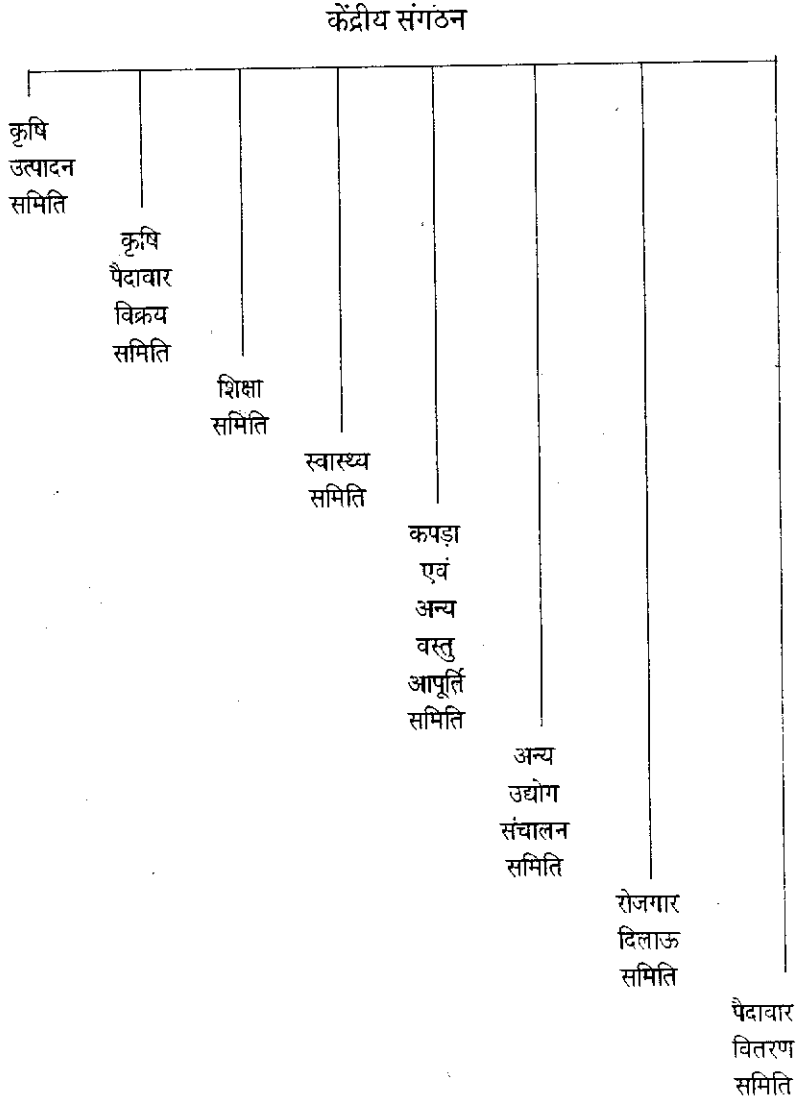

इन समितियों के कार्यों पर विस्तार से चर्चा हुई। समितियों का गठन सभी की सहमति से किया जाएगा। समिति की सदस्यता स्वेच्छा पर आधारित होगी। काम जानने के आधार पर एक व्यक्ति एक से अधिक समितियों का सदस्य बन सकता है। समितियों का चुनाव प्रतिवर्ष होगा और सभी केंद्रीय संगठन के नेतृत्व में काम करेंगी। समस्या या टकराव पैदा होने पर सभी मिल जुलकर विचार करेंगे।

हम इस अभ्यास को और आगे बढ़ाना चाहते थे। परंतु समयाभाव तथा शिविरार्थियों की मानसिक थकावट के कारण इसे अधूरा ही छोड़ना पड़ा। वैसे, मस्तिष्क में अब तक अभ्यास का ताना-बाना काफी बुना जा चुका था। मैं अभ्यास के अगले चरण में यह जानना चाहता था कि इस प्रकार की व्यवस्था स्थापित होने के बावजूद किस-किस प्रकार की समस्याएं पैदा हो सकती हैं और संगठन को किन-किन बातों से खतरा पैदा हो सकता है। मैं संक्षेप में यह मालूम करना चाहता था कि वर्गहीन समाज स्थापित होने के बाद भी किस प्रकार के अंतर्विरोध उत्पन्न हो सकते हैं। परंतु प्रतापगढ़ शिविर में अभ्यास इस चरण तक नहीं पहुंच सका और पांच-छः मास बाद झाड़ोल में लगे शिविर में ही इन प्रश्नों का उत्तर मिल सका।

झाड़ोल-शिविर में अभ्यास में कुछ मामूली परिवर्तन किया गया। जमींदार के चित्र के बाद एक और चित्र प्रदर्शित किया गया। इस चित्र में एक घेरा नीचे दिखाया गया और दूसरा ऊपर। निचले घेरे को विभक्त यानी वर्ग-विषमता-युक्त दिखाया गया, जब कि ऊपर वाले घेरे को समतायुक्त दिखाया गया।

हमने प्रश्न किया कि "ऊपर वाले घेरे तक किस प्रकार पहुंचा जा सकता है।" चर्चा के बाद उत्तर आया "सीढ़ी" के माध्यम से । सीढ़ी का अर्थ था संगठन। फिर प्रतापगढ़ शिविर की प्रक्रिया दोहराई गई।

यहां कुछ नई प्रतिक्रियाएं सामने आईं : (1) हमारा राज बनेगा तब सभी बीमारी दूर होगी, (2) संगठन में सहयोग, (3) हिम्मत और निडरता तथा सीढ़ी के पायदान (संगठन की विभिन्न उपसमितियां) क्या-क्या होंगे इस पर चर्चा हुई। इस स्थिति को निम्न चित्र (अगला पृष्ठ देखें) के माध्यम से दर्शाया जा सकता है।

अब पिछले शिविर के अनुत्तरित सवालों को सामने रखा गया। चर्चा चली कि समतायुक्त गांव बसने के बाद भी कौन-कौन से कारण ऐसे हो सकते हैं जो कि गांव की समतावादी व्यवस्था को फिर खतरा पैदा कर सकते हैं और विषमताग्रस्त व्यवस्था फिर से लौट सकती है ?

चर्चा के दौरान जो कारण सामने आये उन्हें निम्न मूल क्रम में प्रस्तुत किया जा सकता है : (1) लालच, (2) धन संग्रह, (3) रिश्वत, (4) संगठन के नेताओं का भ्रष्टाचार, (5) घृणा करना, (6) सही नीतियों व कार्यक्रम पर नहीं चलना, (7) समय पर कार्य नहीं करना, (8) नेतृत्व में जिम्मेदारी और ईमानदारी की कमी, (9) अविश्वास, (10) चोरी करना, (11) व्यक्तिगत संचय, (12) चुगलखोरी और (13) भेदभाव। इन उत्तरों पर व्यापक चर्चा की गई।

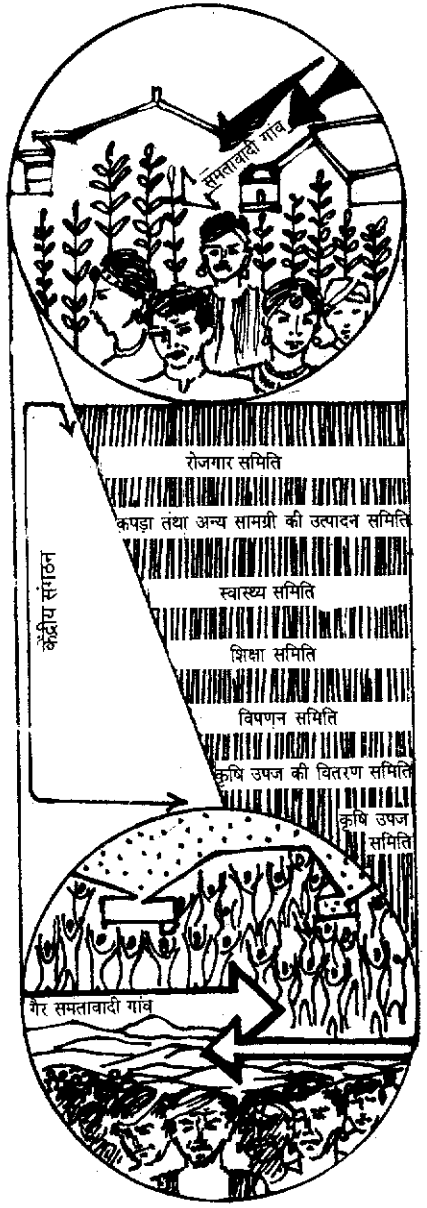

चित्र नं. 7

प्रत्येक उत्तर के पीछे उत्तरदाता द्वारा दिए गए कारणों पर भी चर्चा हुई। आगे जाकर इन पर विस्तार से चर्चा की जाएगी।

अभ्यास का अंतिम चरण था—इन खतरों का हल। फिर बहस चली, सवाल किया गया, "इन खतरों को किस प्रकार दूर किया जा सकता है ?" कुछ प्रतिक्रियाएं सामने आईं:

1. अलग-अलग जगह पर अलग नेता।
2. ज्यादा नेता होंगे तो एक नेता बेईमान नहीं होगा।
3. काम करने वाले नेताओं पर कड़ी निगरानी।
4. नेता को भी आम लोगों की तरह उत्पादन के काम में लगाया जाएगा।
5. हर व्यक्ति समय-समय पर नेता बनेगा।

यहां यह स्वीकार किया जाता है कि अभ्यास के अंतिम चरण में जितनी भागीदारी मिलनी चाहिए थी, उतनी नहीं मिल पाई। इसके दो कारण थे : (1) अभ्यास दो दिन तक चलने के कारण शिविरार्थी कुछ ऊब चुके थे, क्योंकि उनकी लगातार मानसिक कसरत हो रही थी, और (2) हम आयोजक भी पूरी तरह स्पष्ट नहीं थे। अंतिम चरण झटपट में समाप्त किया गया। इस प्रकार शिकार अभ्यास ('आओ, शिकार करें' और 'आओ, नया गांव बसाएं') अस्तित्व में आया और प्रदर्शन के परिणामों ने अनेक भ्रमों (मिथकों) को ध्वस्त कर दिया।

भाग दो : विश्लेषण

अभ्यास की प्रक्रिया के प्रारंभिक वर्णन में हम यह देख चुके हैं कि उत्पीड़ित वर्ग एवं जाति[2] में अपने परिवेश को समझने की क्षमता है। परिवेश में बुनियादी परिवर्तन किस प्रकार लाया जा सकता है, इसका मार्ग और माध्यम निर्धारित करने का विवेक भी उसमें है।

आदिवासियों और हरिजनों ने जिस प्रकार से शत्रुओं की पहचान की उससे अंतरविरोधों की 'परिवर्तनशील विशिष्टिताओं' का भी पता चलता है। इन विभिन्नताओं का परिवेश की विकास-अवस्था के साथ गहरा संबंध है, जिसमें उत्पीड़ित वर्ग रह रहे हैं। उत्पीड़ितों ने अपने दैनिक जीवन पर विकास-अवस्था के पड़ रहे प्रभावों के अनुसार इन विशिष्टताओं को स्वाभाविक ढंग से व्यक्त किया है। जिस अंतरविरोध के साथ उनका सीधा टकराव है, उनको उन्होंने अधिक महत्व दिया है और समाधान की इच्छा व्यक्त की है।

अब हम देखेंगे कि अंतर्विरोधों और उनकी विशिष्टताओं का परिवेश की विकास-अवस्था से किस प्रकार संबंध है ?

अंतरविरोध एवं विशिष्टताएं : अंतरविरोधों की विशिष्टताओं के विश्लेषण के पूर्व यह जान लेना जरूरी है कि शिविर का परिवेश (भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक) क्या था। शिविर चार स्थानों पर आयोजित किए गए थे : (1) कोटड़ा, (2) इटाड़ी,

(3) प्रतापपुर और (4) झाड़ोल। इटाड़ी को छोड़कर शेष तीनों भील, आदिवासी बहुल क्षेत्र हैं, जबकि इटाड़ी हरिजन, पिछड़ी जाति तथा सवर्ण प्रधान क्षेत्र है। अतः सुविधा की दृष्टि से इन क्षेत्रों को दो भागों (क) आदिवासी प्रधान और (ख) गैर-आदिवासी प्रधान में विभाजित किया है।

(क) आदिवासी प्रधान परिवेश की संरचनात्मक विशेषताएं

(1) भौगोलिक : पहाड़ी क्षेत्र, वनों की सघनता, अधिकांश पथरीली भूमि, कृषि-भूमि की प्रचुरता, सिंचाई के साधनों का आंशिक अभाव, भीतरी क्षेत्रों में यातायात के साधनों का अभाव, वर्षा में अधिकांश हिस्सा अगम्य, राजस्थान, मध्यप्रदेश और गुजरात के सीमावर्ती क्षेत्रों में भीलों का फैलाव और बिखरी हुई बसाहट।

(2) सामाजिक एवं सांस्कृतिक : पितृ-प्रधान, मूल रूप से वर्गहीन, पारंपरिक संस्थाओं का प्रभाव, सीमित सामाजिक गतिशीलता, आधारभूत मूल्य अप्रभावित, व्यापक असाक्षरता, भीलों की दैविक शक्तियों एवं तंत्र में आस्था, स्वभाव से सहज विश्वासी, मिलनसार, स्वच्छंदता एवं स्वतंत्रताप्रिय, संतोषी, परिवर्तनशील, आक्रामक, ऐतिहासिक दृष्टि से लड़ाकू, राजपूत संपर्क का प्रभाव, सवर्ण हिंदू देवताओं के उपासक, दापा (पत्नी-मूल्य) प्रथा का प्रचलन, भील तथा सवर्ण हिंदुओं के बीच ऊंच-नीच।

(3) आर्थिक : मूलतः कृषि, अर्थ-व्यवस्था अविकसित, सिंचाई का अभाव, उन्नत बीज एवं रासायनिक खाद का न्यूनतम प्रचलन, अधिकांश भू-युक्त सीमांत कृषक, भूमिहीनता की शुरुआत, तेजी से बढ़ती भू-विहीनता, सागड़ी या बंधक श्रमिक प्रथा, वन उत्पादों से आय, वस्तु विनिमय प्रथा, गरीबी, ऋणग्रस्तता, साहूकारों पर आजीविका के लिए आश्रित, गैर-कृषि उद्योगों का नितांत अभाव, गैर-परंपरागत रोजगार के सीमित अवसर, जीवन-निर्वाह कर तलाश में शहरी क्षेत्रों में गमन।

(4) राजनीतिक नेतृत्व : गैर-प्रतिस्पर्द्धात्मक, परंपरागत नेतृत्व (गमेटी, पटेल, मुरबी, भोपा) की निर्णायक भूमिका, पंचायती राज और आधुनिक निर्वाचन के प्रति जागरूकता, पंच, विधायक और सांसदों का बढ़ता प्रभाव (विशिष्टवर्गीय एव विषमतायुक्त), आधुनिक राजनीतिक और वर्ग-चेतना का अभाव, विभेदात्मक व प्रतिरोधात्मक दृष्टि एवं समांतर शक्ति का अभाव।

(5) शासनतंत्र का गैर-आदिवासियों के नियंत्रण में होना।

(ख) गैर-आदिवासी परिवेश की संरचनात्मक विशेषताएं

(1) भौगोलिक : समतल मैदान, उपजाऊ भूमि, सिंचाई की पर्याप्त व्यवस्था, आधुनिक यातायात के साधनों से जुड़ाव, संगठित बसाहट।

(2) सामाजिक एवं सांस्कृतिक : विघटित एवं विषमतायुक्त, वर्ण एवं वर्गवादी, पितृ-प्रधान, सवर्ण-मूल्यवादी पारंपरिक संस्थाओं का प्रभाव, सवर्ण हिंसा और आतंक का राज, व्यापक अस्पृश्यता, हरिजन-स्त्री उपभोग की वस्तु।

(3) आर्थिक : अधिकांश भूमि पर सवर्णों का अधिकार, सवर्णों के पास हदबंदी से अधिक भूमि, 80 प्रतिशत से अधिक भूमिहीन, शेष सामंत कृषक तथा खेतिहर श्रमिक, मुख्य उत्पादक शक्ति हरिजन, उन्नत कृषि का प्रयोग, कृषि का मशीनीकरण, गैर-कृषि उद्योगों पर सवर्णों का स्वामित्व, नकदी मुद्रा का प्रचलन हरिजनों में व्यापक ऋणग्रस्तता, जीवन-निर्वाह के लिए शहरी क्षेत्रों में प्रवास।

(4) राजनीतिक नेतृत्व : प्रतिस्पर्धात्मक, आधुनिक निर्वाचन संस्थाओं (ग्राम-पंचायत, पंचायत समिति, जिला परिषद् आदि) पर सवर्णों और भू-स्वामियों का अधिकार, हरिजन आधुनिक राजनीतिक तथा वर्ग-चेतना के प्रति जागरूक, विभेदात्मक और प्रतिरोधात्मक दृष्टि से युक्त तथा आंशिक समांतर शक्ति।

(5) शासन तंत्र : नियंत्रक और विकास संस्थाओं पर सवर्ण एवं उत्पीड़कों का अधिपत्य:
इस प्रकार 'क' और 'ख' के परिवेशों में सांस्थानिक विभिन्नताएं और समानताएं दोनों ही हैं। संक्षेप में 'क' परिवेश के उत्पादन-संबंध अर्द्ध-विघटन एवं विषमता की अवस्था में हैं, जब कि 'ख' परिवेश के उत्पादन-संबंध लगभग विकसित चरण में हैं, जिनका आधार वर्गवादी विषमता है। 'क' और 'ख' के परिवेशों के बीच बुनियादी गुणात्मक अंतर है। इसी गुणात्मक अंतर के परिप्रेक्ष्य में अंतरविरोधों की विशिष्टता और सर्व-व्यापकता को समझा जा सकता है।

समानताएं

'क' और 'ख' दोनों परिवेशों में उत्पीड़ित वर्ग तथा राजसत्ता और उसके सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक आधारों के बीच समान अंतरविरोध सामने आए हैं। राजसत्ता के प्रतिनिधि पुलिस, तहसीलदार, पटवारी, अन्य बड़े-बड़े अधिकारी, मजिस्ट्रेट, आदि दोनों परिवेशों में मुख्य शत्रु माने गए हैं। विशेषकर पुलिस, पटवारी और न्यायपालक (तहसीलदार से लकर मजिस्ट्रेट

एवं जिलाधीश तक) के साथ अंतरविरोधों का स्तर समान रहा है। दोनों परिवेशों के उत्पीड़ित वर्ग इन तीनों को उत्पीड़न, अन्याय तथा शोषण को कानूनी संरक्षण देने का मुख्य माध्यम मानते हैं।

आदिवासी और हरिजनों में यह आम शिकायत है कि उन्हें भूमिहीन बनाने में पटवारी और पुलिस ने अहम् भूमिका निभाई है। यदि पटवारी और पुलिस की जमींदार और व्यापारी से मित्रता नहीं होती, तो वे भूमिहीन और बंधक श्रमिक नहीं बनते। लगभग सभी आदिवासी तथा पिछड़े क्षेत्रों में पटवारी को जिलाधीश से बड़ा माना जाता है। पटवारी की मिलीभगत से बेनामी भूमियां हथियाई जाती हैं। भू-विगलन के मूल में पटवारी निर्णायक भूमिका निभाता है, इसका व्यक्तिगत अनुभव पूर्णिया और बस्तर[3] प्रवास के दौरान हुआ।

लगभग यही स्थिति पुलिस की है। 'क' और 'ख' दोनों परिवेशों में पुलिस और उत्पीड़ित वर्ण तथा वर्ग के बीच शत्रुतापूर्ण संबंध हैं। पिछड़े क्षेत्रों में पुलिस की एकमात्र भूमिका शोषक तत्वों (जमींदार, व्यापारी, ठेकेदार) के हितों का पोषण और उनकी पहरेदारी करना है। एक अदना हवलदार की जरा-सी घुड़की से आदिवासी हरिजनों में सन्नाटा छा जाता है।

बिहार में पलामू, भोजपुर, पूर्णिया, कटिहार, धनबाद, रोहतासनगर आदि जिलों में जमींदारों का संपूर्ण साम्राज्य पुलिस के बल पर टिका हुआ है। आदिवासी क्षेत्रों में, जहां पुलिस[4] आदिवासी एवं हरिजनों के आर्थिक शोषण में व्यापारी, ठेकेदार और भू-स्वामी के साथ सहायक भूमिका निभाती हैं, वहीं स्त्री-उत्पीड़न (बलात्कार और व्यापारीकरण) में भी प्रत्यक्ष या परोक्ष 'माध्यम' के रूप में दिखाई देती है।

'क' और 'ख' दोनों के उत्पीड़ितों में यह आम शिकायत मिली कि अदालतों में हमें न्याय नहीं मिलता। अदालतों के अधिकांश फैसले जमींदार, व्यापारी और ठेकेदारों के पक्ष में जाते हैं। कोटड़ा, झाड़ोल और इटाड़ी के आदिवासी तथा हरिजनों ने खुल कर यह आरोप लगाया कि "मुंसिफ साहब" हमेशा बिके रहते हैं। हमारी कोई सुनवाई नहीं की जाती। इटाड़ी में यहां तक कहा गया है कि हरिजनों को झूठे मुकदमों में फांस लिया जाता है। मुंसिफ खुलेआम सवर्णों का पक्ष लेकर हमें जेल भेज देता है। कोटड़ा और झाड़ोल के आदिवासियों की मुख्य शिकायत यह थी कि न्याय एक लंबी प्रक्रिया है फलस्वरूप उसे वही प्राप्त कर सकता है, जिसके पास धन की शक्ति है।

इसका परिणाम यह निकला है कि कोटड़ा, झाड़ोल और प्रतापपुर के भील आदिवासियों की भारी मात्रा में जमीनें मुसलमान तथा अन्य सवर्ण हिंदू व्यापारियों, ठेकेदारों एवं अन्य वर्गों के पास पहुंच गई हैं। बस्तर की दंतेवाड़ा तहसील में बसे उत्तर प्रदेश के एक राजपूत परिवार ने एक हल्वा आदिवासी को संपूर्ण भूमि कानूनी दांवपेंच के माध्यम से हथिया ली। आदिवासी ने भी साथ नहीं दिया, तो पूर्ण भूमिहीनता की अवस्था में परिवार के मुखिया ने आत्महत्या कर ली। इस काम में पुलिस, पटवारी और नायब तहसीलदार ने मुख्य भूमिका निभाई। उक्त क्षेत्र में राजपूत (गैर-आदिवासी) और सरकारी तंत्र मुख्य अंतरविरोध के रूप में सामने आए। संक्षेप में 'क' और 'ख' परिवेशों में मुख्य समान अंतरविरोध पुलिस, पटवारी,

जमींदार और मुंसिफ के रूप में मिले। जहां तक प्रश्न राजनीतिक आधारों का है, दोनों परिवेशों के उत्पीड़ित वर्गों ने सभी स्तर के निर्वाचित प्रतिनिधियों (सरपंच से लेकर सांसद तक) को उत्पीड़ितों का पक्षधर बताया। दोनों परिवेशों के लोगों ने इस पर क्रोध जाहिर किया कि जन-प्रतिनिधि हमारे वोटों पर चुने जाते हैं, परंतु अंत में वे जमींदार, व्यापारी और सरकारी अधिकारियों के हितों के संरक्षक बन जाते हैं, यहां तक कि ग्रामपंचायत जैसी प्रारंभिक प्रशासनिक इकाई में भी व्यापारी पंच एवं सरपंच के पदों[5] को हथिया लेते हैं।

यहां यह आवश्यक है कि सांसद और विधायक के संबंध में अंतरविरोध जितने स्पष्ट और गहरे 'ख' परिवेश में देखे गए, उसकी तुलना में 'क' परिवेश में अस्पष्ट और सतही थे।

चूंकि 'क' परिवेश के मूलाधार समाज में उत्पादक शक्तियों और उत्पादन संबंधों में उस हद तक विषमता नहीं आई है और न ही अंतरविरोध परिपक्व शत्रुतापूर्ण[6] अवस्था में पहुंचे हैं, जैसा कि 'ख' परिवेश में देखा जाता है, परिणामस्वरूप 'क' परिवेश के लोग अपने जन-प्रतिनिधियों को "शत्रु" के रूप में न देखकर विपथगामी के रूप में देखते हैं, क्योंकि आदिवासी समाज की बुनियादी शक्ति जाति पंचायत का कसाव आज भी आदिवासियों पर है। कोई भी आदिवासी जन-प्रतिनिधि जाति पंचायत की उपेक्षा नहीं कर सकता। परंतु इसका अर्थ यह कतई नहीं है कि जन-प्रतिनिधियों और शेष आदिवासियों के बीच दूरी नहीं बढ़ रही है। वास्तविकता यह है कि अलगाववादी प्रवृत्तियां परिवेश पर तेजी से हावी होती जा रही हैं। विषमताहीन रिश्ते बदल रहे हैं, क्योंकि आदिवासी जन-प्रतिनिधि विषमतावादी परिवेश के संपर्क में आने के बाद अपने मूल समाज से "छिटकना" शुरू कर देता है। यहीं से अंतर्विरोध अस्तित्व में आने लगते हैं। उत्पादक शक्तियां और उत्पादन के साधन के बीच पराएपन के रिश्ते बनने लगते हैं। इस प्रक्रिया की शुरुआत 'क' परिवेश में हो चुकी है।

इसके विपरीत 'ख' परिवेश में जन-प्रतिनिधियों और उत्पीड़ित वर्ग के बीच रिश्तों की बुनियाद ही शत्रुतापूर्ण अंतरविरोध है। 'ख' परिवेशों की संपूर्ण रचना ही वर्ग-विषमता पर आधारित है। अतः वहां जन-प्रतिनिधि उत्पीड़क वर्ग के प्रतीक के रूप में देखे जाते हैं। दोनों के बीच संवाद के माध्यम टूट चुके हैं। दूसरे शब्दों में, 'क' परिवेश की संरचनात्मक आधारशिला—सामाजिक भावनात्मकता[7]—का 'ख' परिवेश में संपूर्ण विघटन हो चुका है। अतः वहां अंतर्विरोध और उसके प्रभाव भी उतने ही साफ, पैने और गहरे हो चुके हैं। 'ख' परिवेश के उत्पीड़ित निर्वाचन तंत्र को शोषितों के साथ धोखा या मजाक मानते हैं।

दोनों परिवेशों के बीच उपर्युक्त समानताओं से स्पष्ट है कि उत्पीड़ितों में व्यवस्था के चरित्र को समझने की अंतरनिहित क्षमता है। इसीलिए 'क' और 'ख' दोनों परिवेशों के उत्पीड़ित वर्गों में इस बात का गहरा अहसास मिला कि सरकार उनके साथ नहीं है, क्योंकि सरकार के प्रतिनिधि उनकी रक्षा करने में असमर्थ हैं। पुलिस, पटवारी, मुंसिफ, व्यापारी या राजनेता किस प्रकार की राजसत्ता की रचना करते हैं और उनके बीच अंतर संबद्धता की प्रक्रिया क्या है, इसका स्पष्ट उत्तर इटाड़ी के एक हरिजन के इस कथन में मिलता है, "साब!

पुलिस से अदालत तक गरीब की कहीं कोई सुनवाई नहीं। बाबू लोग (जमींदार) का ही घटना (विधान सभा) में राज है।"

यहीं से उत्पीड़ित वर्ग या मूल उत्पादक-शक्तियों तथा राजसत्ता के बीच "संवादविरोधी" स्थिति पैदा होती है जिसके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रभाव परिवेश के अंतरविरोधों के रूप में दिखाई देते हैं।

असमानता

'क' और 'ख' परिवेशों में सबसे बड़ी मुख्य अंतरनिहित भिन्नता उत्पादक वर्ग की उत्पादन संबंधों, उत्पादन नियंत्रण वर्ग (जमींदार, व्यापारी, ठेकेदार आदि) तथा राजसत्ता के प्रति समझदारी में अंतर है। इसके अतिरिक्त उत्पादन-नियंत्रक वर्ग के उत्पादक वर्ग के प्रति सामाजिक और आर्थिक व्यवहार में भी अंतर है।

उदाहरण के लिए 'क' परिवेश की उत्पादक शक्तियों और उत्पादन-नियंत्रक शक्तियों के बीच अंतरविरोध एक परिपक्व शत्रुतापूर्ण अंतरविरोधों की अवस्था में नहीं पहुंचे हैं। कोटड़ा, झाड़ोल या प्रतापपुर तथा इटाड़ी में जमींदार या व्यापारियों के सामाजिक एवं आर्थिक व्यवहार में काफी अंतर पाया जाता है। 'ख' परिवेश के सामाजिक एवं आर्थिक व्यवहार में जिस मात्रा में विषमता, शोषण, उत्पीड़न एवं आतंक का प्रभाव है, 'क' परिवेश इस दृष्टि में प्रारंभिक अवस्था में है। 'ख' परिवेश के उत्पीड़ितों ने सामाजिक व्यवहार में 'अस्पृश्यता' और आर्थिक व्यवहार में 'हिंसात्मक उत्पीड़न' और शोषण की मुख्य शिकायत की, जबकि 'क' परिवेश में सिर्फ 'आर्थिक शोषण' मुख्य समस्या बताई गई, यद्यपि शोषण की सर्वव्यापकता के समानांतर मौजूद शोषण की विशिष्टता (विषमता) को भी समझना आवश्यक है। 'ख' परिवेश में उत्पादक वर्ग उत्पादन-नियंत्रक वर्ग के लिए केवल 'उपभोग' की वस्तु बन चुका है। उसका जानवर के स्तर तक अवमूल्यन एवं अमानवीयकरण किया जा चुका है।[8]

हिंसात्मक उत्पीड़न की स्थिति यह है कि 'ख' परिवेश का उत्पादन-नियंत्रण वर्ग उत्पादक वर्ग का शोषण सिर्फ छद्म ढंग से नहीं, बल्कि हिंसात्मक ढंग से भी करता है। इटाड़ी में सभी हरिजनों की शिकायत थी कि जमींदार लठैतों की टुकड़ियां रखते हैं। मालिक की इच्छा के विरुद्ध जरा-सी आनाकानी करने पर बंधक श्रमिकों एवं हरिजनों की पिटाई की जाती है। स्पष्ट रूप से 'ख' परिवेश में संपूर्ण उत्पादक वर्ग मृतावस्था में रखा जा रहा है और यह मृतावस्था राजसत्ता की उपज है।

ऐसी स्थिति में 'ख' परिवेश में उत्पादक वर्ग और उत्पादन-नियंत्रण वर्ग, उत्पादक वर्ग और राजसत्ता के बीच किसी भी प्रकार का संवाद संभव नहीं है। 'ख' परिवेश की यही मृतावस्था एवं संवादहीनता अंतरविरोध की विशिष्टता (विभिन्नता) को जन्म देती है।

इसके विपरित 'क' परिवेश में शोषण की सर्वव्यापकता के तत्व अवश्य हैं। परंतु कोटड़ा, झाड़ोल एवं प्रतापपुर में 'ख' परिवेश के 'अंतरविरोधों की विशिष्टता' के तत्व मुखर नहीं

हैं। 'क' परिवेश के शोषण की व्यापकता के दो मुख्य तत्व है : 'संरक्षण और शोषण'। कोटड़ा या अन्य क्षेत्रों में दूकानदार या ठेकेदार समय-समय पर आदिवासियों को कर्ज दे देता है, या अपने यहां छोटा-मोटा कामकाज दे देता है। इस संरक्षण के माध्यम से वह उत्पादन तथा उत्पादन के साधनों[9] को हथियाता रहता है। संरक्षण एवं शोषण की प्रक्रिया समांतर चलती है। फलस्वरूप, शत्रुतापूर्ण अंतरविरोध परिपक्व अवस्था में नहीं पहुंच पाते हैं। इसका परिणाम यह है कि 'क' परिवेश मित्रतापूर्ण अंतर्विरोधों के भ्रम (मिथ) से ढका है, जबकि वास्तविकता यह है कि ये अंतर्विरोध अपने मूल चरित्र में शत्रुतापूर्ण हैं। 'क' परिवेश की यह भ्रामक या छद्मावस्था अंतरविरोध की विशिष्टता (विभिन्नता) को जन्म देती है। यहां यह भी कहा जा सकता है कि यह छद्मावस्था (मिथ) परिवेश में पैदा हो रहे अंतरविरोधों को दबाने का एक अविकसित या परंपरावादी तरीका है, जिसमें मानवीय मूल्यों का पूरी तरह से पतन नहीं होता है, जबकि अंतरविरोधों को दबाने के विकसित एवं आधुनिक तरीकों मे जड़ और चेतन दोनों के साथ समान रूप से व्यवहार किया जाता है। दोनों का ही मूल्यांकन 'उपभोग' की दृष्टि से होता है।

इस प्रकार 'क' और 'ख' में शोषण की सर्वव्यापकता के साथ-साथ विशिष्टता (विभिन्नता) को निम्न ढंग से दर्शाया जा सकता है :

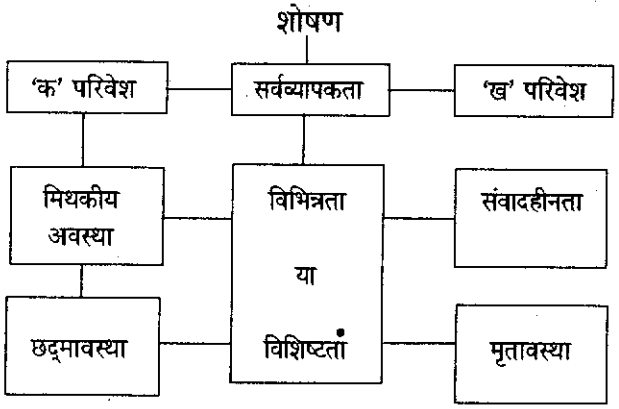

यह चर्चा पहले हो चुकी है कि 'क' परिवेश की बनिस्बत 'ख' परिवेश के उत्पादन के साधन अधिक विकसित तथा उत्पादन संबंध अधिक विघटित अवस्था में हैं। इसका सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में प्रभाव यह है कि 'क' परिवेश में अस्पृश्यता का अभाव है, जबकि 'ख' परिवेश में सामाजिक संबंध एवं उत्पादन-संबंधों के रूप-निर्धारण में यह निर्णायक भूमिका निभाती है। 'ख' परिवेश के हरिजन को यह इजाजन नहीं है कि वह सवर्णों की बस्ती से निःसंकोच गुजरे, धुले वस्त्र पहन ले या चारपाई या खटोले का इस्तेमाल करे।

परंतु 'क' परिवेश की वस्तुस्थिति बिलकुल भिन्न है। 'क' परिवेश के मुरिया, हलबा, भील, संथाल आदि को इस सामाजिक उत्पीड़न से नहीं गुजरना पड़ता। यही कारण है कि कोटड़ा, झाड़ोल और प्रतापपुर के शिविर में अस्पृश्यता अंतरविरोधों के रूप में सामने नहीं आई, जबकि इटाड़ी में यह प्रमुख अंतर्विरोध में से एक थी। 'ख' परिवेश में सामाजिक उत्पीड़न और आर्थिक शोषण परस्पर पूरक अंतरविरोध हैं, परंतु 'क' परिवेश में इस प्रकार की कोई अंतरसंबद्धता नहीं पाई जाती। सामाजिक व्यवहार में 'क' और 'ख' के बीच यह एक विभाजक रेखा है। इस विभिन्नता का बुनियादी कारण यह है कि 'क' परिवेश में उत्पादक वर्ग और उत्पादन के प्राकृतिक साधनों (भूमि, वन-उत्पाद आदि) के बीच उस व्यापक स्तर पर अलगाव नहीं हुआ है, जिस स्तर पर 'ख' परिवेश में हो चुका है। परंतु जहां-जहां आदिवासी अपने जीवन-निर्वाह के परंपरागत आधारों से कट चुके हैं, वहां भी 'ख' परिवेश की उत्पीड़ितों की सी स्थिति का उन्हें सामना करना पड़ रहा है। इस संदर्भ में रांची, भिलाई, बेलाडीला आदि को गिनाया जा सकता है जहां कि औद्योगिक सभ्यता ने आदिवासी को एक निम्न किस्म का असंगठित सर्वहारा बना दिया है, सिर्फ एक सस्ती उपभोग की वस्तु।

परंतु, यहां एक ऐसे 'क' परिवेश की चर्चा है, जहां का आदिवासी समाज आज भी अपने में संतुष्ट है। 'क' परिवेश की यह सांस्थानिक विशिष्टता 'ख' परिवेश की बनावट से भिन्न है।

भाग तीन : निष्कर्ष

संवाद-पद्धति : अलगाव, आतंक और उत्पीड़न का मनुष्य पर सबसे बड़ा प्रभाव यह पड़ता है कि वह धीरे-धीरे अपने में सिमटने एवं सिकुड़ने[10] लगता है। वह बाहरी प्रभावों के प्रति उदासीन बनने लगता है और कालांतर में वह बोधहीन बन जाता है। धीरे-धीरे मनुष्य पशु-अवस्था में पहुंच जाता है। यही प्रक्रिया एक व्यक्ति से आरंभ होकर समाज तक पहुंचती है। सूक्ष्म को बृहत्तर से जोड़ती है। उसमें विवेचनात्मक, विभेदात्मक तथा प्रतिरोधात्मक ऊर्जा सुप्त हो जाती है और व्यक्ति या समाज पूरी तरह से 'खामोशी की संस्कृति' का शिकार हो जाता है।

औपचारिक एवं अनौपचारिक पद्धति : ऐसी स्थिति में यदि उत्पीड़ित वर्ग के साथ संवाद की उचित प्रक्रिया नहीं अपनाई जाती है, तो हम कभी भी सही निष्कर्षों पर नहीं पहुंच सकेंगे। यथार्थ पर एक तरफ निष्कर्षों का कोहरा छाया रहेगा और यह स्थिति उत्पीड़ित वर्ग के विरुद्ध विभिन्न प्रकार के पूर्वाग्रहों को जन्म देगी। उदाहरण के लिए, झाड़ोल-शिविर में एक आदिवासी ने 'औरत या पत्नी' को अपना मुख्य शत्रु माना। इस पर उपस्थित सभी व्यक्ति हंस पड़े। उसके साथी उसकी हंसी उड़ाने लगे। बार-बार पूछने पर वह हर बार यही उत्तर देता : "औरत मेरी खास दुश्मन है।" इस अवसर पर शिविर में मौजूद उच्चाधिकारी और

समाजशास्त्री कहने लगे : "अभ्यास से सही नतीजे सामने नहीं आ रहे हैं। भला, पत्नी दुश्मन कैसे हो सकती है ?" मैंने उन्हें समझाने की कोशिश की कि यह आदिवासी जो कुछ कह रहा है, उसकी गहराई में जाने की आवश्यकता है। अवश्य ही इस कथन के पीछे उसका कोई प्रयोजन होना चाहिए। परंतु, वे इससे सहमत नहीं थे। आदिवासी ने जो कुछ कहा, वे उसे कोरी बकवास मान रहे थे।। परंतु, मैंने हिम्मत नहीं हारी और स्थिति को कुरेदना शुरू किया :

प्रश्न : बताओ, औरत दुश्मन कैसे है ?
उत्तर : बस साब, दुश्मन है।
प्रश्न : क्या बात नहीं सुनती ?
उत्तर : हमेशा मांगती ही रहती है।
प्रश्न : क्या मांगती रहती है ?
उत्तर : क्या बताऊं, कपड़े मांगती है, जेवर मांगती है।
प्रश्न : अच्छा। और क्या-क्या मांगती है ?
उत्तर : शर्म आती है बताते।
प्रश्न : फिर भी, हमें भी तो बताओ ?
उत्तर : टाबर (बच्चा) पैदा करने को कहती है।
प्रश्न : अभी कितने बच्चे हैं ?
उत्तर : एक।
प्रश्न : तो फिर एक और पैदा क्यों नहीं कर देते ?
उत्तर : साब, हम गरीब आदमी हैं। पालने के लिए पैसा चाहिए। पढ़ाई-लिखाई, शादी-ब्याह के लिए 'खीसे' (जेब) में पैसे नहीं हैं।
प्रश्न : तो इससे क्या ?
उत्तर : हर काम के लिए बाण्या (बनिया) के पास जाना पड़ता है। सब कुछ गिरवी रखना पड़ता है। हम बे घर-बार हो जाते हैं। हमारे खेत बिक गए। औरत ही हमारे दुखों की खान है।

यह सुनकर हम सब स्तब्ध रह गए। फिर दूसरे भीलों ने भी बताया कि शादी करने के लिए कर्ज लेना पड़ता है। बनिए के यहां जमीनें गिरवी रखी जाती हैं।

प्रतापपुर शिविर में एक हरिजन ने कहा : "परमात्मा हम पर तीर चला रहा है। वह हमारा शिकारी है।"

प्रारंभ में हम इस उत्तर के पीछे छिपे अर्थ को नहीं समझ सके। उत्सुकतावश पूछा: "परमात्मा तीर कैसे चला रहा है। वह तो कहीं भी दिखाई नहीं देता।"

उत्तर : "दिखाई नहीं देता, पर तीर चलाता है। पानी[11] (वर्षा) नहीं दे रहा है।"

सतही तौर पर 'औरत और परमात्मा दुश्मन के रूप में' हास्यास्पद उत्तर लगेंगे। कोई भी इससे सहमत नहीं होगा कि ये आदिवासियों के शत्रु हैं। और यहीं से शहरी मानसिकता से ग्रस्त समाजशास्त्री या एक शोधकर्ता इन उत्पीड़ितों के संबंध में अनेक प्रकार की भ्रांतियां एवं पूर्वाग्रहों की गांठ बना लेगा। वह उत्पीड़ितों को 'जाहिल', 'गंवार', 'मंदबुद्धि', 'पिछड़ा' आदि विशेषणों से जड़ देगा। नतीजतन दोनों के बीच 'संवादहीनता' की दीवार हमेशा खड़ी रहेगी और भ्रामक निष्कर्ष निकलते रहेंगे।

वास्तविकता यह है कि उत्पीड़ित वर्ग के शब्द एवं अभिव्यक्ति उसके इर्द-गिर्द परिवेश की उपज हैं। आवश्यकता इस बात की है कि उत्पीड़ित वर्ग की अभिव्यक्ति और परिवेश की अंतर-संबंधता की पहचान की जाए। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण "औरत" और "परमात्मा" है। यदि प्रारंभ में ही इन 'उत्तरों' को 'बकवास' कह कर रद्द कर दिया जाता, तो हम शत्रु को नहीं जान पाते।

एक अन्य उदाहरण। अनेक आदिवासियों और हरिजनों ने 'जूं', 'खटमल', 'दिमाग और ताकत की कमी', 'बीमारी', 'अधिक बच्चे' और 'अच्छे भोजन की कमी' आदि को दुश्मन बताया। परंतु प्रश्न-उत्तर की प्रक्रिया के दौरान जो तस्वीर सामने आई वह बिल्कुल अलग थी। उत्तरदाताओं का कहना था कि उनके पास पहनने के लिए साल भर के लिए एक ही जोड़ा वस्त्र होते हैं। बीमारी में दवाई खरीदने और बच्चों के पालने के लिए पैसे नहीं होते। यहां तक कि उन्होंने बीमारी में टी.बी., गुप्त रोग, चर्मरोगों जैसे भयानक रोग भी गिनाए। यदि जूं, खटमल, दिमाग और ताकत की कमी, बीमारी, अधिक बच्चे तथा अच्छे भोजन की कमी को सतही स्तर पर देखें, तो अर्थहीन अभिव्यक्ति लगेगी। परंतु ऐसा नहीं है। इन पांचों दुश्मनों के बीच एक अंतर-संबद्धता है—मूल उत्पादन वर्ग का उत्पादन के साधन और उत्पादन-उपभोग-नियामक संस्थाओं से 'विलगन एवं वंचन'। वास्तव में बाहरी और आंतरिक धरातलों की यह समांतर अंतर-संबद्धताएं एक दूसरे की पूरक हैं। और ये अंतर-संबद्धताएं एक तीसरी अंतर-संबंद्धता को जन्म देती हैं, जिसे शोषण, उत्पीड़न और खामोशी का परिवेश कहा जा सकता है। यदि उत्पीड़ित वर्ग को इन अंतर-संबद्धताओं का वैज्ञानिक पद्धति से ज्ञान करा दिया जाए, तो वस्तुस्थिति में गुणात्मक परिवर्तन लाया जा सकता है। तभी सही अर्थों में संवाद-प्रक्रिया स्थापित हो सकती है।

अभ्यास प्रक्रिया के दौरान प्राप्त अनुभवों से यह स्पष्ट है कि उत्पीड़ितों की अभिव्यक्ति सहज और सरल भी है, परंतु पेचीदी भी, लेकिन सभ्य, उन्नत एवं ताकतवर समाज के प्रतिनिधियों की तरह आडंबर एवं कपटपूर्ण नहीं है।

वास्तव में उत्पीड़ित वर्ग के बाहरी एवं आंतरिक दोनों प्रकार के शत्रुओं को परिवेश के साथ गहरा संबंध है। उत्पीड़ित वर्ग अपने मुहावरों, अपनी भाषा, अपने शब्दों के माध्यम से इनको अभिव्यक्ति देता है, जो हमें अटपटी लगती है, क्योंकि हम पूर्व-निर्धारित एकतरफा संवाद-दायरे में ही घूमते रहते हैं, उत्पीड़ित वर्ग की समझदारी के धरातल पर स्वयं को नहीं उतारते। इस संबंध में एक घटना याद आती है। बांसवाड़ा में आदिवासियों के विकास का सर्वेक्षण कराया गया। सर्वेक्षण की प्रश्नावली में इस प्रकार के सवाल भी थे :

1. सरकार और राजनीति में क्या अंतर है ?
2. भारत के कौन दुश्मन और मित्र हैं ?

ये सवाल ऐसे लोगों से पूछे गए जिनमें दस प्रतिशत भी शिक्षित नहीं थे। उनके जीवन का दायरा भी पहाड़ों-जंगलों तक ही सीमित था। 90 प्रतिशत लोगों ने कभी समाचार-पत्र नहीं पढ़े और न ही रेलें देखीं। वे विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं से पूरी तरह परिचित नहीं हैं। अतः इस प्रकार के सवाल एक ऐसी मानसिकता के परिचायक हैं, जिनका कि उत्पीड़ित वर्ग से कोई संबंध नहीं है।

आपातकाल के दौरान 1976 में दंतेवाड़ा क्षेत्र (बस्तर) के आदिवासियों में ऋण-ग्रस्तता के संबंध में सर्वेक्षण कराया गया था। तीन मास के लगातार सर्वेक्षण के बाद जो परिणाम सामने आए, वे चौंकाने वाले थे। सर्वेक्षकों द्वारा एकत्रित जानकारियों के अनुसार आदिवासियों में कोई भी ऋणग्रस्तता नहीं थी। परंतु, आपत्तियां उठाई जाने के बाद, संशोधित ढंग से सर्वेक्षण दुबारा कराया गया। दूसरी बार सर्वेक्षण में काफी ऋणग्रस्तता मिली।

समस्या यह थी कि पूर्व-सर्वेक्षक दल आदिवासियों की अभिव्यक्ति-पद्धति से परिचित नहीं थे। बस्तर के मुरिया और अन्य आदिवासी हर मामले में 'हूं' या 'नहीं जानूं' कह देते हैं। इससे यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि कर्ज लिया है या नहीं। प्रायः उनकी अधिकांश अभिव्यक्ति 'नकारात्मकता' का स्वर लिए होती है। वे महाजन को जानते भी हैं, नहीं भी, यहां तक कि वे 'कर्ज' का अर्थ तक नहीं समझते, क्योंकि उनके मूल संपुष्ट एवं एकात्मक समाज में कर्ज[12] एक जीवन-मूल्य के रूप में अभी तक स्थान नहीं पा सका है, जैसा कि तथाकथित विकसित समाजों में देखा जाता है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि हमारी जीवन-दृष्टि और उत्पीड़ित वर्ग की जीवन-दृष्टि दो विपरीति ध्रुवों पर खड़ी है, क्योंकि उनकी अभिव्यक्ति पद्धति और हमारी समझदारी का तरीका असंतुलित परिवेशों की उपज है।

अभिव्यक्ति एवं उत्पादन के साधन : यहां यह समझ लेना जरूरी है कि मनुष्य की अभिव्यक्ति और समाज में उसके क्रियात्मक रूपांतरण का उत्पादन के साधनों एवं उत्पादन-संबंधों की विकास अवस्था से गहरा संबंध है। ऐसा देखने में आया है कि जिन समाजों में उत्पादन के साधन सरल एवं एकरूपता लिए हुए हैं, वहां के लोगों की अभिव्यक्ति उतनी ही सरल और एकरूपता लिए हुए है। उदाहरण के लिए 'क' परिवेश में उत्पादन के साधन आज भी सरल तथा एकरूपता बनाए हुए हैं। फलस्वरूप, उत्पादन-संबंध विघटित नहीं हुए हैं और न ही विकसित समाजों की तरह विषमता एवं श्रेणी-ग्रस्त। आदिवासियों की शब्द-रचना एवं अभिव्यक्ति का संसार आज भी तीर, धनुष, हल, खुरपी, बैल, वन-फूल हैं और इन सबके साथ उनका भावनात्मक स्तर पर संबंध है। उत्पादन की संपूर्ण प्रक्रिया रागात्मकता लिए हुए है। बीज बोने से फसल कटने तक नित नए उत्सव मनाए जाते हैं। हर क्षण उल्लासमय एवं संगीतमय रहता है क्योंकि उनकी अभिव्यक्ति अन्न की वाली की

तरह, कोमल और एकरूपता लिए हुए है।

परंतु जैसे-जैसे उत्पादन के साधन विकसित होते जाएंगे, वैसे-वैसे अभिव्यक्ति में सरलता एवं एकरूपता समाप्त होती जाएगी, क्योंकि उस समय व्यक्ति और साधनों के पारस्परिक भावनात्मक संबंधों का व्यापारीकरण हो जाता है। यहीं से दोनों के बीच अलगाव (एलिएनेशन) की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। इसके साथ ही अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता में परिवर्तन आने लगता है। जब गांव में एक किसान बैलगाड़ी हांकता है, उस समय रागात्मकता के तत्व दोनों के पारस्परित संबंधों को संचालित करते हैं। परंतु जब वह शहर में आकर टैक्सी, बस या किसी अन्य की कार चलाता है, तब वह संबंधों में एक 'परायापन' अनुभव करता है। इसी प्रकार जब एक हल जोतने वाला शहर के कारखाने का सर्वहारा बनता है, तब उसकी भाषा और अभिव्यक्ति का विस्तार होता है, जिसमें पेचीदगी व विभिन्नताएं अंतरनिहित होती हैं।

अतः जब हमारी विकसित, पेचीदा एवं व्यापारीकृत उत्पादन के साधनों से गढ़ी हुई अभिव्यक्ति सरल व उत्पीड़ित समाजों की सहज और एकरूपतायुक्त अभिव्यक्ति के संपर्क में आती है, तो दोनों के बीच एक 'कृत्रिम संप्रेषण' स्थापित होता है, क्योंकि 'अकृत्रिम संप्रेषण' की आवश्यक शर्त है 'संतुलित और समतावादी परिवेश'। इसके कारण आरोपित संवाद-प्रक्रिया अस्तित्व में आती है। फलस्वरूप, उत्पीड़ित वर्गों के संबंध में 'विकृत तथ्य' जमा किए जाते हैं और गलत निष्कर्ष निकाले जाते हैं।

इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि एक शोधकर्ता उत्पीड़ित वर्गों के साथ संप्रेषण स्थापित करते समय स्वयं को 'सभ्यताहीन' (डीसिविलाइज) और 'पुनः शिक्षित' (री-एजूकेट)[13] करे और उनके धरातल पर आकर उनके दोतरफा संवाद स्थापित करे।

चूंकि उत्पीड़ित वर्ग की अभिव्यक्ति बुनियादी रूप से भावनाओं पर आधारित हैं, जबकि हमारी अभिव्यक्ति 'वस्तु' (कमोडिटी) बन चुकी है, ऐसी स्थिति में संप्रेषण की पद्धति को भावनात्मक बनाना होगा।

प्रथम संप्रेषण स्थापित करने के लिए प्रारंभ में उत्पीड़ित वर्ग के हृदय में उतरने की आवश्यकता है। दूसरे चरण में हृदय को आंदोलित तथा सुप्तावस्था से ग्रस्त स्पंदनशीलता को सक्रिय करना होगा। तीसरे चरण में मस्तिष्क को जागृत व विवेचनात्मक बनाना होगा। अंतिम चरण में हृदय एवं मस्तिष्क दोनों का वस्तुस्थिति में हस्तक्षेप करके प्रत्यक्ष कार्रवाई में परिवर्तित करना होगा। संक्षेप में, संप्रेषण की यात्रा हृदय से आरंभ होकर मस्तिष्क तक पहुंचेगी, जबकि इसके विपरीत विकसित और व्यापारीकृत उत्पादन के साधनों से युक्त परिवेश के साथ संप्रेषण की प्रक्रिया लगभग उल्टी होगी—मस्तिष्क से हृदय तक, बौद्धिकता से संवेदनशीलता तक।

अभ्यास प्रक्रिया के दौरान उत्पीड़ित वर्ग के साथ संप्रेषण के लिए हृदय से मस्तिष्क की पद्धति अपनाई गई। प्रश्नोत्तर प्रक्रिया अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष तथा अनौपचारिक तथा औपचारिक रही, बल्कि अनौपचारिक संवाद को अधिक महत्व दिया गया।

अनौपचारिक सम्प्रेषण : भावना[14] के स्तर पर अनौपचारिक पद्धति के संदर्भ में एक घटना का उल्लेख यहां उचित रहेगा। 1977 में मेडक (आंध्र प्रदेश) में बंधक-शिविर लगाया गया था। बंधक-श्रमिक प्रथम दिन काफी सहमे-सहमे लग रहे थे। महसूस हो रहा था, कोई अप्रत्यक्ष भय उनका पीछा कर रहा है, परंतु, वे खुल कर व्यक्त नहीं कर पा रहे थे। मैंने तय किया कि रात्रि को उनके साथ ही सोया जाए। सोते समय कुछ कानाफूसी होने लगी। परंतु भाषा नहीं जानने के कारण मैं कुछ नहीं समझ सका। सुबह होने पर कुछ बंधक श्रमिकों से पिछली रात के स्वप्नों के संबंध में हंसते हुए पूछा। सभी ने निःसंकोच होकर दुभाषिए के माध्यम से टूटा-फूटा विवरण दे दिया। उन्होंने बताया कि हमने सपनों में देखा कि जमींदार हमें शिविर में भाग लेने के कारण हंटरों से पीट रहा है। खाना नहीं दे रहा है। किसी की लड़की को रात में घर बुला रहा है।

प्रत्येक सुबह में उनसे उनके स्वप्नो के संबंध में जानकारी एकत्रित करता। शिविर के तीसरे-चौथे दिन कुछ ने यहां तक बताया कि वे स्वप्न में जमींदार की पिटाई कर रहे थे। उसकी लड़की या औरत के साथ बलात्कार कर रहे थे। ऊंची जाति की लड़की से शादी कर रहे थे। अच्छे सफेद वस्त्र पहनकर घूम रहे थे। सिनेमा देखने जा रहे थे। उडुपी होटल में खाना खा रहे थे।

संत्रस्त वर्ग की इस अंतर्कथा, प्रतिबोध और प्रतिरोध की शक्ति को किसी पूर्व-निर्धारित एवं औपचारिक पद्धति से नहीं पहचाना जा सकता। स्वप्नावस्था में निष्क्रियात्मक (पैसिव) से क्रियात्मक (ऐक्टिव) में परिवर्तित होने की अपनी इस प्रक्रिया को वे प्रश्न-उत्तर पद्धति से व्यक्त नहीं कर सकते, क्योंकि बाह्य परिवेश में और उनके बीच संप्रेषण के धरातल पर 'संवादहीनता' की स्थिति सदियों से कायम है। कोई भी बंधक श्रमिक प्रारंभ में यह नहीं कहेगा कि वह गुलाम है। इसके दो मुख्य कारण हैं—बोधहीनता और संत्रस्तता। उत्पादन-नियंत्रण शक्तियों का दबाव मूल उत्पादक वर्ग पर इतना गहरा और तेज है कि उसके (उत्पादक वर्ग के) बाहरी एवं आंतरिक दोनों जगत् बोधहीनता से ग्रस्त हैं जिसे कुरेदने पर 'स्पंदन' तो अनुभव होगा, परंतु 'आवाज' नहीं होगी।

'क' और 'ख' दोनों परिवेशों के उत्पीड़ितों में 'भूख' का बोध ही नहीं मिला। अन्य क्षेत्रों के सर्वेक्षण के दौरान ऐसा अनुभव हुआ कि कोई भी आदिवासी या हरिजन प्रारंभ में यह नहीं कहता कि वह भूखा रहता है। यह बात नहीं है कि शहर के किसी 'निम्न-बुर्जुआ' की तरह वह अपनी 'अभावग्रस्तता' को छिपाना चाहता है। सचाई यह है कि उसे भूख का अहसास ही नहीं है।

वह कहेगा 'मैं भूखा नहीं रहता।' परंतु वास्तविकता इसके ठीक विपरीत है। सप्ताह में कम से कम दो दिन वह भूखा रहता है। यह जानने के लिए उसके पूरे महीने भर की राशन की स्थिति और सप्ताह के दोनों समय की भोजन-प्राप्ति का विवरण लेना होगा। और यह जानकारी औपचारिक पद्धति—'हां, नहीं'—से किसी भी कीमत पर एकत्रित नहीं की जा सकती। इसके लिए शुद्ध संवेदना के धरातल पर अनौपचारिक पद्धति अपनानी होगी। यहां

तक जानने की आवश्यकता है कि उसके पास बर्तन कितने हैं और उसमें कितने दिन का आटा, धान और अन्न या चावल जमा किया जा सकता है ? यह देखा गया है कि उत्पीड़ितों के घरों में ताले नहीं होते हैं, क्योंकि उनकी चल-अचल संपत्ति चंद चीथड़े और हंड़िया होती है। ऐसे ही घरों में 'आरोपित निराहार' की अवधि तीन से चार दिन तक पाई गई है। परंतु उत्पीड़ितों को तीन-चार दिन की यह भूख की स्थिति कहीं कचोटती ही नहीं है, क्योंकि वे इसे 'भूख' के रूप में अनुभव ही नहीं करते बल्कि भूखे रहने को जीवन की एक 'सामान्य दिनचर्या' के रूप में देखते हैं। भूख उनके परिवेश का एक ऐसा अभिन्न हिस्सा बन चुकी है, जोकि 'गोद से चिता तक' साथ रहती है। गोद से चिता तक की इस यात्रा को फकत आंकड़ा जमा करने की किसी औपचारिक पद्धति से नहीं नापा जा सकता।

अभ्यास के दौरान 'क' और 'ख' परिवेशों के उत्पीड़ितों के जो आंतरिक शत्रु सामने आए, उनकी जानकारी प्राप्त करना औपचारिक संवाद-पद्धति से संभव नहीं था। मिसाल के तौर पर दोनों परिवेशों के शिविरों में उत्पीड़ितों ने आपस में मारपीट और फूट की मुख्य शिकायत की। इसके बाद 'संगठन की कमी' को मुख्य शत्रु माना गया। इस प्रकार अनौपचारिक संवाद-पद्धति से उत्पीड़ित वर्गों के मित्रतापूर्ण अंतरविरोधों का भी पता लगाया जा सकता है। दो बंधक श्रमिकों के बीच तनाव के बिंदु कौन-कौन से हैं ? क्यों एक भील दूसरे भील की गाय या बकरी को चुराता है ? क्यों एक हरिजन दूसरे हरिजन की लड़की के साथ बलात्कार करता है ? क्यों एक भूमिहीन किसी अन्य निर्धन किसान की भूमि हथियाना चाहता है ? ये सब ऐसे सवाल हैं, जिनका उत्तर औपचारिक पद्धति से नहीं मिल सकता। अनौपचारिक पद्धति के माध्यम से जहां उत्तर जाना जा सकता है, वहीं अंतरविरोधों के समाधान का भी पता लगाया जा सकता है।

संक्षेप में, अनौपचारिक पद्धति की प्रक्रिया में उत्पीड़ित उत्तरदाता स्वयं को प्रश्नकर्त्ता, उत्तरदाता तथा समाधानकर्त्ता भी समझता है। कारक और कर्त्ता दोनों एक साथ हैं। परंतु औपचारिक पद्धति में सिर्फ कारक ही रहता है। शिकार अभ्यास में एक उत्पीड़ित स्वयं में कारक के साथ-साथ कर्त्ता के अस्तित्व की पहचान भी करता है और यहीं से उसे अपनी एक नई भूमिका निभाने का अहसास होने लगता है—वस्तुस्थिति में गुणात्मक परिवर्तन लाने की।

भाग चार : उपसंहार

आओ, नया गांव बसाएं : वास्तव में उत्पीड़ितों के साथ सबसे बड़ी समस्या यह है कि वे अपनी अंतरनिहित क्षमताओं को पहचानने, उन्हें स्वर देने तथा उक्त ऊर्जा को परिवेश-परिवर्तन का शस्त्र बनाने के लिए किसी बाह्य आधार की ओर देखते रहते हैं। यह आधार उन्हें नेतृत्व के रूप में मिलता है। यही कारण है कि उत्पीड़ित वर्ग और जातियों के अधिकांश संगठनों एव संघर्षों का नेतृत्व सवर्ण हिंदू, मध्यम एवं उच्च वर्गों के हाथों

में है, क्योंकि नेतृत्व के लिए जिस बौद्धिक चेतना, कुशलता तथा टेकनीक की जरूरत है, वे उत्पीड़ितों में कार्य तथा व्यावहारिक स्तर पर सुप्तावस्था में हैं। परंतु, जब भी उन्होंने अपनी आंतरिक ऊर्जा को बाह्य स्तर पर कार्य और व्यवहार में परिवर्तित किया है, उससे बाह्य परिवेश की वस्तुस्थितियों में गुणात्मक परिवर्तन आया है। उस समय बाहरी नेतृत्व की आवश्यकता नहीं हुई है और पिछली दो शताब्दियों के दौरान इन परिवर्तनों की अंतिम अभिव्यक्ति परिवेश को शोषण के पक्ष में अनुकूलित करने वाली व्यवस्था (साम्राज्यवादी, सामंतवादी एवं पूंजीवादी) के खिलाफ आदिवासी और किसान विद्रोहों में हुई।

परंतु 1947 के बाद देखने में आया कि उत्पीड़ित वर्गों एवं जातियों में स्वयं-जनित नेतृत्व की कमी आई है। बाहरी परिवेश में सूक्ष्य स्तर एवं बृहत स्तर (राष्ट्रीय स्तर से संबंधित क्षेत्रीय स्तर) पर जिस प्रकार की विभिन्न पेचीदा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक शक्तियां पैदा हो गई हैं, उन्होंने उत्पीड़ितों के अंतरविरोधों के संबंध में अनेक किस्म के भटकाव पैदा कर दिए हैं, या यह कहना और भी सही होगा कि व्यवस्था ने उभरते अंतरविरोधों को दबाने[15] का रास्ता अपनाया है, न कि उनके गुणात्मक समाधान का। व्यवस्था ने परिवेश में पैदा की गई विभिन्न किस्म की भटकाववादी शक्तियों से जहां उभरते अंतरविरोधों को दबाया है, वहीं उत्पीड़ितों में व्यवस्था के वास्तविक चरित्र और परिवेश के प्रभावों के प्रति अनेक प्रकार के भ्रम भी पैदा कर दिए हैं, उनकी चेतना, बोध और वस्तुस्थिति में हस्तक्षेप की क्षमता अनुकूलित हो गई है। बाह्य परिवेश ने उन्हें पराश्रित होना सिखाया है। नतीजतन, वे नेतृत्व के लिए भी ऐसे आधारों की प्रतीक्षा में रहते हैं।

'आओ, शिकार करें' से 'आओ, नया गांव बसाएं' तक की यात्रा उत्पीड़ित एवं मूल उत्पादक वर्ग द्वारा 'यथास्थिति में' हस्तक्षेप तथा परिवेश में 'सांस्थानिक परिवर्तन' लाने की प्रक्रिया है। जहां वह 'शिकार अभ्यास' के प्रथम चरण में परिवेश में सक्रिय विभिन्न अंतरविरोधों की पहचान करता है, वहीं दूसरे चरण में वह अनेक वैज्ञानिक समाधान का मार्ग तलाशता है। यहां से वस्तुस्थिति में गुणात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया संगठित ढंग से आरंभ हो जाती है।

अभ्यास के प्रथम चरण में परिवेश की संरचनात्मक स्थिति इस प्रकार है : उत्पादन के साधन + उत्पादन-नियंत्रण वर्ग + सांस्थानिक नियामक शक्तियां—उत्पादक वर्ग = विषमताग्रस्त उत्पादन संबंध।

दूसरे चरण में वस्तुस्थिति में गुणात्मक परिवर्तन के बाद परिवेश की संरचनात्मक स्थिति: उत्पादक वर्ग + उत्पादन के साधन + सांस्थानिक नियामक शक्तियां-उत्पादन-नियंत्रक वर्ग = समतावादी उत्पादन संबंध।

विश्लेषण की दृष्टि से 'आओ, नया गांव बसाए' को निम्न अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है :

(क) शत्रुतापूर्ण अंतरविरोधों के समाधान के उपयुक्त माध्यमों की खोज,

(ख) उत्तर समाधान स्थिति एवं उत्पादन-संबंध-निर्धारण प्रक्रिया,
(ग) सांक्रांतिक अंतरविरोध, और
(घ) सामाजिक भावनात्मकता पर आधारित उत्पादन संबंध।

'आओ, शिकार करें,' के अंतिम चरण के साथ ही शत्रुतापूर्ण अंतरविरोधों के समाधान की पहल शुरू होती है जब आदिवासी एवं हरिजन कहते हैं : "हम लाठियां हाथ में लेंगे, शिकारी को मारेंगे।"

'आओ, नया गांव बसाए' की 'क'—अवस्था में उत्पीड़ित वर्ग एवं उत्पादक वर्ग के बीच मौजूद 'भ्रमों' की दीवार गिर जाती है। उत्पीड़ित वर्ग को इसका पूरी तरह से बोध हो जाता है कि उसे खामोशी एवं उत्पीड़न की संस्कृति से आजाद होकर विषमतावादी उत्पादन-संबंध को बदल देना चाहिए। इसके लिए वह उत्पीड़क वर्ग के विरुद्ध 'सीधी कारवाई' का रास्ता तलाशता है।

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि आदिवासियों और हरिजनों ने राक्षसनुमा आकार एवं पिंजरे का चित्र देखते ही एक स्वर से स्पष्ट कर दिया था कि पिंजरे में गरीब कैद हैं और वे महाजन या जमींदार के गुलाम बन चुके हैं। महाजन या जमींदार ने उसकी जमीनों व मकानों (उत्पादन के साधन) पर कब्जा कर रखा है। इस स्थिति में आकर उत्पीड़ित वर्ग मिथावस्था को तोड़ देता है। 'संरक्षण और शोषण' की अंतरसंबंधता का उसे ज्ञान होता है। इसके साथ ही मिथ्या 'मित्रतापूर्ण' अंतरविरोध 'शत्रुतापूर्ण अंतरविरोधों' में परिवर्तित हो जाते हैं।

शत्रुतापूर्ण अंतरविरोधों के समाधान के संबंध में प्रतापपुर, झाड़ौल शिविरों में आदिवासियों एवं हरिजनों ने जो प्रतिक्रियाएं व्यक्ति की हैं, उन्हें तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है : (अ) आत्मसुधारात्मक, (आ) यथा स्थितिवादी परिवेश-परक और (इ) परिवेश—परिवर्तनवादी।

(अ) श्रेणी में उत्पीड़ित वर्ग को 'बोध' तो है, परंतु समाधान के मामले में वह भटका हुआ है और सभी दुःखों की जड़ वह स्वयं को मानता है। इसलिए, कुछ उत्पीड़ितों का उत्तर होता है—आलस्य दूर करके, दारू नशा छोड़कर, बीड़ी गांजा त्याग कर, शिक्षित होकर, अपनी कमी दूर करके, परिश्रम करके, आदि। उत्पीड़ित वर्ग की यह आत्मा-सुधारात्मक दृष्टि भारत के परंपरागत *नैतिकता* (ईथोस) का एक अभिन्न हिस्सा है, जिसमें व्यक्ति के गुण एवं दोष की 'परिवेश-निरपेक्षता' पर अधिक बल दिया गया है। इसका परिणाम यह निकला कि परंपरागत उत्पादन-नियंत्रक वर्ग ने चेतना की पदार्थ-निरपेक्षता को प्रचारित कर उत्पीड़ितों में इसके दूसरे पक्ष 'परिवेश-सापेक्षता' का बोध पैदा नहीं होने दिया। 'आत्मसुख', 'आत्मसंतोष', 'आत्मशांति', 'आत्मग्लानी', 'आत्मदर्शन', 'आत्मपीड़न' जैसे मूल्य विषमतावादी परिवेश में परंपरागत उत्पीड़क वर्ग की 'परोक्ष ढाल' की भूमिका निभाते आए हैं। इन मूल्यों पर आधारित मानसिकता पैदा कर विभिन्न सांस्थानिक शक्तियों (सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक) की अंतरसबंधता को समाप्त करने की चेष्टा की जाती है। यहां तक कि 'संपूर्ण

क्रांति' का नारा देते समय जयप्रकाश नारायण ने कहा था कि क्रांति को सामाजिक एवं आर्थिक शक्तियों से ऊपर उठाकर लाना चाहिए।

उत्पीड़ित वर्ग ने भी उत्पीड़क वर्ग द्वारा आरोपित चेतना की 'परिवेश निरपेक्षता' जैसे मूल्यों का आंतरिकीकरण कर लिया है। जहां-जहां सवर्ण हिंदू व्यापारी पहुंचा है, वहां शोषण के साथ धर्म को[16] संरक्षण के रूप में लेता गया है।

परंतु यह सच है कि उत्पीड़ित वर्ग में 'आत्मसुधार' का भाव पैदा होना दिमाग पर 'बोध' की पहली 'दस्तक' है। यह उल्लेखनीय है कि शिविरों में 'आत्मसुधार' की बात कहने वालों का प्रतिशत बहुत कम था, यहां तक कि इस प्रकार के व्यक्तियों ने बाद में अपनी प्रतिक्रियाओं में संशोधन अवश्य किया।

(आ) इस श्रेणी की प्रतिक्रियाएं वर्ग-सहयोगवादी दृष्टि लिए हुए हैं। ये प्रतिक्रियाएं हैं : जमींदार को प्रेम से जीतकर, सुख-दुःख में मिल-जुलकर (जमींदार के साथ), भ्रष्टाचार और रिश्वतखोरी दूर करके आदि।

इन प्रतिक्रियाओं में शत्रुतापूर्ण अंतरविरोधों का मित्रतापूर्ण ढंग से समाधान करने की दृष्टि उभरी है। परिवेश में संरचनात्मक परिवर्तन के स्थान पर उनमें सहयोगवादी ढंग से सुधार की आवश्यकता सामने आई है। दूसरे शब्दों में, यह वर्ग-सहयोग की मानसिकता का प्रतीक है, जो उत्पादन-संबंधों में उभरते अंतरविरोधों के वैज्ञानिक समाधान के स्थान पर आदर्शवादी (या मनोगत ढंग से) समाधान का मार्ग बतलाती है। यह संभव है कि सुधारवादी या वर्ग-सहयोगवादी दृष्टि के परिवेश के सामजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवहार में रूपांतर से अंतरविरोधों की विशिष्टता में परिवर्तन आ सकता है और वे अपने स्तर (मुख्य से गौण और गौण से मुख्य अंतरविरोध तथा सूक्ष्म से बृहत्तर और बृहत्तर से सूक्ष्म अंतरविरोध में) भी बदल सकते हैं। परंतु शोषण की 'सर्वव्यापकता' में कोई अंतर नहीं आएगा। वह यथावत् बनी रहेगी।

लेकिन सूक्ष्म स्तर पर चेतना में द्वंद्व के अस्तित्व का ज्ञान होने लगता है। यहीं से चेतना की पदार्थ–सापेक्षता की प्रक्रिया शुरू होती है। व्यक्ति या समूह को परिवेश में सक्रिय विभिन्न सांस्थानिक शक्तियों की अंतरसंबंधताओं को अपने अनुकूल करने का होता है, परंतु नई अंतरसंबंधताओं की रचना करने से या तो वह कतराता है, या उसे इसका ज्ञान नहीं होता। सूक्ष्म स्तर पर उत्पीड़ित वर्ग उत्पीड़क वर्ग से सम्मानजनक व्यवहार की मांग करता है। परंतु, उत्पादन एवं उत्पादन-नियंत्रण प्रक्रिया में साझेदारी की मांग नहीं की जाती। फलस्वरूप, उत्पादन-संबंध तथा अंतरसंबंधताओं में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं आता। बृहत्तर स्तर पर यह बात उन राष्ट्रीय आंदोलनों के साथ भी लागू होती है, जिसमें उत्पीड़ित शामिल तो किए जाते हैं, परंतु उनका नेतृत्व परिवेश से सहयोगवादियों के हाथों में रहता है। दूसरे शब्दों में शत्रुतापूर्ण अंतरविरोधों का मित्रतापूर्ण समाधान ढूंढ़ा जाता है। वैसे शिविरों में बहुमत की प्रतिक्रिया शत्रुतापूर्ण अंतरविरोधों के शत्रुतापूर्ण ढंग से समाधान के पक्ष में रही।

(इ) इस श्रेणी में निम्न प्रतिक्रियाओं को शामिल किया जा सकता है–गरीबों की एकता मजबूत करके, संगठन बनाकर, कानून से लड़कर, शक्ति का प्रयोग कर पार्टी के बहुमत के आधार पर, वैज्ञानिक नेतृत्व बनाकर आदि। झाड़ोल शिविर में यहां तक कहा गया कि "हिंसा करके जमीन छीनेंगे।"

इन प्रतिक्रियाओं में सहयोगवादी दृष्टि के स्थान पर परिवेश पर हावी शोषणवादी सांस्थानिक शक्तियों के साथ सीधे संघर्ष की इच्छा अभिव्यक्त हुई है। उत्पीड़ित वर्ग इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि उत्पीड़क सहयोगवादी ढंग से उत्पादन के साधनों पर अपना हक छोड़ने वाला नहीं। प्रतापपुर और झाड़ोल शिविरों के आदिवासियों और हरिजनों की राय थी कि स्वयं के संगठन के अधीन गोलबंद होकर वस्तुस्थिति में परिवर्तन लाया जा सकता है। इसके लिए वे अहिंसात्मक एवं हिंसात्मक दोनों ही माध्यमों का अपनाना चाहते थे, इसीलिए उनकी निष्कर्षात्मक अभिव्यक्ति थी–"संगठन बनाकर जमींदार की जमीन बलपूर्वक छीन लेनी चाहिए। यदि वह स्वयं अपनी मर्जी से दे, तब उससे लड़ने की आवश्यकता नहीं।"

यहां यह कहा जा सकता है कि उत्पीड़ितों में उत्पीड़कों के विरुद्ध आवश्यकतानुसार शक्ति का इस्तेमाल करने की समझदारी भी है। अतः 'आओ, नया गांव बसाए' के प्रथम चरण में उत्पीड़ित वर्ग इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं कि शत्रुतापूर्ण अंतरविरोधों का समाधान किए बगैर परिवेश के बाहरी एवं आंतरिक ढांचे में परिवर्तन नहीं आ सकता। इसलिए वे समाधान के वैज्ञानिक माध्यमों का पता लगाते हैं, और ये माध्यम 'संगठन', 'सीधी कार्रवाई' तथा 'उत्पीड़ित वर्ग से उत्पादन के साधनों को हथियाने' के रूप में सामने आते हैं।

'आओ, नया गांव बसाएं' की 'ख' अवस्था में उत्पादन के साधनों के व्यक्तिकरण के साथ उनके समाजीकरण का 'बोध' जन्म लेता है। यहीं से 'व्यक्ति से समाज की ओर' की प्रक्रिया शुरू होती है। इसके साथ ही उत्पीड़ित महसूस करते हैं कि उत्पादन व्यक्ति-केंद्रित न होकर समाज के अधीन हो, और उत्पादन-संबंध विषमताहीन हो।

परंतु, प्रारंभ में उत्पादन के साधनों के प्रति व्यक्तिवादी दृष्टि अधिक उभरी है। उत्पीड़क वर्ग से हस्तगत किए गए साधनों का 'निजीकरण' करने की प्रवृत्ति भी उत्पीड़ित वर्ग को विरासत में मिलती है। परिवेश के बाहरी एवं आंतरिक, दोनों ढांचों की बनावट साधन एवं उत्पादन के साथ व्यक्तिवादी रिश्तों पर आधारित व्यवस्था है, वहां साधन एवं उत्पादन एक प्रकार की 'स्वायत्त सत्ता' बना लेते हैं, जो कि व्यक्ति की उपचेतना में एक 'मिथक' बनकर समा जाती है। यह 'मिथक' व्यावहारिक जीवन में एक 'मिथ्या शक्ति' का बोध पैदा करता है। यही कारण है कि गरीब किसान को अपनी एक बीघा भूमि से इतना लगाव होता है कि वह उसे सुरक्षित रखने के लिए जमींदार से भी दोस्ती करने को तैयार रहता है। इतना ही नहीं, जमीन के छोटे से टुकड़े के लिए निर्धन किसान[17] आपस में लड़ते रहते हैं, जिसका सीधा फायदा जमींदार या बड़े किसानों को होता है। इसके साथ ही, साधनों (किसी भी मात्रा में) की स्वायत्त सत्ता में अंतरविरोधों को जन्म देने वाली प्रवृत्ति सन्निहित है। और इन अंतरविरोधों में शत्रुतापूर्ण अंतरविरोध के तत्व अपरिपक्व अवस्था में पलते रहते हैं।

इसलिए इन अंतरविरोधों के रूपांतर की प्रक्रिया को उत्पीड़ितों के पक्ष में नियोजित करने के लिए 'नियोजक तंत्र' की आवश्यकता है। उत्पीड़ित वर्ग ने इस नियोजक तंत्र को 'गरीबों के संगठन', 'हमारा राज' (अथवा गरीबों का राज) तथा अन्य उपसंगठन (विभिन्न समितियां) के रूप में सामने रखा है। इस नियोजक तंत्र तथा उसकी सहयोगी शाखाओं के कामों का विभाजन आवश्यकतानुसार किया गया है, यहां तक कि आदिवासी और हरिजनों ने व्यक्ति को उसकी योग्यता, आवश्यकता तथा इच्छानुसार काम देने की भी व्यवस्था की है। इसके अतिरिक्त, आवश्यकता के अनुसार उत्पादन और वितरण का भी सुझाव दिया गया।

इससे स्पष्ट है कि उत्पीड़ित वर्ग में नए परिवेश की रचना करने की समझदारी पर्याप्त मात्रा में है। उन्हें इसका भी ज्ञान है कि समानता पर आधारित परिवेश का निर्माण करने में अंतरविरोधों का समाधान किस प्रकार किया जाए। इसीलिए उनका सुझाव था—"हम हर परिवार की जरूरत के अनुसार पैदावार का बंटवारा करेंगे।" अथवा "यदि ज्यादा (अतिरिक्त) अनाज बचता है, तो जरूरत वालों में बांट देंगे।"

इन वाक्यों में उत्पादन के समाजगत एवं व्यक्तिगत दोनों प्रकार से रूपनिर्धारण के भाव ध्वनित होते हैं, क्योंकि जैसे ही उत्पादन का 'समाज एवं व्यक्ति से' विलगन शुरू होता है और अतिरिक्त मात्रा बनने लगती है, वहीं से उसका आवश्यकता से संबंध-विच्छेद हो जाता है और इसके साथ उपभोग और उत्पादन-नियंत्रण वर्ग में रूपांतरित होने की प्रक्रिया भी आरंभ हो जाती है। यही स्थिति कालान्तर में शत्रुतापूर्ण अंतरविरोधों को जन्म देती है।

अतः इस प्रक्रिया में हस्तक्षेप करने के लिए आदिवासियों एवं हरिजनों ने दो स्तरों पर व्यवस्थाएं की हैं—व्यक्ति और समाज। जहां उन्होंने नए परिवेश में व्यक्ति के निजत्व को सामाजिक उपयोग की दृष्टि से स्वतंत्र (योग्यता, आवश्यकता एवं इच्छानुसार) रखा है, वहीं उत्पादन का समाजीकरण किया है। इस व्यवस्था को संचालित करने के लिए एक 'केंद्रीय संगठन', 'नियामक तंत्र' के रूप में स्थापित करने की आवश्यकता है।

परन्तु 'ग' अवस्था में उत्पीड़ित यह भी मानते हैं कि इस प्रकार की समाजवादी व्यवस्था में दरारें पड़ने की संभावना अवश्य बनी हुई है। इस संबंध में आदिवासियों और हरिजनों द्वारा व्यक्त प्रतिक्रियाओं के विश्लेषण से दो प्रमुख निष्कर्ष निकलते हैं :

पहला है : उत्पादन के साधन और अतिरिक्त उत्पादन द्वारा एक स्वायत्त सत्ता का चरित्र अपना लेना और नियामक-तंत्र के नेतृत्व का उत्पादन-प्रक्रिया से कट जाना और उपभोगवादी बन जाना। यह मान्यता कि उत्पीड़क वर्ग द्वारा शासित परिवेश से विरासत में मिली प्रवृत्तियों में उत्पादन-संबंध बदलने के साथ-साथ अंतर आ जायगा, गलत है। क्योंकि, उत्पादन के आवश्यकता से उपभोग में परिवर्तित होने का खतरा हमेशा बना रहता है। उत्पादन का उपभोगवादी चरित्र निश्चित ही नियामक-तंत्र के नेतृत्व को प्रभावित करता है। फलस्वरूप, नेतृत्व की उत्पादन के साधनों के प्रति दृष्टि बदल जाती है।

वे कालांतर में सिर्फ 'साधन' न रह कर 'साध्य' बन जाते हैं। जैसे ही उत्पादन के साधन 'साध्य' में परिवर्तित होते हैं, वैसे ही व्यवस्था पर काबिज एवं राजनीतिक नेतृत्व 'समाज के संपूर्ण व्यक्तित्व' को विकसित करने और उसमें गुणवत्ता पैदा करने के स्थान पर 'व्यक्ति स्तर' पर विकास करने और उसे समृद्धिशाली बनाने में जुट जाते हैं। फलस्वरूप नियामक-तंत्र का 'समाज से विलगन' और 'व्यक्ति का समाज से विलगन' की प्रक्रिया अस्तित्व मे आती है।

ये खतरे बृहद स्तर पर उन व्यवस्थाओं में भी उभरते दिखाई दे रहे हैं, जहां उत्पादक वर्ग की तानाशाही स्थापित हो चुकी है। वहां भी उत्पादन उपयोगवादी बनता जा रहा है और राजसत्ता और उत्पादन-साधनों की एक संयुक्त सत्ता स्थापित होती जा रही है। इसके साथ ही इस संयुक्त सत्ता तथा समाज के बीच 'विलगाव की प्रक्रिया' आरंभ हो गई है। समाज का तंत्र एवं साधन पर नियंत्रण होना चाहिए, लेकिन ये दोनों उस पर ही हावी हो गए हैं। ऐसी स्थिति में उत्पादन का संपूर्ण व्यापारीकरण हो जाता है और उत्पादन संबंधों में से 'सामाजिक भावनात्मकता' समाप्त होती जाती है।

इन खतरों से बचने के लिए अभ्यास की अंतिम अवस्था में उत्पीड़ितों द्वारा व्यक्त प्रतिक्रियाओं से निष्कर्ष निकलता है कि नियामक-तंत्र तथा उत्पादन के साधनों को समाज से अलग 'स्वतंत्र सत्ता' के रूप में न उभरने दिया जाए। इसीलिए वे नेतृत्व के प्रति निरंतर सतर्कता दिखाने की बात कहते हैं।

पहले भाग में उल्लिखित पांच प्रतिक्रियाओं के निष्कर्ष से जो नया समीकरण बनता है, उसे निम्न ढंग से रखा जा सकता है :

समाज + व्यक्ति + उत्पादन के साधन तंत्र = मानवतावादी समाजवादी परिवेश।

ऐसे परिवेश में चारों में से कोई भी गौण नहीं है। आज भी सरल समाजों में यह व्यवस्था मौजूद है।

चूंकि अभ्यास के दूसरे भाग का प्रदर्शन सिर्फ 'क' परिवेश के बीच ही हो सका है, अतः प्रतिक्रियाएं और परिणाम भी उसके इथोस की उपज हैं। यह 'आओ, नया गांव बसाएं' की एक सीमा है। इसीलिए बतौर चेतावनी यह कहना उचित रहेगा कि इसके 'सामान्यीकरण' या 'विशेषीकरण' की आवश्यकता नहीं है। संभव है, 'ख' परिवेश में प्रदर्शन पर प्रतिक्रियाओं और परिणामों का रूप कुछ और होता। परंतु, यह निश्चित है कि 'क' और 'ख' दोनों परिवेशों के उत्पीड़ितों में हर प्रकार के उत्पीड़न और शोषण से मुक्ति की इच्छा समान है।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. इन शत्रुओं के क्रम में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है. इन्हें यथावत रखा गया है.
2. मैं यहां जान-बुझकर वर्ग के साथ जाति का प्रयोग कर रहा हूं, क्योंकि भारत, विशेष रूप से ग्रामीण भारत, की उत्पादक शक्तियों की वास्तविकताओं ने इस तथ्य को स्थापित कर दिया है कि वर्ण और वर्ग सापेक्ष हैं, एक दूसरे के पूरक हैं. वर्ण ही कालांतर में वर्ग में परिवर्तित हो जाता है. ग्रामीण भारत में खेतिहर तथा श्रमिकों का 95 प्रतिशत से अधिक हिस्सा हरिजन, आदिवासी और अन्य पिछड़ी जातियों

से आता है. आज भी अनेक क्षेत्रों में सवर्ण हिन्दू परिवार की संतानें हल और खेत की माटी को छूना धार्मिक दृष्टि से वर्जित मानती हैं. अतः भारत के संदर्भ में वर्ग की रचना में वर्ण की भूमिका की उपेक्षा नहीं की जा सकती.

3. बस्तर के एक जिलाधीश को भू-लूट पर एक शोध-पत्र लिखना था. उसने पटवारियों को बुलाया और उनसे अनुरोध किया कि वे गैर-आदिवासियों द्वारा की गई भू-लूट के सही आंकड़े उपलब्ध कराएं. पटवारियों को यह आश्वासन दिया गया कि उनके खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं की जाएगी. इस आश्वासन के बाद ही जिलाधीश शोध-पत्र तैयार कर सके.
4. इटाड़ी में जब शिविर लगा तो स्थानीय जमींदारों ने दबे स्वरों में उसका विरोध किया. पुलिस को शिविर में भाग लेने वालों के खिलाफ भड़काया. इतना ही नहीं, कई हरिजनों को थाने में बुलाकर डराया गया, शिविर में भाग लेने से मना किया गया.
5. कोटड़ा के दूर दराज गांव में एक गैर-आदिवासी बनिया ग्राम पंचायत का सरपंच था. पंचायत के माध्यम से वह गांव के संपूर्ण जीवन को काबू में रखता था. इटाड़ी ब्लाक की अनेक हरिजन-बहुल पंचायतों में सवर्ण जाति के सरपंचों का दबदबा था. दंतेवाड़ा तहसील (दक्षिण बस्तर) की कुआकोंडा पंचायत (यहा आदिवासी 90 प्रतिशत हैं) के सरपंच एवं पंच राजपूत जाति के थे.
6. लेख में दो प्रकार के अंतरविरोधों का उल्लेख हुआ है—शत्रुतापूर्ण और मित्रतापूर्ण. मोटे रूप में शत्रुतापूर्ण अंतरविरोध दो परस्पर विरोधी वर्गों (उत्पीड़क एवं उत्पीड़ित) के बीच होते हैं. इस प्रकार के अंतरविरोधों का अंतिम और वास्तविक समाधान उत्पादन के साधन तथा उत्पादन-नियंत्रक संस्थाओं पर मूल उत्पादक वर्ग का समतावादी परिवेश स्थापित करने से संभव है. दो मित्रतापूर्ण अंतरविरोध एक ही वर्ग की आंतरिक स्थिति है, जिसके समाधान के लिए संघर्ष के स्थान पर शांतिपूर्ण माध्यम अपनाया जाता है, ताकि एकजुट होकर शत्रुतापूर्ण अंतरविरोध का समाधान किया जा सके.
7. यहां सामाजिक भावनात्मकता से तात्पर्य समाज की एक ऐसी अवस्था से है, जिससे उत्पादन के साधन एक स्वायत्त वर्ग की रचना करने में अक्षम रहते हैं. दूसरी ओर उत्पादक शक्तियां उत्पादन संबंधों का रूप निर्धारण करती हैं और समाज की सभी गतिविधियों का संचालन करती हैं. विकास की इस अवस्था में समाज, व्यक्ति और उत्पादन के साधन संबंध काफी कुछ समतावादी उत्पादन संबंधों की रचना करते हैं. इस प्रक्रिया में समाज और व्यक्ति दोनों ही प्रमुख हैं, जबकि उत्पादन के साधन जीने का एक माध्यम मात्र हैं, लक्ष्य नहीं.
8. इटाड़ी शिविर में अनेक हरिजनों ने बताया कि जमींदार के लिए बैलों की जोड़ी बंधक श्रमिक से अधिक कीमती है. बैल मरने पर जमींदार के परिवार में मातम मनाया जाता है. कभी-कभी मृत बैल की बाकायदा शव-यात्रा निकाली जाती है, जब कि एक बंधक श्रमिक के मरने पर उसके परिवार को तुरंत उसके स्थान पर दूसरा सदस्य भेजने का हुक्म दिया जाता है. ऐसा नहीं करने पर परिवार वालों को यातनाएं दी जाती हैं.
9. दक्षिण बस्तर के नकुलनावार गांव में एक राजपूत दूकानदार ने एक मुरिया आदिवासी को घरेलू नौकर रखा. इसके बाद दूकानदार ने उक्त युवक के माध्यम से उसकी पारिवारिक जमीन पर बेनामी कब्जा कर लिया. समस्त कृषि-उत्पादन राजपूत के घर जाता है. जब मुरिया का ध्यान इस छद्म लूट की ओर दिलाया गया, तो उसने मानने से इंकार कर दिया. बल्कि उसने यहां तक कहा कि उक्त राजपूत दूकानदार तो मेरे परिवार की सहायता कर रहा है. लगभग यही स्थिति काटड़ा एवं अन्य भील क्षेत्रों में मिली.
10. संभव है कि कुछ के लिए स्वयं में सिमटने व सिकुड़ने की यह प्रक्रिया एक अंतर्मुखी अवस्था का भ्रम पैदा करने लगे. परंतु, यहां दोनों के बीच बुनियादी अंतर को स्पष्ट कर देना आवश्यक है. स्वयं में सिमटने एवं सिकुड़ने की प्रक्रिया एक आरोपित स्थिति का परिणाम है, जो कि शोषण की एक आवश्यक शर्त है. शोषण का निरंतर दबाव व्यक्ति की चेतना एवं बोध-प्रक्रिया को कुंद कर देता है. परंतु ये दबे व्यक्ति

समाज में सुप्तावस्था में परिवर्तनवादी ऊर्जा की रचना भी साथ-साथ करते रहते हैं. यदि इस ऊर्जा को सुप्तावस्था से सचेतनावस्था या नकारात्मकता से सकारात्मकता में परिवर्तित कर दिया जाए, तो जब वस्तुस्थिति में गुणात्मक परिवर्तन आएगा, तब दबावों के विरुद्ध एक नई शक्ति संघर्ष के लिए खड़ी हो जाएगी. परंतु, नकारात्मक से सकारात्मक में परिवर्तन की प्रक्रिया उत्पीड़ित वर्ग के साथ जीवंत संवाद, वस्तुस्थिति के सही मुल्यांकन और अंतरविरोधों की सही पहचान पर आधारित मुक्ति की राजनीति से जुड़ी है.

जहां तक अंतर्मुखी अवस्था का सवाल है, यह एक स्वैच्छिक प्रक्रिया है. कभी-कभी यह पलायनवाद को भी जन्म देती है। दूसरे शब्दों में, भौतिक वास्तविकताओं को मनोगत ढंग से समझने का एक तरीका है. परंतु, इसमें व्यक्ति मनोहीनता का शिकार नहीं होता. उत्पीड़ित और उत्पादक वर्ग कभी भी अंतर्मुखी तथा पलायनवादी नहीं बन सकता क्योंकि यह उसके लिए मानसिक विलासिता होगी.

11. झाड़ोल में जब शिविर चल रहा था, तब कुछ भीलों ने बताया कि कुछ दिन पहले भगवान ने बनियों की मदद की थी. परमात्मा की सहायता से गांव के बनियों ने 'पानी बांध' दिया था, जिससे वर्षा नहीं हुई, फलस्वरूप भीलों के खेत सूखे रह गये और उन्हें कर्जा लेकर गुजारा करना पड़ा. किंवदती चली आ रही है कि महाजन वर्षा नहीं होने देने के लिए वर्षा-ऋतु में "जादू-टोना—टोटका" आदि कर देते हैं, जिसे वर्षा नहीं होती और भीलों को उधार लेने के लिए विवश होना पड़ता है. इस अंधविश्वास से साफ लगता है कि जादू-टोना आदि का संबंध भी उत्पादन संबंध से है. आदिवासी यह मानकर चलते हैं कि अकाल हो या बाढ़, महाजन हमेशा आनंद में रहता है. यहां परमात्मा और महाजन एक दूसरे के पर्याय बन गए.
12. दक्षिण बस्तर में अनेक गांव ऐसे मिले, जहां एक आदिवासी दूसरे आदिवासी के जीवन-निर्वाह के लिए मुफ्त धान दे देता है. यदि धान लौटाया भी जाता है तो उसी मात्रा में जिस मात्रा में लिया गया था. परंतु यदि उक्त धान का प्रयोग उत्पादन के काम (बोने के लिए) में होता है, तो मूल मात्रा का डेढ़ गुना लौटाया जाता है. यह अतिरिक्त मात्रा ग्राम की सामूहिक धरोहर होती है, जिसका कि संकटकाल में उपयोग होता है. इस प्रक्रिया में कर्ज का कोई स्थान नहीं है.
13. सभ्यताहीन (डी-सिविलाइज) एवं पुनर्शिक्षित (री-एजूकेट) से यहां अर्थ है उत्पीड़क एवं परजीवी संस्कृति से मुक्त होकर समतावादी संस्कृति की स्थापना के लिए उत्पीड़ित व मूल उत्पादक वर्ग की मूल व्यवस्था से जुड़ना. इसके लिए नए सिरे से शिक्षित होने की जरूरत पड़ती है.
14. यहां यह स्पष्ट कर देना प्रासंगिक होगा कि भावना स्तर पर सरल समाजों के साथ संप्रेषण का तरीका मानवतावादी समाजवादी एवं दार्शनिक प्रशासक डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा से सीखा, जिनका आदिवासियों एवं अन्य उत्पीड़ित वर्गों के संबंध में संपूर्ण विचार-जगत अनौपचारिक एवं रागात्मक संप्रेषण पर टिका हुआ है. और वह किसी मुरिया, हलबा, भील के नंगे बदन से चिपटी माटी तथा बंधक श्रमिक के जिस्म से चूते पसीने से लिया हुआ है.
15. बतौर उदाहरण. कर्नाटक के मांडिया जिले के गावों के सर्वेक्षण के दौरान देखा गया कि सरकार ने सवर्ण और हरिजन के बीच व्याप्त अस्पृश्यता के अंतरविरोध को दूर करने का एक विचित्र तरीका निकाला. हरिजनों को सवर्णों की बस्ती में स्थित मंदिरों में नहीं जाने दिया जाता. इससे दोनों समुदायों के बीच तनाव बना रहता है. सरकार ने तनाव दूर करने के लिए हरिजनो की बस्ती में अलग से देवालय बनवा दिए हैं. परंतु इससे वस्तुस्थिति में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं आया, बल्कि अंतरविरोधों को दबाया गया है.
16. दंतेवाड़ा तहसील के गीदम प्रखंड में स्थानीय मारवाड़ी व्यापारियों ने कई हजार मील दूर बसे जोधपुर जिले में बाबा रामदेव के मंदिर की स्थापना की. स्थापना के लिए आदिवासियों से भी चंदा वसूला गया. अब हर वर्ष वहां मेला भरता है और सुबह शाम कीर्तन होता है, जिसमें मुरिया-हलबा आदिवासी भाग

लेते हैं यहीं उन्हें पाप, पुण्य, संतोष, लालच और आत्मदर्शन की बातें बताई जाती हैं. इसके साथ ही वे 'शोषण' को उत्पीड़ित सुप्तावस्था में एक 'दैविक फैसले' के रूप में स्वीकार करने लगते हैं.

17. जिन देशों में समाजवादी क्रांतियां हुई हैं, वहां प्रारंभिक काल में भूमि-सुधारों का विरोध जहां अमीर किसानों, भू-स्वामियों, युद्धस्वामियों और कुलक आदि ने किया, वहीं निर्धन व छोटे किसानों ने भी किया.

अनुक्रमणिका

अंतरविरोधों की विशिष्टताएं 154
अछूत प्रथा 40
अनियतकालिक श्रमिक 51
अनुबंधित श्रमिक का जीवन 104-05
अनुरूप प्रसाद की हत्या 67-70
अनौपचारिक सम्प्रेषण 166-67
अन्नाद्रुमक 124
अपराध 30
  प्रवृति 31
अभिव्यक्ति एवं उत्पादन के साधन 164-65
अभिशप्त समाज 131
अमानवीकरण की प्रक्रिया 129,130
अर्ध भुखमरी 48
अल्थुस्सर, लुई 119
असम के आदिवासी 8
अस्पृश्यता की समस्या 40

आक्रमण की संस्कृति 125
आत्मग्लानी 169
आत्मदर्शन 169
आत्मपीड़न 169
आत्मशांति 169
आत्मसंतोष 169
आत्मसुख 169
आत्मसुधार 170
आदिम समुदाय 3
आदिवासियों का शोषण 4
आदिवासी अर्थव्यवस्था पर संगोष्ठी 4
आदिवासी एवं गैर-आदिवासी परिवेश की असमानंताएं 159-61
आदिवासी एवं गैर-आदिवासी परिवेश की समानताएं 156-59
आदिवासी गांव बनाम हरिजन गांव 41
आदिवासी प्रधान परिवेश की संरचनात्मक विशेषताएं 155
  आर्थिक 155
  भौगोलिक 155
  राजनीतिक नेतृत्व 155
  सामाजिक एवं सांस्कृतिक 155
आदिवासी बनाम धर्मांतरित आदिवासी 95-97
आदिवासी बनाम हरिजन 39-40
आदिवासी विद्रोह 14
आदिवासी श्रमिकों की वर्गीय पृष्ठभूमि 14-16
आधुनिक सभ्यता 3, 124
  प्रभाव 19
आपातकाल 65, 88, 129, 164
आर्थिक अवस्था पर प्रभाव 21-25
आल्वेज, मार्सियों मोरिया 120

"इंदिरा भारत है, भारत इंदिरा है" 128
इरूला 5, 8
इलिच, इवान 122

ईसाई आदिवासी 95

उत्तम वर्ग 77, 80
उत्तर मुक्ति जीवन 97, 98, 103-04
उत्पीड़क समाज 131
उत्पीड़न 100
  संस्कृति 116

उत्पीड़ित वर्ग 167, 171, 172
उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र 118
उद्योगीकरण का प्रभाव 16, 20, 23
  आदिवासी समाज पर 4
उन्नत कृषि शिक्षा 116
उपभोग शैली 18-19

ऋण मुक्ति अधिनियम 85

एक रुपए रोज की मजदूरी 43-44
एजूकेशन फॉर क्रिटिकल कांशेसनेस 118
एज्यूकेशन 124
एन.एम.डी.सी. 17
एल्विन, वेरियर 4, 124

ऐकान 126
ऐन 146
औ
औद्योगिक टाउनशिप 31
औद्योगिक पूंजीवाद 4
औद्योगिक सर्वहारा 18
औपचारिक एवं अनौपचारिक पद्धति 161-64
औसत वार्षिक मजदूरी 46

कंट्रेक्ट लेबर 51
कटेकल्याण प्रखंड 13
कनाड़िया कांड 83, 84
कनाड़िया गांव 76-82
  पृष्ठभूमि 79-81
  सामाजिक-आर्थिक संरचना 76
कम मजदूरी 48
कर्जों के कारण 5
कलवार 69
कल्चरल ऐक्शन फॉर फ्रीडम 118
कवर 14
कांग्रेस पार्टी 85, 128
काठ की राजनीति 89-93
कालाहांडी 35-54, 128
  पृष्ठभूमि 36
  सामाजिक-आर्थिक स्थिति 37-38
किंग, मार्टिन लूथर 119
किरंडूल क्षेत्र 14
किसान आंदोलन 84
कुआकोंडा प्रखंड 13
कुताकपट्टम 5
कुलकर्णी, एस.डी. 6
कृषक-श्रमिक साक्षरता अभियान 115
कृषि अर्थव्यवस्था 84
कृषि प्रसार कार्यक्रम 122
केरल के आदिवासी 5-6
कोंटा 12, 13
कोठारी, रजनी 117
क्यूबा 119

खनन उद्योग 14
खाद्य की खपत 19
खामोशी की संस्कृति 116, 125-32
खेतिहर मजदूर कांग्रेस 66
खेतीहर श्रमिक 76, 134
खेती की आदिम पद्धति 20

'गरासिया आदिवासियों की अर्थव्यवस्था' 7
गांधी, महात्मा 55, 87, 116, 120, 134
गाडू 55-62
गायरी जाति 77
गीदम प्रखंड 13
गुजरात के आदिवासी 7-8
गुप्ता, बनारसी देवी 66,70
गेस्सेट, औटेगे वाई. 119
गैर-आदिवासियों के प्रति घृणा 10-11
गैर-आदिवासी परिवेश की संरचनात्मक
  विशेषताएं 156
  आर्थिक 156
  भौगोलिक 156

  राजनीतिक नेतृत्व 156
  शासन तंत्र 156
  सामाजिक एवं सांस्कृतिक 156
गैर-पारंपरिक अपराध 30
गैर-पूंजीवादी कृषि व्यवस्था 22
गोंटिया प्रथा 36, 38-39, 49
गोंड 14, 17, 123
गोपनीय कार्यात्मक प्रणाली 83
ग्रामदान 115
ग्वाला परिवार 73
ग्वेरा, चे 119

घेरेबंद समाज 126

चमार 67, 69, 78, 79
चर्मकार 77
चारन 8
चिली 116
चीन 119

छोटा चाशी 48,51

जगदलपुर तहसील 12, 13, 25
  वैध तथा अवैध भू हस्तांरण 26
जनता पार्टी 65
जनसंचार माध्यम 65
जमशेदपुर 14
जमींदार-मजदूर श्रम संबंध 86
जमीन की बेदखली की समस्या 7
जमीन दखल 9, 10
जमीन हथियाने का कौशल 4, 5-6
जल प्रदूषण 23-24
जातिवाद 21
जाति-श्रेणीकरण 77
जिला परिषद 85
जीता गाडू 56, 57, 58, 59, 60, 85

टैंपेस्ट 3
ट्रैक्टरीकरण 86

ठेका मजदूर,
  असंगठित क्षेत्र के 14
ठेकेदारी प्रथा 14

डनामुनो 119
डोम 67

तंजानिया 116, 119
तनाव से कसे भारत के गांव 83-88
तिवारी कांग्रेस 128
तीयर 69

दंतेवाड़ा तहसील 12, 27, 123, 129
  अपराध 29
  सामाजिक-भौगोलिक स्थिति 13-14
दलित वर्ग 81
दादान श्रमिक प्रथा 51
दुसाध 65, 69
देसाई, मोरारजी भाई 66
द्रुमुक 128

धरती के अभागे 119

नक्सलवादी 65
नवधनाढ्य वर्ग 86-88
नागरिक स्वतंत्रता 65
नारायण, जयप्रकाश 87, 170
नेशनल मिनरल डेवेलपमेंट कारपोरेशन 14
नौकरशाही द्वारा आरोपित व्यवस्था 129

परिवेश निरपेक्षता 170
'पश्चिम भारतीय आदिवासियों के आर्थिक
  जीवन' 8
पाठक, आर.डी. 9

पारंपरिक अपराध 30
पीपुल्स वार ग्रुप 93
पूर्व-मुक्ति जीवन 103
पेडागॉजी आफ दि आप्रेस्ड 118
प्रभाव का स्तर 18
प्राथमिक पाठशाला 78
प्रौढ़ शिक्षा 115, 118

फेनॉन, फ्रेंज 119, 125
फ्राम्स, एरिक 119
फ्रेरे का शिक्षादर्शन 119-21
फ्रेरे, पाओलो 35, 116, 117, 118-19, 122, 124, 126, 127, 131, 132

बंधक श्रमिक 134
बंधक-श्रमिक प्रथा उन्मूलन 115
बंधुआ प्रथा 8, 39, 41, 48, 95, 96
बंधुआ बाल श्रमिक 56
बंधुआ बेगारी 38-39
बंधुआ मजदूर 43, 78, 79, 85
बंधुआ मजदूर मुक्ति अधिनियम, 70, 85, 88
बंधुआ मजदूरी 51
बचेली क्षेत्र 14
बभनगामा गांव 67
बलपूर्वक कहने की संस्कृति 47
बस्तर जिला 25, 123
  औद्योगिक क्षेत्र 12-13
बहिरागत 40
बहिरागतों द्वारा भूमि पर कब्जा 27
बहुजन समाज पार्टी 128
बहुपति प्रथा 9
'बहुपति प्रथा वाले समाज में स्त्री की आर्थिक भूमिका' 9
बहुपत्नी प्रथा 21
बाइसॅन होर्न माड़िया *देखें* मुड़िया
बारसुर गांव 13
बाल बंधुआ श्रमिक 78
बाल विवाह 21
बाल होलिया 46
बीजापुर तहसील 12, 13
बीस सूत्री कार्यक्रम 70, 73, 88
बुनियादी शिक्षा 115
बेगार मजदूर 85
बेगारी प्रथा 37, 38
बेथी प्रथा 38
बेलछी कांड 83, 84
बैंकिंग शिक्षा-प्रणाली,
  भारतीय संदर्भ में 123-25
बैलाडिला लौह अयस्क परिसर 13, 14
बोधघाट जल विद्युत जलाशय 13
ब्राजील 116, 127
ब्राह्मण 65

भंगी 67
भट्ट, जी.एच. 9
भतरा 14
भतस 32
भरता 123
भारतीय अर्थव्यवस्था 4
भारतीय नृतत्व सर्वेक्षण संस्थान 4, 8, 9
भारतीय रिजर्व बैंक का सर्वेक्षण 4-5
भीख 100
भील 139, 143
भूदान 115
भू-लूट और आतंक 102
भूमि विकास बैंक 85
भूमि सुधार 84
भूमि हदबंदी बिल 86
भूमिहार 65, 67
भूमिहीनता 48
भू-संक्रमण 25-28
  दुष्परिणाम 28
भूस्वामी के विरुद्ध सशस्त्र प्रतिरोध 65

मजदूरी की स्थिति 41
मजदूरी में असमानताएं,
  भिन्न भू-सामाजिक स्थितियों में 46-47
मजदूरी में मिले भोजन का नगद मूल्य 43
मध्य प्रदेश भूमि राजस्व अधिनियम (1959) 91
मनु का पालन 68-69
म.प्र. विकास पार्टी 128
मरार 8
मरिया 14
महाराष्ट्र के आदिवासियों का शोषण 6-7
महाराष्ट्र सर्वोदय मंडल 7
माओ 119
माइग्रेंट लेबर *देखें* विस्थापित मजदूर
मार्क्सवादी-लेनिनवादी 65
माथुर, पी.आर.जी. 5
मान, आर.एस. 8
मानसिंह 128
मारकुस 119
मालिक मकबूजा प्रथा 89-93
मीसा 79
मुक्त बंधुआ मजदूर 94
मुखया 14
मुड़िया 10, 17, 18, 30, 32, 123, 139
मुलिया 48, 49, 51
मुशहर 65, 67
मुसलमान 67
मेहता, प्रो. प्रयाग 138
मोउनियर 119
मोची 77
मौद्रिक अर्थव्यवस्था 13
मौन की संस्कृति 47

यूनेस्को 119

रबाड़ी 8
रांची 14
राजपूत 67
राजस्थान के आदिवासी 8
राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम 115
राष्ट्रीय श्रम संस्थान 47, 79, 129, 138
रेचेड ऑफ दि अर्थ 119

लकड़ी के व्यापार का राष्ट्रीयकरण 92
लघु कृषि विकास एजेंसी 85
लड़कियों का शोषण 24
लाल, टी.वी. 78
लोकतंत्र पर हमला 128
लोंखा 14

वंचन की संस्कृति 48
वर्ग विभाजित समाज 71
वर्गहीन समाज 152
वर्ग-व्यवस्था 85
वर्ली 8
वियतनाम 119
विवेचनात्मक चेतना के लिए शिक्षा 118
विस्थापन के कारण 15-16
विस्थापित मजदूर 14, 21, 22
विस्थापित मजदूरों का वर्गीकरण,
  वर्गीय पृष्ठभूमि के अनुसार 15
  सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि के अनुसार 16
वृक्ष अधिनियम 90
वेश्यावृत्ति 79
  कारण 9

शर्मा, डा. ब्रह्मदेव 9
शहरीकरण 19
शिकार अभ्यास 137, 138-47, 149
शिक्षा 115-35
  दलित चेतना के लिए 137-48
  पृष्ठभूमि 115-16
  बैंकिंग अवधारणा 121-23, 131

भारतीय संदर्भ में बैंकिंग शिक्षा-प्रणाली 123-25
मुक्ति की निरंतर प्रक्रिया 118-19
विशिष्टताएं 116-17
संवाद 132-35
शिवसेना 128
शेक्सपीयर 3
शोषण 100
श्रमिकों का वर्गीकरण 47-48
श्रमिकों के निर्णय 53-54
स
संगठित क्षेत्र के मजदूर 14
संपूर्ण क्रांति 87, 170
संवाद-पद्धति 161
समग्र क्रांति 87
समन्वित ग्रामीण विकास योजना 115
समाजवादी पार्टी 128
सरकारी कर्मचारियों द्वारा शोषण 48
सहकारिता आंदोलन 115, 122
सहकारी बैंक 78, 85
सांस्थानिक परिवर्तन 168
सामंती व्यवस्था 85-86
सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक आदर्श 84
सामुदायिक विकास योजना 115, 116, 122
सार्त्र 119
सिविल लिबर्टी 65
सीमांचल पत्री की सीमा 44-46
सुखवासी 35, 36, 48, 128
सूदखोर 78
सूदखोरी 4, 9, 10
सेवकिया 85
सेहरिया 8
स्वतंत्रता के लिए सांस्कृतिक कार्रवाई 118
स्त्रियों का शोषण 9
स्पिलिट, बिशप फ्रेनिक 94
ह
हरिजन 65-75
हरिजन-आदिवासी खेतिहर मजदूर संघ 79
हरिजन खेतिहर श्रमिक 81
हरिजन बनाम आदिवासी गांव 42
हरित क्रांति 115
हरियाणा विकास पार्टी 128
हलबा 10, 18, 32, 123
हवाला कांड 128
हाली 8
हिंदू देवी-देवताओं के प्रति श्रद्धा 19
हिंसा 71-73
होलिया 42, 48, 49
होलिया की वार्षिक मजदूरी 46
होलिया प्रथा 40, 49 51-53